A HISTORY OF VEDIC LITERATURE

वैदिक साहित्य का इतिहास

प्रो. पारसनाथ द्विवेदी
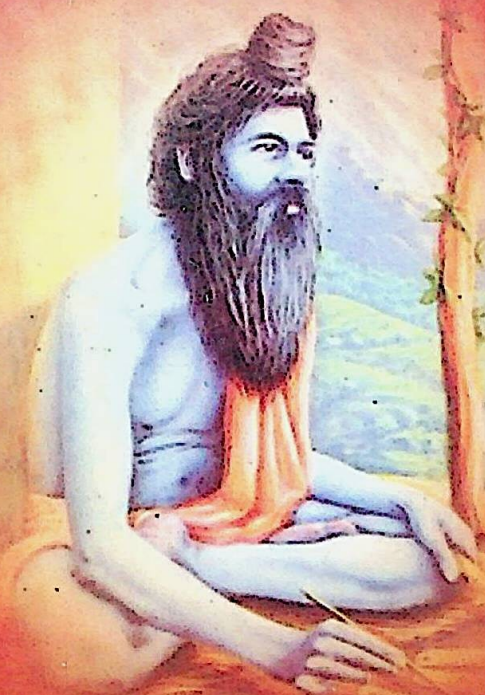
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला

7

वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

व्याकरण-साहित्याचार्य

पूर्व संकायाध्यक्ष-साहित्य संस्कृति संकाय

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

वैदिक साहित्य का इतिहास

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542-2335263; 2335264
email : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

संस्करण 2014 ई०
मूल्य : ₹ 125.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 011-23286537
email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

प्राक्कथन

विश्व-साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेद' है। 'वेद' शब्द से उन समस्त वाङ्मय का ग्रहण होता है जिसके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि सभी का समावेश है। वेदों में भारतीय संस्कृति, सदाचार, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बद्ध सभी विषय उपलब्ध हैं। भारतीयों के जीवन-दर्शन, आचार-विचार, रहन-सहन, नैतिक एवं सामाजिक चरित, व्यवहार तथा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम रूप एवं विकास एवं मानव जाति का इतिहास समझने के लिए वेद अत्यन्त उपादेय हैं। यही कारण है कि विश्व के इतिहास में वेदों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

वेदों का संरक्षण अतीतकाल से मौखिक परम्परा के द्वारा होता रहा है। वेदों का संरक्षित स्वरूप जो आज हमारे सामने है उसके मूल में यह मौखिक परम्परा ही विद्यमान है। पिता से पुत्र में तथा गुरु से शिष्य में इस परम्परा का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। धीरे-धीरे मानव की मेधाशक्ति का ह्रास आरम्भ हुआ और विद्या को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पहले ये ग्रन्थ भोजपत्र, ताड़पत्र, वृक्षों की छाल आदि पर लिपिबद्ध किये गये। बाद में जब लेखन-कला का विकास हुआ तो हस्तलेखों का मुद्रण प्रारम्भ हो गया। मुद्रण-व्यवस्था हो जाने से यद्यपि हम वैदिक ग्रन्थों के निकट हैं फिर भी आज पूरा वैदिक साहित्य उपलब्ध नहीं है और उनके साथ हमारा सामान्य परिचय भी नहीं है। अतः वैदिक साहित्य का पूर्ण परिचय कराने की दृष्टि से वैदिक विद्वानों ने वैदिक साहित्य का इतिहास-लेखन प्रारम्भ किया और अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये।

वैदिक साहित्य पर अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये हैं। फिर प्रस्तुत 'वैदिक साहित्य का इतिहास' लिखने की क्या आवश्यकता है? इस विषय में विनम्र निवेदन है कि आज विभिन्न महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा संस्कृत महाविद्यालयों में पाठ्यक्रम में वेदों के कुछ अंश तथा वैदिक साहित्य का इतिहास अध्ययन के लिए निर्धारित है और आज के अध्येता के लिए ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है जो सरल एवं सुबोध शैली में लिखे गये हों। आज का विद्यार्थी उतना सूक्ष्म अध्ययन-परायण एवं चिन्तनशील नहीं है जितना पहिले था। आज तक जितने इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें कुछ अत्यधिक विस्तृत एवं कठिन हैं; कुछ में व्यावहारिक न्यूनताएँ हैं और कुछ अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त इस बीच अनेक बहुमूल्य गवेषणाएँ भी हुई हैं। इन सभी दृष्टियों को ध्यान में तथा अध्येताओं के अध्ययन-सौकर्य एवं विद्यार्थियों को

आवश्यकताओं को भी दृष्टि में रखकर मैंने 'वैदिक साहित्य का इतिहास' लिखने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय मेरा दृष्टिकोण विषय को वैदिक साहित्य के अध्येताओं के लिए अधिक सुगम और अधिक आकर्षक बनाने की ओर रहा है। जहाँ तक सम्भव हुआ है नवीनतम अनुसन्धानों के फलों का भी समावेश कर दिया गया है। यथाशक्ति प्रतिपाद्य विषय को सरल, सुबोध एवं ललित भाषा में प्रस्तुत किया गया है। वैदिक साहित्य के अध्यापन के समय मैंने विद्यार्थियों की जिन कठिनाइयों एवं आवश्यकताओं का अनुभव किया उन्हें ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक को अधिकाधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन के समय जिन विद्वानों की पुस्तकों से सहायता ली गई है उन सबके प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्त्तव्य है। विशेष रूप से मेक्डानल, विन्टरनिट्ज, वेबर, बलदेव उपाध्याय का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों को मैंने बार-बार देखा और उनका उपयोग किया है जिसका निर्देश सर्वत्र तो संभव न हो सका है फिर भी यथास्थान निर्देश करने का प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन के लिए 'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन' के संचालक बन्धुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने बड़ी लगन एवं उत्साह के साथ इस पुस्तक को प्रकाश में लाने का भार उठाया है।

अन्त में मानव-सुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं के लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों एवं प्रिय छात्रों से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि का अनुभव हो, उसे तुरन्त सूचित कर अनुगृहीत करेंगे जिससे आगामी संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। यदि इस पुस्तक से पाठकों को कुछ लाभ पहुँच सका तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा। पुस्तक को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मुझे मिलेंगे उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा।

शिवरात्रि—
विक्रमीसंवत् २०३९

विनीत—
पारसनाथ द्विवेदी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश

द्वितीय अध्याय : ऋग्वेद

तृतीय अध्याय : परवर्त्ती वेद

परिशिष्ट–१

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

विषय-प्रवेश

१

वैदिक वाङ्मय : एक परिचय

वेद न केवल भारतीय समाज द्वारा समादृत हैं वल्कि विश्व के महान् विद्वानों ने भी उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखा है तथा उनकी महत्ता को स्वीकारा है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। वे सदियों पूर्व से मानव-जीवन के कल्याण के साधन बनकर उन्हें अनुप्राणित करते आये हैं। इनमें ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, सदाचार-संस्कृति, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित सभी विषय उपलब्ध हैं। अतएव विद्वानों ने इसे विश्व-कोष के रूप में मान्य किया है। वेदों के अध्ययन के विना भारतीय संस्कृति एवं भारतीयों के जीवन-दर्शन को समझना बड़ा कठिन है। वेद हमारे श्रेय और प्रेय के साधन है। मनु ने तो उन्हें सब धर्मों का मूल कहा है (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्[1])। वेद से ही समस्त धर्म प्रकट हुए हैं। (वेदाद्धर्मों हि निर्बभौ)। यही कारण है कि पतञ्जलि ने षडङ्ग वेदाध्ययन पर अधिक बल दिया है—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च[2]।

वेदों में अध्यात्म-दर्शन का उत्कृष्ट भाण्डागार भरा पड़ा है किन्तु उनके प्रतिपादन की दिशा अर्वाचीन प्रतिपादन-शैली से सर्वथा भिन्न है। उपनिषदों में इसी का विवेचन किया गया है। मानव का जीवन-दर्शन वेदों में प्रतिपादित है। भारतीयों के 'आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म को समझने के लिए वेदों का अध्ययन परमावश्यक है। इस प्रकार 'विश्व-साहित्य के इतिहास में वेदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेद का अर्थ

वेद शब्द 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ होता है 'ज्ञान'। सिद्धान्तकौमुदी में 'विद्' धातु का पाठ चार अर्थों में किया गया है :—

१. मनुस्मृति २।६
२. महाभाष्य (पतञ्जलि) पस्पशाह्निक १

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात् ।।[१]

उक्त सभी अर्थों के वाचक 'विद्' धातु से वेद शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त चारों अर्थ ही वेद शब्द में समाहित है। सत्तार्थक 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'वेद' शब्द का अर्थ इस प्रकार होगा—'जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो, उसे 'वेद' कहते हैं' (विद्यते सत्तां गृह्णाति वस्तु अनेन इति वेदः)। ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ होगा—'जिससे धर्म और ब्रह्म अथवा क्रियाज्ञानमय ब्रह्म का ज्ञान हो, उसे 'वेद' कहा जाता है' (विदन्त्येभिः धर्मब्रह्मणी क्रिया-ज्ञानमयं ब्रह्म वा इति वेदः)। विचारार्थक 'विद्' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगकर 'वेद' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है—'जिसके द्वारा धर्म एवं ब्रह्म अथवा क्रियाज्ञानमय ब्रह्म का विचार किया जाय, उसे 'वेद' कहते हैं' (विन्ते विचारयति धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमयं ब्रह्म वेति वेदः)। लाभार्थक 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'वेद' शब्द का अर्थ होगा कि 'जिसके द्वारा वस्तु (ब्रह्म) के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति हो उसे 'वेद' कहते हैं' (विन्दते स्वरूपं लभन्ते वस्तु अनेन इति वेदः)। स्वामी दयानन्द ने भी उक्त चारों अर्थों के वाचक 'विद्' धातु से 'वेद' शब्द को निष्पन्न माना है। उनका कहना है कि जिससे सभी मनुष्य सत्विद्या जानते हैं, प्राप्त करते हैं विचार करते है और विद्वान् होते हैं अथवा सत्विद्या की प्राप्ति के लिए जिसमें प्रवृत्त होते हैं, वे 'वेद' कहलाते हैं (विदन्ति-जानन्ति; विद्यन्ते-भवन्ति, विन्ते-विचारयति, विन्दन्ते-लभन्ते सर्वे मनुष्याः सत्विद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति, ते वेदाः)।[२]

इस प्रकार वेद शब्द प्राचीनकाल में 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है किन्तु आपस्तम्ब में इस शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के अतिरिक्त एक और अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण भाग को 'वेद' कहा जाता था (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्)।[३] किन्तु वेद न तो कुरान के समान कोई धर्मग्रन्थ हैं और न 'बाइबिल' एवं 'त्रिपिटक' के समान महापुरुषों के वचनों का संग्रह है। वेद शब्द से वह ईश्वरीय ज्ञान

१. सिद्धान्तकौमुदी, चुरादिगण, पृष्ठ ४२१
२. ऋग्वेदभाष्यभूमिका।
३. आपस्तम्ब परिभाषा, ३१।

अभिप्रेत है जिसके अन्तर्गत वे समस्त वाङ्मय संगृहीत हैं जो शताब्दियों से से नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों में जाकर महर्षियों द्वारा उपलब्ध हुए हैं।

विभाजन

वेदत्रयी—वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का प्रयोग मिलता है। पुरुषसूक्त के निम्न मन्त्र में तीन ही वेदों का नाम मिलता है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥[1]

उक्त मन्त्र में ऋक्, यजुः और साम का नाम आया है जिससे ज्ञात होता है कि वेद तीन है। वैदिक देवताओं की स्तुतिपरक मन्त्र को 'ऋक्' कहते हैं। ये ऋचाएँ पद्यात्मक हैं। जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं का यजन (पूजन) किया जाता उसे 'यजुष्' कहते हैं। ये यजुष् गद्यात्मक हैं। यज्ञों के अवसर पर देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जिन मन्त्रों का गायन होता था अथवा जो मन्त्र विघ्न-निवारणार्थ गाये जाते थे, वे 'साम' कहलाते हैं। ये स्वर एवं ताल-लयात्मक होने के कारण गीत्यात्मक हैं। शतपथब्राह्मण में भी कहा गया है कि अग्नि वायु और सूर्य ने तपस्या करके ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदों को उत्पन्न किया (तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः)।[2] इस प्रकार ऋक् (पद्य), यजुष् (गद्य) और साम (गीति) इन तीन विभागों के कारण ही इनका नाम 'त्रयी' पड़ा। वस्तुतः 'त्रयी' का रहस्य यह है कि वेदों की रचना तीन प्रकार की है—पद्यात्मक, गद्यात्मक और गीत्यात्मक। पद्यात्मक रचना को 'ऋक्' कहते हैं, गद्यात्मक रचना के लिए 'यजुः' शब्द का प्रयोग किया जाता है और गीत्यात्मक रचना को 'साम' कहा जाता है।[3] वेद ही नहीं, बल्कि समस्त वाङ्मय ही तीन प्रकार की रचनाओं में विभाजित है। अतः इसके लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं कि वेद तीन हैं।[4]

वेद-चतुष्टय—वस्तुतः वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। अथर्ववेद में मारण-मोहन-उच्चाटन सम्बन्धी मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है। सम्भवतः ये विषय उस समय समाज द्वारा अनादृत रहे हों अतः इसकी गणना वेद में अन्तर्गत न की गई हो। यजुर्वेद के भाष्यकार

---

१. ऋग्वेद १०।९०।९।
२. शतपथ ब्राह्मण ११।५
३. गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः [जैमिनिसूत्र २।१।३६-३७]
४. निरुक्तम् [भूमिका] पृष्ठ 'ग'।

महीधर का कथन है कि ब्रह्मा से चली आ रही वेद-परम्परा को ग्रहण करके वेदव्यास ने मन्दमति मनुष्यों के लिए वेद को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के रूप में विभाजित कर क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को उपदेश दिया—

तत्रादौ ब्रह्म-परम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्याश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश। (यजुर्वेदभाष्य)

इस प्रकार वेद का चतुष्टय विभाजन किया जाता है। प्राचीनकाल में वेद को त्रयी कहा जाता था, बाद में जब अथर्ववेद को वेद की संज्ञा प्राप्त हो गयी तो वेद चार हो गये और 'वेदचतुष्टय' की प्रसिद्धि हो गई। वेदों के इस प्रकार का पृथक्करण करने के कारण व्यास को वेदव्यास कहा जाता है—

विव्यास वेदान् यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः।[1]

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्राचीनकाल में वेद एक ही था। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य का भी कथन है कि "वेद मूलतः एक ही था, किन्तु उस दुर्गम वेद को सुगम बनाने की दृष्टि से व्यास द्वारा शाखाओं में विभाजित किया गया।" वस्तुतः यज्ञ के विधिवत् सम्पादन के लिए ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। वे ऋत्विज चार होते हैं—(१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता और (४) ब्रह्मा। जो ऋत्विज यज्ञ के अवसर पर स्तुतिपरक मन्त्रों के उच्चारण द्वारा देवताओं का आह्वान करता था, उसे 'होता' कहते थे। होता के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संकलन 'ऋग्वेद' में किया गया हैं। 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज गद्यात्मक यजुषों (मन्त्रों) का उपांशु रूप में उच्चारण करता हुआ यज्ञों का सम्पादन करता था। अध्वर्यु के उपयुक्त मन्त्रों का सङ्कलन 'यजुर्वेद' में किया गया हैं। सामवेद का ऋत्विज 'उद्गाता' है। वह स्वर सहित स्तुतिपरक मन्त्रों का उच्चगति से गान करता था। उद्गाता के लिए उपयुक्त मन्त्रों का सङ्कलन 'सामवेद' में किया गया है। अथर्ववेद का ऋत्विज 'ब्रह्मा' होता है। ब्रह्मा का कार्य हैं यज्ञ का विधिवत् निरीक्षण करना और यज्ञ में होने वाले विघ्नों का निवारण करना। वह यज्ञ के अवसर पर उत्पन्न अन्तरायों से रक्षा करता है, स्वरोच्चारण में हुई त्रुटियों का परिमार्जन करता है एवं अन्य प्रकार के दोषों का निराकरण करता है। ब्रह्मा के लिए आवश्यक

१. महाभारत आदिपर्व ६१।८८।

मन्त्रों का सङ्कलन 'अथर्ववेद' में है। इस प्रकार इन चार ऋत्विजों की आवश्यकतानुसार चार संहिताओं का विभाजन किया गया है।

वेद से तात्पर्य

वस्तुतः वेद शब्द से तात्पर्य वैदिक साहित्य से है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में समस्त वैदिक वाङ्मय का विभाजन दो भागों में किया गया है—मन्त्र और ब्राह्मण'। जिसका मनन किया जाय, उसे 'मन्त्र' कहते हैं। (मननात् मन्त्राः)। मन्त्रों के समूह को 'संहिता' कहते हैं। जिसमें स्तुति, यज्ञपरक, गेय एवं रक्षा–विधायक मन्त्र-तन्त्रों का संकलन होता है ऐसे मन्त्र-समूह को 'संहिता' कहते हैं। वेदव्यास ने चारों ऋत्विजों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनके उपयुक्त मन्त्रों का संकलन 'संहिता' के रूप में किया है। इस प्रकार संहिताओं में सूक्तों, स्तोत्रों, गीतों एवं मन्त्रों का संकलन है। संहिताएं संख्या में चार हैं—

(१) ऋक् संहिता,
(२) यजुः संहिता,
(३) साम संहिता,
(४) अथर्व संहिता।

यज्ञिय विधि की विधान को बतलाने वाले ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मण' है। इसमें सूक्तों के विनियोग कर्मकाण्ड एवं स्तुतियों तथा उपासना के साथ-साथ ब्रह्म पर भी विचार किया गया है। अतः इस प्रकार के ग्रन्थराशि को 'ब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक और (३) उपनिषद्। इनमें कर्मकाण्ड को 'ब्राह्मण', उपासनाकाण्ड को 'आरण्यक' और ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहा जाता है। किन्तु आजकल वेद से केवल संहिता का ग्रहण होता है और ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ये स्वतन्त्र वैदिक साहित्य के अंग बन गये हैं। इस प्रकार समस्त वैदिक वाङ्मय को चार अंगों में विभाजित किया जाने लगा और काल-विभाजन भी इसी आधार पर होने लगा। वेद का विभाजनक्रम निम्न तालिका से स्पष्ट है—

ऋग्वेदसंहिता—ऋग्वेद के दस मण्डलों में स्तुतिपरक मन्त्रों का संकलन है। इसमें कुल १०२८ सूक्त और १०५८१ ऋचाएँ हैं। चौदह छन्दों में समस्त मन्त्रों की रचना हुई है। शौनक के चरणव्यूह के अनुसार ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ हैं कि उनमें केवल शाकलशाखा ही उपलब्ध है। ऋग्वेद दस मण्डलों में २ से ६ तक के मण्डलों में प्रत्येक में एक ही ऋषि एवं उनके वंशजों का वर्णन है। अष्टम मण्डल में कण्व एवं उनके परिवार का वर्णन है। प्रथम, नवम एवं दशम मण्डल में प्रत्येक सूक्त में भिन्न-भिन्न ऋषि एवं उनके वंशजों का वर्णन है, उनमें कुछ ऋषिकाएँ भी हैं।

यजुर्वेदसंहिता—इसी संहिता में याग-विधान से सम्बन्धित कर्मकाण्ड विषयक विविध यजुषों का संग्रह है। इस वेद के दो रूप उपलब्ध हैं—शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। इनमें शुक्लयजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—माध्यन्दिनीय और काण्व। माध्यन्दिनीय शाखा का प्रचार उत्तर भारत में अधिक है और काण्व शाखा का प्रचार दक्षिण भारत में अधिक है। कृष्णजुर्वेद की सम्प्रति चार शाखाएँ हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काण्व और कठ। शुक्लयजुर्वेद पद्यात्मक है जबकि कृष्णयजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है।

सामवेदसंहिता—इस संहिता में उन मन्त्रों का संकलन है जिनका उद्‌गाता यज्ञ के अवसर पर उच्च स्वर से गान किया करता था। सामवेद की सम्प्रति तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं—कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय। इनमें कौथुमशाखा के दो भाग है—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। इन दोनों शाखाओं के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से संगृहीत हैं। केवल पचहत्तर मंत्र अपने हैं।

अथर्ववेदसंहिता—अथर्ववेद में अभिचार एवं उपचार मन्त्रों का संकलन है। मारण-मोहन-उच्चाटन मंत्रों के साथ-साथ मन्त्र-तन्त्र एवं औषधियों के प्रतिपादन मंत्र भी हैं। यह वेद ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों प्रकार के फल को देने वाला है। इसकी रचना यज्ञविधान के लिए न होकर यज्ञों में उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिए हुई है। रचना की दृष्टि से तो यह ऋग्वेद जैसा है किन्तु प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। इसे अभिचार एवं मंत्र-तन्त्र का वेद कहा जाता है। इसकी केवल दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—शौनक और पैप्लाद। इनमें शौनक शाखा ही प्रसिद्ध है। इसमें अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से संगृहीत हैं।

ब्राह्मण—ब्रह्म का अर्थ है 'यज्ञ'। यज्ञ के विधि-विधानों का प्रतिपादन करने के कारण इसे 'ब्राह्मण' कहा जाता है। वेद की व्याख्याओं के साथ-

साथ इसमें अनेक आख्यान एवं सृष्टि-विषयक प्रसङ्ग वर्णित हैं। धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मणग्रंथों का अत्यधिक महत्त्व है। वेद की जितनी शाखाएँ हैं उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी होने चाहिए, किन्तु आजकल ऐसा उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण हैं—

१—ऋग्वेद के ब्राह्मण— १. ऐतरेय ब्राह्मण
२. कौषीतकी ब्राह्मण

२—शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण— १. शतपथ ब्राह्मण

३—कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण— १. तैत्तिरीयब्राह्मण

४—सामवेद के ब्राह्मण— १. ताण्ड्य ब्राह्मण
२. षड्विंश ब्राह्मण
३. सामविधान ब्राह्मण
४. जैमिनीय ब्राह्मण

५—अथर्ववेद का ब्राह्मण— १. गोपथ ब्राह्मण

आरण्यक—आरण्यक ब्राह्मण के ही भाग हैं। एकान्त जनशून्य अरण्य में ऋषियों एवं मुनियों ने ब्रह्मचर्य में रत होकर जिस विद्या का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन क्रिया है वे 'आरण्यक' कहे जाते हैं। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन्हें 'आरण्यक' कहा जाता है। आरण्यक निम्न हैं—

१—ऋग्वेद के आरण्यक— १. ऐतरेयारण्यक
२. शाँखायन या कौषीतकी आरण्यक

२—शुक्लयजुर्वेद का आरण्यक— १. बृहदारण्यक

३—कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक— १. तैत्तिरीयारण्यक

४—सामवेद के आरण्यक— १. छान्दोग्य आरण्यक
२. जैमिनीय आरण्यक

५—अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

उपनिषद्—ब्राह्मण भाग के ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहते हैं। आत्मा को ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान 'उपनिषद्' नाम से अभिहित किया जाता है। अतएव इसका अपर नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इसे 'वेदान्त' भी कहते हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है किन्तु इनमें से निम्नलिखित बारह उपनिषद् ही प्रसिद्ध हैं—

१—ऋग्वेद के उपनिषद्— १. ऐतरेयोपनिषद्
२. कौषीतकी उपनिषद्

२—शुक्लयजुर्वेद के उपनिषद्— १. ईशोपनिषद्
२. बृहदारण्यकोपनिषद्

३—कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद्— १. तैत्तिरीयोपनिषद्
२. कठोपनिषद्
३. श्वेताश्वतरोपनिषद्

४—सामवेद के उपनिषद्— १. छान्दोग्योपनिषद्
२. केनोपनिषद्

५—अथर्ववेद के उपनिषद्— १. मुण्डकोपनिषद्
२. माण्डूक्योपनिषद्
३. प्रश्नोपनिषद्

सूत्र-साहित्य—छोटे शब्दों द्वारा अधिक अर्थ का ज्ञान कराने वाले साहित्य को 'सूत्र-साहित्य' कहा जाता है। वैदिक-साहित्य के सुगमता से अध्ययन-अध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का निर्माण हुआ, वह 'सूत्र-साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वेद के भाग के रूप में इनकी गणना नहीं है किन्तु वेद से अन्तरङ्ग सम्बन्ध होने के कारण वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत इनका परिगणन होने लगा है। इसे वेदाङ्ग भी कहते हैं। वेदाङ्ग संख्या में छः हैं—

१. शिक्षा
२. कल्प
३. व्याकरण
४. निरुक्त
५. छन्द
६. ज्योतिष

शिक्षा—जहाँ स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण प्रकार का उपदेश दिया जाता है उसे 'शिक्षा' कहते हैं। शिक्षाग्रन्थों में प्रमुख प्रातिशाख्य हैं। इनके अतिरिक्त और भी शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं।

कल्पसूत्र—वेद में विहित कार्यों को क्रमशः व्यवस्थित करने वाला शास्त्र 'कल्प' कहलाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित याग-विधान के नियमों को संक्षेप में प्रतिपादन करने की दृष्टि से 'कल्पसूत्रों' का निर्माण किया गया है। कल्पसूत्र के चार भाग हैं—

१. श्रौत सूत्र
२. गृह्य सूत्र
३. धर्म सूत्र
४. शुल्ब सूत्र

श्रौतसूत्रों में श्रौत विधियों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। इसमें बड़े-बड़े यज्ञों के प्रयोग की विधियाँ बताई गई हैं। अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, सोमयाग एवं अग्निचयन की विधियों का विधिवत् विवेचन है। ये भारतीय कर्मकाण्ड की श्रौतविधि समझने के लिए परमावश्यक है।

गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के लिए सम्पाद्य विविध विषयों का विवरण है। इसमें दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनुष्ठानों, यज्ञों और स्मार्त्त संस्कारों का विधिवत् सम्पादन है।

धर्मसूत्रों में आध्यात्मिक एवं मानव-जीवन से सम्बद्ध नियमों का प्रतिपादन है। इसमें दण्डनीति, व्यवहारनीति एवं सामाजिक सन्दर्भों का प्रतिपादन किया गया है। ये भारतीयों के प्राचीनतम विधि-ग्रन्थ (कानून के ग्रन्थ) हैं। इसका सम्बन्ध वैदिक वाङ्मय से है।

शुल्बसूत्रों में वेदि निर्माण की विधियों का सम्यक् प्रतिपादन है। भारतीय गणितशास्त्र (रेखागणित) का अभ्युदय शुल्ब सूत्रों से ही माना जाता है।

व्याकरण—शब्दव्युत्पत्ति शास्त्र को 'व्याकरण' कहते हैं। वेदों में पद-पाठ के लिए व्याकरण-शास्त्र की आवश्यकता को समझकर व्याकरण-शास्त्र की रचना की गई होगी, क्योंकि इसमें पदों के विभाजन एवं व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। व्याकरणशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' है।

निरुक्त—वेदों में आये हुए शब्दों का संकलन 'निघण्टु में किया गया है और निरुक्त में निघण्टु में संकलित शब्दों का निर्वचन प्रतिपादित है। इसलिए इसे निर्वचनशास्त्र भी कहते हैं। निरुक्त केवल शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु संस्कृत गद्य-रचना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

छन्द—छन्दशास्त्र में लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है। वैदिक छन्द मुख्यतः सात हैं। इन्हीं सात छन्दों में वेदों की रचना हुई है। छन्द को वेद का पाद बताया गया है। छन्दः शास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ 'पिङ्गलसूत्र' है।

ज्योतिष—छः वेदाङ्गों में ज्योतिष का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु वेदयुगीन वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना उपलब्ध नहीं हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष का मुख्य विषय उत्तरायण एवं दक्षिणायन सूर्य की स्थिति, चन्द्रमा की गतिविधि तथा नक्षत्र एवं राशियों का विवेचन है। यज्ञ-विधान का शुभ समय जानने के लिए वेदाङ्ग ज्योतिष की महती आवश्यकता है।

इनके अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय से सम्बन्धित अनुक्रमणिका भी हैं। इनमें सूत्रों के प्रतीक, रचयिता, देवता तथा मंत्र संख्या एवं छन्द का उल्लेख

है। अनुक्रमणियों की गणना सूत्र साहित्य के अन्तर्गत ही की जाती है। सूत्र-साहित्य की अन्तिम कृतियाँ अनुक्रमणी और परिशिष्ट हैं। इससे उन-उन वेदों के ऋषि, देवता, छन्द आदि वैदिक संहिताओं की विषयवस्तु का प्रतिपादन है। शौनक ने ऋग्वेद की एक अनुक्रमणी लिखी है और कात्यायन ने ऋग्वेद पर सर्वानुक्रमणी लिखी है। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में समस्त अनुक्रमणियों में प्रतिपादित विषय को एक स्थान पर संक्षेप में संगृहीत किया है। इस प्रकार कात्यायन की सर्वानुक्रमणी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

वेदभाष्यकार

अत्यन्त प्राचीनकाल में मानव का मस्तिष्क जितना उर्वरक एवं विकसित रहा है उतना परवर्त्तीकाल में नहीं रहा है। अतः वेद जैसे गूढ़ विषयों का अर्थावबोध उनके लिए कठिन होता गया। अतः वेदों के अर्थावबोध के लिए उनके व्याख्यानभूत ब्राह्मणग्रंथों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त यास्क ने वेदार्थ-अनुशीलन की दृष्टि से निरुक्त की रचना की। वेदाङ्ग एवं प्रातिशाख्यों की रचना भी वेदार्थ के अनुशीलन की दृष्टि से हुई प्रतीत होती है। कालान्तर में जब वेद-मन्त्रों का अर्थावबोध में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं तो वेदभाष्यों का निर्माण होने लगा। इस प्रकार समस्त संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों पर अनेक भाष्य लिखे गये। वेद भाष्यकर्त्ताओं में स्कन्दस्वामी, आनन्दतीर्थ, वेङ्कटमाधव, सायण, महीधर आदि प्रमुख हैं।

स्कन्दस्वामी—ऋग्वेद के भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी सबसे प्राचीन है। ये गुजरात की राजधानी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था[1]। ये शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। शतपथब्राह्मण भाष्य के आरम्भ में हरिस्वामी ने अपना परिचय देते हुए स्कन्दस्वामी को अपना गुरु बताया है[2]। स्कन्दस्वामी ने ६००-६२५ के मध्य ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था। इन्होंने यास्क के निरुक्त पर भी टीका लिखी है। ऋग्वेद पर स्कन्दस्वामी का भाष्य अत्यन्त विशद है। इसके प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में सूत्र के ऋषि तथा देवता का उल्लेख है। यथास्थान निरुक्तादि का भी उल्लेख है। भाष्य की भाषा सरल एवं सुबोध है। स्कन्दस्वामी का

---

१. वलभीनिवासस्येतामृगर्थागमसंहृतिम्।
　　भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथा स्मृतिः॥
　　　　　　(ऋग्वेदभाष्य, प्रथमाष्टक)

२. श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः
　　　　　　(शतपथ भाष्य ५/६/७)

यह भाष्य केवल चतुर्थ अष्टक तक ही प्राप्त है। वेङ्कटमाधव के भाष्य से ज्ञात होता है कि स्कन्दस्वामी ने केवल चार अष्टकों तक ही ऋग्वेद भाष्य की रचना की थी, शेष भाग की पूर्ति नारायण एवं उद्‌गीथ द्वारा की गयी है। जैसा कि वेंकटमाधव ने ऋग्वेद भाष्य में कहा है –

स्कन्दस्वामी नारायण उद्‌गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥

नारायण एवं उद्‌गीथ—उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि स्कन्द स्वामी, नारायण एवं उद्‌गीथ तीनों ने मिलकर ऋग्वेद भाष्य की रचना की है। उक्त श्लोक में 'क्रमात्' पद का प्रयोग है जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के पूर्वभाग पर स्कन्दस्वामी, मध्यभाग पर नारायण और अन्तिम भाग पर उद्‌गीथ ने भाष्य लिखा है उद्‌गीथ ने अपने भाष्य में प्रत्येक अध्याय के अन्त में अपना परिचय दिया है:–

वनवासीविनिर्गताचार्यस्य उद्‌गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये............
अध्यायः समाप्तः

प्राचीनकाल में कर्णाटक का पश्चिमी भाग वनवासी प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध था। आचार्य उद्‌गीथ सम्भवतः इसी प्रान्त के रहने वाले रहें होंगे। इनका समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

वेङ्कटमाधव—ऋग्वेदभाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में वेङ्कटमाधव ने अपना परिचय दिया है जिसके अनुसार इनके पितामह का नाम माधव, पिता का नाम वेङ्कट, नाना का नाम भवगोल और माता का नाम सुन्दरी था। इनका गोत्र कौशिक और मातृगोत्र वासिष्ठ था। इनका एक छोटा भाई था जिसका नाम संकर्षण था और वेङ्कट तथा गोविन्द नामक दो पुत्र थे। ये दक्षिणापथ के चोलदेश के निवासी थे। इनका समय बारहवीं शताब्दी से बाद का नहीं माना जा सकता। साम्बशिव शास्त्री इनका समय १०५०–११५० ई० के मध्य मानते हैं। इनका भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। इनमें केवल मन्त्रों के पदों की ही व्याख्या है। (वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दैः कतिपयैरिति)। उन्होंने केवल पर्यायवाची शब्दों को देकर ही मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। डा० लक्ष्मणस्वरूपजी ने इसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली के यहाँ से किया है। वेङ्कटमाधव का कहना है कि जिसने केवल व्याकरण एवं निरुक्त का अध्यापन किया है वह संहिता का केवल चतुर्थांश ही जानता है और जिसने ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ का श्रमपूर्वक विवेचन किया है वह वेद के अर्थ का यथार्थ ज्ञाता है—

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः
निरुक्तव्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमाः।
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रुमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि।।

धानुष्कयज्वा—वेदाचार्य ने अपनी 'सुदर्शन मीमांसा' में तीन वेदों के भाष्यकार के रूप में धानुष्कयज्वा का उल्लेख किया है। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इनका समय १३०० विक्रम पूर्व माना जाता है।

आनन्दतीर्थ—आनन्दतीर्थ का ही अपर नाम 'मध्व' है जो द्वैतवादी वैष्णव मध्वाचार्य से अभिन्न थे। इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चालीस सूक्तों पर भाष्य लिखा हैं। इन्होंने वेद का प्रतिपाद्य नारायण को माना है। इनका समय १२५५ से १३३५ के मध्य माना जाता है।

आत्मानन्द—आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इनके भाष्य में स्कन्दस्वामी और भास्कर आदि के नाम तो मिलते हैं किन्तु सायण का नाम नहीं मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि वे सायण के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने मिताक्षरा के रचयिता विज्ञानेश्वर और स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट को उद्धृत किया है। विज्ञानेश्वर का समय १०७०-११०० ई० और देवणभट्ट का समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है अतः आत्मानंद का समय्र चौदहवीं शताब्दी होना चाहिए। इन्होंने स्वयं कहा है कि स्कंदस्वामी आदि का भाष्य यज्ञपरक है, निरुक्त अधिदैवत-परक है किन्तु मेरा यह भाष्य अध्यात्मविषयक है और इस भाष्य का मूल विष्णुधर्मोत्तर है—

"अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।।"

आत्मानन्द ने अपने भाष्य में अनेक अलभ्य ग्रंथों का उल्लेख किया है। ये अद्वैतवादी आचार्य थे और अपने विषय के विद्वान् थे।

सायण—वेदों के भाष्यकर्त्ताओं में आचार्य सायण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सायण के पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती और बड़े भाई नाम का माधव तथा छोटे भाई का नाम भोगनाथ था। उनके गुरु श्रीकण्ठ थे। वे एक मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न मनीषी थे। वे १३६४-१३७८ ई० तक विजयनगर के महाराज बुक्क के महामात्य थे और १३७९-१३८७ तक महाराज हरिहर के मन्त्री रहे हैं। १३८७ ई० में उन्होंने अपना शरीर-त्याग किया था।

सायण ने अनेक विद्वानों की सहायता से चारों वेदों पर प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है। उनके सहयोगी विद्वान् नरहरि सोमयाजी, नारायण वाजपेयी और पण्डरी दीक्षित थे। उन्होंने सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य लिखा। तदनन्तर ऋग्वेद की शाकल संहिता, शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता, सामवेद की कौथुमसंहिता और अथर्ववेद की शौनकसंहिता पर भाष्यों की रचना की। इनके अतिरिक्त इन्होंने सामवेद के आठों ब्राह्मणों (ताण्डयब्राह्मण, षड्वंशब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण, आर्षेयब्राह्मण, देवताध्याय, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण और वंशब्राह्मण) तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक तथा शतपथब्राह्मण पर भी भाष्यों की रचना की है। इस प्रकार सायण ने पांच संहिताओं, ग्यारह ब्राह्मणों और दो आरण्यकों पर भाष्य लिखा है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि सायण ने प्रथम अपनी शाखा से सम्बद्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता पर भाष्य लिखा है। तत्पश्चात् तैत्तिरोय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक पर भाष्य लिखा है—

व्याख्याता सुखबोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।
तद्ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः॥

तैत्तिरीय शाखा के संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक के भाष्य लिखने के पश्चात् सायण ने ऐतरेयब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक-ऋक्संहिता, तथा शुक्लयजुर्वेद एवं सामवेद से सम्बद्ध संहिताओं तथा ब्राह्मणों पर भाष्य लिखा है। अन्त में उन्होंने अथर्वभाष्य लिखा है। किन्तु कुछ विद्वानों की धारणा है कि शतपथ-ब्राह्मण भाष्य सबसे पीछे लिखा गया है। सायण ने अपने वेदभाष्य का नाम 'वेदार्थप्रकाश' रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कई ग्रन्थों के पहले 'माधवीय' शब्द का प्रयोग किया है। सायण की एक रचना 'माधवीया धातुवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः उन्होंने अपने बड़े भाई माधव के सम्मान के लिए 'माधवीया' नामकरण किया है।

अब प्रश्न यह है कि दुरूह मन्त्रिपद का कार्य करते हुए सायण ने इतने विशाल साहित्य पर भाष्य कैसे लिखा होगा? डा० गुणे का कथन है कि 'वेदभाष्य के अष्टकों की भिन्न-भिन्न व्याख्या-शैली द्वारा उन्हें एक व्यक्ति की रचना नहीं मानी जा सकती।' किन्तु वेदों के भिन्न-भिन्न संहिताओं के भाष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ये सभी भाष्य एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही शैली में लिखे गये हैं। इस प्रकार वेदों के अर्थावबोध के लिए सायण-भाष्य अत्यन्त उपादेय है।

सायण ने अपने भाष्य में सर्वत्र प्राचीन परम्परागत अर्थ का आश्रय लिया है। ऋग्वेदीय मन्त्रों का कहीं पर आध्यात्मिक, कहीं पर आधिदैविक और कहीं पर आधिभौतिक अर्थ किया गया है, सायण ने यथास्थान तीनों अर्थों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद में कहीं समाधि भाषा, कहीं परकीय भाषा और कहीं लौकिक भाषा का प्रयोग है, किन्तु सायण ने यथास्थान तीनों भाषाओं का रहस्य बताया है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने सायणभाष्य का ही अध्ययन कर उसी के आधार पर वेदों पर भाष्य लिखा है। इस प्रकार वेदों के दुरूह अर्थों के ज्ञान के लिए सायणभाष्य का अध्ययन अत्यन्त उपादेय है।

रावण—रावणकृत ऋग्वेदभाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध भाष्य है। सायण का भाष्य आधिदैविक (याज्ञिक) है तो रावण भाष्य आध्यात्मिकता से पूर्ण है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सायण भाष्य ही रावण भाष्य है, वर्ण-विपर्यय के कारण सायण का रावण हो गया है। किन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि दैवज्ञ सूर्य पंडित आदि विद्वानों के लेखों से ज्ञात होता है कि रावण ने ऋग्वेद पर भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त रावण ने यजुर्वेद पर भी भाष्य लिखा था। किन्तु आज वह अनुपलब्ध है। रावण ने ऋग्वेद पर पदपाठ भी लिखा है। अब प्रश्न यह है कि ऋग्भाष्यकार रावण और लंकाधिपति रावण क्या एक ही व्यक्ति था? यद्यपि यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है किन्तु वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रावण वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत एक उद्भट विद्वान् था।

माधव—माधव सामवेद के प्रथम भाष्यकार प्रतीत होते हैं। सामवेद के दोनों भाग, पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक पर उन्होंने भाष्य की रचना की है। माधव के पिता नारायण थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये नारायण स्कन्दस्वामी के सहयोगी नारायण से अभिन्न थे और इन्हीं के पुत्र माधव थे, क्योंकि माधव ने स्कन्दस्वामी के भाष्य से पर्याप्त लाभ उठाया है, किन्तु इस मत में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। माधव का समय सप्तम शताब्दी है और उनका भाष्य कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भरतस्वामी–भरतस्वामी ने सामवेद पर एक भाष्य लिखा है जो अप्रकाशित है। इनके पिता का नाम नारायण और माता का नाम यज्ञदा था। ये कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे और इन्होंने सामवेद की समस्त ऋचाओं पर भाष्य लिखा है–

इत्थं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यात् साम्नामृचोऽखिलाः॥

भरतस्वामी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना परिचय दिया है कि "उन्होंने श्रीरङ्गम् के वैष्णवतीर्थ में रहते हुए होसलाधीश्वर रामनाथ के शासनकाल में भाष्य की रचना की थी।

होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरंगे वसता मया॥

वर्नल के अनुसार रामनाथ का शासनकाल १२७२–१३१० ई० के मध्य माना जाता है। अतः भरतस्वामी ने अपने भाष्य का निर्माण तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में किया होगा। भरतस्वामी का भाष्य अत्यंत संक्षिप्त है इन्होंने सामवेद के अतिरिक्त ब्राह्मणों पर भी भाष्य लिखा है।

गुणविष्णु–गुणविष्णु बंगाल या मिथिला के किसी भाग के रहने वाले थे। इन्होंने सामवेद पर 'साममन्त्र व्याख्यान' नामक भाष्य लिखा है। जो प्रायः बंगाल तथा मिथिला में अधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने सामवेद की कौथुमशाखा पर 'छांदोग्य मंत्रभाष्य' लिखा है जो संस्कृत परिषद् कलकत्ता से प्रकाशित है। इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त और तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ और प्रकाशित है—मंत्रब्राह्मण भाष्य और पारस्करगृह्यसूत्र भाष्य॥

भवस्वामी—भवस्वामी ने कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर एक भाष्य लिखा था किंतु यह भाष्य आज उपलब्ध नहीं है।

भट्टभास्कर—भट्टभास्कर ने कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय सहिता पर एक उच्चकोटि का भाष्य लिखा है। जिसका नाम 'ज्ञानयज्ञ' है। ये कौशिक गोत्रीय शैव थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। इनका पूरा नाम भट्टभास्कर मिश्र था।

आनन्दबोध—आनन्दबोध ने शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता पर 'काण्डवेदी मंत्रभाष्यसंग्रह' नामक भाष्य लिखा है किंतु अभी तक यह प्रकाशित न हो सका। इनके पिता का नाम जातवेद भट्टोपाध्याय था।

अनन्ताचार्य–अनंताचार्य काण्वशाखीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नागेशभट्ट(नागदेव) तथा माता का नाम भागीरथी था। इन्होंने काण्वसंहिता २१–४० अध्यायों पर 'भावार्थदीपिका' नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने यजुः प्रातिशाख्य भाष्य, शतपथब्राह्मण भाष्य और भाषिक सूत्रभाष्य भी लिखा है। इनका समय अठारहवीं शताब्दी माना जाता है।

हलायुधः—हलायुध बङ्गाल नरेश लक्ष्मणसेन के दरबार में धर्माधिकारी थे। लक्ष्मणसेन ने ११७०–१२०० के मध्य शासन किया था अतः हलायुध का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। हलायुध ने काण्वसंहिता पर 'ब्राह्मण-

सर्वस्व, नामक भाष्य लिखा है इसके अतिरिक्त मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व शैवसर्वस्व, और पण्डितसर्वस्व आदि ग्रन्थ भी हलायुध प्रणीत माने जाते हैं किंतु ये अप्रकाशित और अनुपलब्ध हैं।

उव्वट—उव्वट आनंदपुर के रहने वाले वज्रट के पुत्र थे। इन्होंने अवन्ती में रहकर राजा भोज के शासन काल में भाष्य का प्रणयन किया था—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उव्वटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥
ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुव्वटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति॥

उव्वट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। इन्होंने शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर एक भाष्य लिखा है जिसका नाम 'उव्वट भाष्य' है। इसके दो पाठ हैं—काशीपाठ और महाराष्ट्रपाठ। उनका भाष्य अत्यन्त प्राभाणिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य की टीका, यजुःप्रातिशाख्य की टीका, ऋक्सर्वनुक्रमणी पर भाष्य और ईशावास्योपनिषद् पर भाष्य लिखा है।

महीधर—शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के द्वितीय भाष्यकार महीधर है। महीधर काशी के रहने वाले थे और इनका समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इन्होंने उव्वट भाष्य के आधार पर माध्यन्दिन संहिता पर एक भाष्य लिखा है जिसका नाम वेददीप है। ये भाष्यकार होने के साथ तान्त्रिक भी थे। इनका तंत्रविषयक ग्रन्थ 'तन्त्र-महोदधि' है जिसे १५८८ ई० में लिखकर पूर्ण किया था।

वेद और पाश्चात्य विद्वान्

चार्ल्स विल्किन्स—चार्ल्स विल्किन्स पहला अंग्रेज था जिसने वारेन् हेस्टिंग्ज की प्रेरणा से बनारस में रहकर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। उसने १७८५ ई० में भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। संस्कृत भाषा की यह प्रथम पुस्तक थी। जिसका सीधे संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद १७८७ ई० में उसने हितोपदेश का तथा १७९५ ई० में महाभारत के शाकुन्तलोपाख्यान का अनुवाद कर प्रकाशित किया उसका 'संस्कृतव्याकरण' १८०८ में प्रकाशित हुआ। यह पहला यूरोपीय विद्वान् था जिसने भारतीय शिलालेखों का अध्ययन कर उनमें कुछ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था।

सर विलियम जोन्स—(१७४६–१७९४)–विलियम जोन्स बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महान् विद्वान प्राच्यविद्याविशारद एवं उत्साही आंग्ल भारतीय कवि था। वह १७८३ ई० में भारत आया और फोर्ट विलियम में मुख्य न्यायाधीश के पद पर आरूढ़ हुआ। भारत आने पर उसकी रुचि संस्कृत एवं भारतीय साहित्य के अध्ययन की ओर बढ़ी। एक वर्ष बाद १७८४ में उसने कलकत्ते में 'एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' की संस्थापना की। संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसने १७८९ में संस्कृत के महाकवि कालिदास के प्रमुख नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया। जिसकी प्रशंसा हर्डर तथा जर्मन कवि गेटे जैसे विद्वानों तक ने की है। तत्पश्चात् १७९२ में 'ऋतुसंहार' का मुद्रण कराया। विलियम जोंस ही प्रथम यूरोपीय विद्वान् था जिसने संस्कृत के ग्रंथों के प्रथम सम्पादन एवं प्रकाशन का श्रेय प्राप्त किया।

हेनरी टॉमस कॉलब्रुक (१७६३–१८३७ ई०)–कॉलब्रुक १७ वर्ष की अवस्था में ही भारत आया था। उसने संस्कृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन कर संस्कृत के अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया और उन पर निबन्ध लिखे हैं। सर्वप्रथम उन्होंने कानून के क्षेत्र मे ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त धर्म, दर्शन, व्याकरण, विज्ञान एवं गणित पर अनेक निवन्ध लिखे हैं। १८०५ ई० में उन्होंने 'एशियाटिक रिसर्चेज़' नामक पत्र में वेद-विषय पर विवेचनात्मक निबन्ध लिखा। उसने भारतीय पाण्डुलिपियों का एक संग्रह किया और उस संग्रह को ईस्ट इण्डिया आफिस लंदन के पुस्तकालय को भेंट कर दिया।

फ्रेडरिक श्लेगल—फ्रेडरिक श्लेगल ने एलक्जेण्डर हेमिल्टन से संस्कृत विद्या का अध्ययन कर १८०८ ई० में 'भारतीयों की भाषा एवं विज्ञान' पर अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया। इन्होंने तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का श्रीगणेश कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त उसने संस्कृत के अनेक मूल ग्रंथों का अनुवाद किया।

फ्रैन्ज वाप—फ्रैन्ज वाप का जन्म १८७१ ई० में हुआ था। प्राच्य भाषाओं के अध्ययन के लिए १८१२ ई० में वह फ्रांस गया और वहाँ प्रो० केज़ी से संस्कृत का अध्ययन किया। वाप ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फारसी भाषाओं के साथ तुलना करते हुए संस्कृत व्याकरण की शब्द रूप पद्धति पर १८१६ ई० में एक ग्रंथ लिखा। उसने रामायण एवं महाभारत के कई उपाख्यानों का जर्मन में अनुवाद किया। उसका 'संस्कृत व्याकरण' एवं 'संस्कृत शब्दकोश' ने जर्मन में संस्कृत के अध्ययन के लिए विशेष योगदान किया है। इसके अतिरिक्त वेद के कुछ ग्रंथों का पद्यानुवाद भी किया है।

ऑगस्ट विल्हेम फॉन श्लेगल—यह फ्रेडरिक श्लेगल का भाई था। अपने भाई के समान ही इसने भी पेरिस में संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसने फ्रांसीसी विद्वान् केजी से शिक्षा ग्रहण की थी और 'कालेज द फ्रांस' के पद को सुशोभित किया। ये जर्मनी में वान विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर थे। इसने संस्कृत के मूल ग्रंथों का अनुवाद तथा भाषा विज्ञान के ग्रंथों का प्रकाशन किया था और १८२३ में भारतीय ग्रंथागार त्रैमासिक पत्र का प्रथम भाग प्रकाशित किया। उसने रामायण का भी एक अपूर्ण किन्तु महत्त्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित किया है। इनके अतिरिक्त १८१९ में 'भारतीय भाषा विज्ञान की वर्तमान स्थिति' नामक निबन्ध प्रकाशित हुआ जिसमें लगभग एक दर्जन प्रकाशित ग्रन्थों की सूची है।

लैसन—लैसन ऑगस्ट विल्हेम फॉन श्लेगल का शिष्य था। उसने 'भारतीय पुरातत्व' नामक ग्रन्थ लिखा है जो चार खण्डों में १८४३-१८६२ के मध्य प्रकाशित हुआ है।

फ्रेडरिक रीजेन—फ्रेडरिक रोजेन एक जर्मन विद्वान् था। कॉलब्रुक के लगभग पचीस वर्ष बाद उसने १८३८ ई० में ऋग्वेद का सम्पादन प्रारम्भ किया, किन्तु उसके असामयिक निधन हो जाने के कारण वह कार्य पूरा न हो सका और ऋग्वेद का केवल प्रथम,अष्टक ही प्रकाशित हो सका।

यूज़ीन वर्नफ—वर्नफ पेरिस के कालिज द फ्रान्स में संस्कृत का प्राध्यापक था। उसने ही यूरोप में वेदाध्ययन की आधारशिला, रखी। डा० वर्नफ ऋग्वेद पर व्याख्यान दिया करता था और उनकी कक्षा में उच्च-कोटि के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। उसके दो प्रमुख शिष्य थे—रुडल्फ राय और मैक्समूलर। मैक्समूलर ने वर्नफ़ की आज्ञा से ही ऋग्वेद का सायणभाष्य सहित प्रकाशन किया। वर्नफ़ ने १८२६ ई० में लैसन के साथ 'पालि पर निबन्ध' तथा 'भारतीय बौद्ध-धर्म के इतिहास का परिचय' इन दो ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

रुडल्फ राथ (१८३१–१८९५)—रुडल्फ राथ प्रो० वर्नफ़ का सुयोग्य शिष्य था। उसने १८४६ ई० में 'वैदिक साहित्य एवं इतिहास' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन कर जर्मनी में वेदों के अध्ययन का प्रवर्त्तन किया। उसने 'संस्कृत महाकोष' की रचना की है जिसमें विकासक्रम के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है और वेद से लेकर लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों के उद्धरण अर्थनिर्णय के किए उद्धृत किये गये हैं। इस कोष का प्रका-शन १८५२-१८७५ ई० के मध्य सात खण्डों में हुआ है। हय कोष संस्कृत

साहित्य में अद्वितीय है। राथ ने वेदों के अर्थावबोध के लिए भाषावैज्ञानिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया है।

मैक्समूलर—बर्नफ़ का द्वितीय महान् शिष्य मैक्समूलर था। इनका जन्म जर्मन के डेशों नामक स्थान में ६ दिसम्बर १८२३ को हुआ था। १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'डाक्टर आफ़ फिलासफ़ी' की उपाधि प्राप्त की थी। इन्होंने १८४४ ई० में हितोपदेश का जर्मनभाषा में अनुवाद किया था। अपने गुरु प्रो० वर्नफ़ की प्रेरणा से उन्होंने सायणभाष्य के साथ ऋग्वेद के प्रकाशन की एक योजना बनायी। सन् १८४९-१८७५ ई० तक इसका प्रकाशन कार्य पूरा हुआ। इस संस्करण में तीन हज़ार पृष्ठों में मूल ग्रन्थ और कई सौ पृष्ठों में भूमिका एवं टिप्पणी दी हुई है। १८९०-९२ ई० में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' तथा 'भारत से हम क्या सीखें?' नामक ग्रन्थों का प्रणयन कर वैदिक साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'पवित्र प्राच्यग्रन्थमाला' के अन्तर्गत स्वयं तथा अन्य पश्चिमी विद्वानों द्वारा वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित कराया। मैक्समूलर १८५०-५१ ई० तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त हुए थे जो वाद में सहायक प्रोफ़ेसर बना दिये गये। इन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक पौराणिक गाथा, व्याकरण दर्शन, संस्कृत व्याकरण आदि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है।

आफ्रेक्ट—आफ्रेक्ट ने १८६१-६३ ई० में रोमन लिपि में सम्पूर्ण ऋग्वेद का एक वैज्ञानिक संस्करण सम्पादित किया है। इसके अतिरिक्त इसने नीति कालेज कैम्ब्रिज में संगृहीत संस्कृत ग्रन्थों की सूची को १८६९ में प्रकाशित किया। उसने ऐतरेय ब्राह्मण का रोमन लिपि में एक विशुद्ध संस्करण भी निकाला है।

वेबर—डा० वेबर (१८२५-१९०१) सूक्ष्मदर्शी एवं प्रतिभासम्पन्न जर्मन विद्वान् थे। इन्होंने 'यजुर्वेदसंहिता' एवं 'तैत्तिरीयसंहिता' का सम्पादन किया है और 'इनदिशे स्तूदियन' नामक शोधपत्रिका जर्मन भाषा में प्रकाशित कर वैदिक अनुसंधान को गति प्रदान किया है। इन्होंने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में वैदिक वाङ्मय का विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० वेबर ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत पुस्तकों की एक सूची तैयार की थी। उन्होंने १८५५ ई० में शतपथब्राह्मण का, १९५८ ई० में अद्भुतब्राह्मण तथा वंशब्राह्मण का बर्लिन में सम्पादन किया था।

बूलर—डा० बूलर (१८३७-१८९८ ई०) प्रो० मैक्समूलर की प्रेरणा से भारत आकर बम्बई से 'बम्बई संस्कृत सीरीज' नामक ग्रथमाला का प्रकाशन

किया। १८६६ ई० में बम्बई, मद्रास और बङ्गाल में शोधसंस्थान स्थापित हुए जिनमें बूलर को बम्बई शाखा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। डा० बूलर ने १८७५ ई० में संस्कृत ग्रंथों की खोज के सम्बंध में एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी।

एच० एच० विल्सन—डा० विल्सन ने १८५० ई० में सायणभाष्य के साथ सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया है।

आर० टी० एच० ग्रिफिथ—ग्रिफिथ महोदय ने १८८९-१८९२ के मध्य सायणभाष्य का उपयोग करते हुए ऋग्वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता तथा सामवेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है।

एच० ओल्डनवर्ग—जर्मन विद्वान् ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद की दो भागों में विवेचनापूर्ण व्याख्या सिखी है जो बर्लिन में १९०९—१९१२ ई० में प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने प्रत्येक सूक्त में पूर्वव्याख्या का निर्देश करते हुए विशद विवेचना की है। उन्होंने ऋग्वेद के छन्द आदि के विषय में भी कार्य किया है।

डा० कीलहार्न—डा० कीलहार्न जर्मन निवासी थे। ये पूना में डक्कन कालेज में अध्यापक रहे हैं। इन्होंने अथक परिश्रम कर 'पातञ्जल महाभाष्य' का सम्पादन किया और 'परिभाषेन्दुशेखर' का कई खंडों में अंग्रेंजी में अनुवाद किया है। तत्पश्चात् उन्होंने चोल एवं पाण्ड्य देशों का इतिहास लिखा है।

मैक्डानल—मैक्डानल का जन्म ११ मई, १८५४ ई० में मुजफ्फरपुर (तिरहुत) में हुआ था। इनकी शिक्षा योरप में हुई है। ये आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त थे। इन्होंने वैदिक व्याकरण, वैदिक मैथोलॉजी और संस्कृत साहित्य का इतिहास आदि ग्रंथों का प्रणयन किया है। इनका तथा कीथ का एक ग्रंथ 'वैदिक इंडेक्स' है जिसमें ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषयों का विवेचन है। मैक्डानल का 'वैदिक व्याकरण' एक प्रामाणिक ग्रंथ है। इसका एक लघुसंस्करण १९२० में 'वैदिक ग्रामर फार स्टूडेन्स्' नाम से प्रकाशित है। मैक्डानल ने १८८७ ई में भाषाशास्त्रीय टिप्पणी के साथ 'वैदिक रीडर' नामक एक सूक्त संग्रह प्रकाशित किया है।

ग्रासमन—ग्रासमन जर्मन के संस्कृत एवं भाषाविज्ञान के विद्वान् थे। इन्होंने १८६७-१८७७ ई० में सायणभाष्य की उपेक्षा कर स्वतंत्र रीति से ऋग्वेद का दो भागों में जर्मन में पद्यानुवाद किया हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने १८७३-१८७५ में 'वैदिककोश' लिखा है जो ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ऋग्वेदीय स्थलों का निर्देश करते हुए शब्दों का अर्थ लिखा गया है।

लुडविग—लुडविग जर्मन के विद्वान् थे। इन्होंने १८७६-८८ ई० में ऋग्वेद का छः खण्डों में जर्मनभाषा में गद्यानुवाद किया है।

डा० ब्लूम फील्ड—मारिस ब्लूमफिल्ड ने वैदिक वाक्यकोश (Vedic Concordenc) नामक विशाल ग्रन्थ को १९०६ ई० में प्रकाशित कराया है जिसमें वैदिक वाङ्मय में आये हुए शब्दों, वाक्यों एवं उद्धरणों की वर्णानुक्रम से सूची प्रस्तुत की गयी है। इसमें विभिन्न पाठभेदों का भी संग्रह किया गया है। ब्लूमफील्ड का एक अन्य ग्रन्थ 'ऋग्वेद–आवृत्तिकोष' (Rigvedic Repatitions) १९१६ में प्रकाशित हुआ है जिसमें ऋग्वेद के मन्त्रों एवं पादों की पुनरावृत्ति का परिचय दिया गया है।

ए० बी० कीथ—डा० कीथ का जन्म ब्रिटेन में १८७९ ई० में हुआ था। इन्होंने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी थी। ये एडिनवर्ग विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान एवं संस्कृत के प्राध्यापक रहे हैं। विशेष योग्यता के कारण ही विधान एवं इतिहास का विषय भी इन्हें सौंपा गया। इन्होंने ह्वार्वर्ड ओरियन्टल संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत, तैत्तिरीयसंहिता का अनुवाद प्रकाशित किया है। जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातों की मीमांसा की गयी है। इसके अतिरिक्त कीथ ने ऋग्वेद के तीनों ब्राह्मणों का अनुवाद प्रकाशित किया है। जिसमें लगभग सौ पृष्ठों की उपयोगी भूमिका है। इनका 'वैदिक इण्डेक्स' वेद विषय से सम्बद्ध एक लघु विश्वकोष है। इन्होंने धर्म और दर्शन पर 'रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ द वेदाज एण्ड उपनिषद्स' नामक ग्रन्थ दो खण्डों में लिखा है।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का अन्तर

प्राचीन भारतीय भाषा का विकास दो रूपों में देखा जाता है—(१) प्राचीनतम रूप—वैदिक-संस्कृत, (२) अर्वाचीन रूप—लौकिक-संस्कृत। विण्टरनिट्ज वैदिक संस्कृत को 'प्राचीन भारतीय भाषा' अभिधान देते हैं। इसके अन्तर्गत संहिताएँ, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का समावेश है। संहिताओं में पहले पद्य का प्राधान्य था किन्तु ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में गद्य का पर्याप्त विकास हुआ है। लौकिक संस्कृत में प्रथम पद्य का प्रावल्य रहा है और गद्य का प्रयोग केवल व्याकरण एवं दर्शन तक ही सीमित रहा है। सूत्रों की भाषा वैदिक एवं लौकिक दोनों के मध्य की है। सूत्रों की भाषा शुद्ध संस्कृत है किन्तु उनमें कही-कहीं वैदिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को व्यवस्थित एवं परिमार्जित स्वरूप प्रदान किया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में वैदिक एवं लौकिक संस्कृत शब्दों की व्याख्या की गयी है। अष्टाध्यायी भाषाशास्त्र के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। कुछ विद्वानों की यह धारणा रही है कि पाणिनि ने

भाषा को व्याकरण के निगडों में जकड़कर उसे अपाहिज या मृतभाषा बना दिया है किन्तु संस्कृत को मृतभाषा कभी भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः व्याकरण के द्वारा नियन्त्रित साहित्यिक भाषा को ही संस्कृत कहा जाता है और प्राचीन भारतीय भाषा को वैदिक संस्कृत कहते हैं। बूलर का मत है कि "संस्कृत उत्तर भारत की एक परिवर्तित एवं परिष्कृत भाषा है जिसका निर्माण वैयाकरणों ने किया है और इसे धीरे-धीरे शिक्षितवर्ग ने अपना लिया।"

इस प्रकार वैदिक संस्कृत ही विकसित एवं परिष्कृत होकर लौकिक संस्कृत का रूप धारण कर लिया है, तथापि दोनों में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

भाषा एवं विषयवस्तु के आधार पर जब अन्तरों को देखते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक-साहित्य पाणिनि व्याकरण की रचना के पूर्व का निर्मित है और लौकिक साहित्य पाणिनि के बाद की रचना है क्योंकि वैदिक साहित्य में लौकिक साहित्य की अपेक्षा नवीन शब्दों का अभाव है जबकि लौकिक साहित्य में नवीन शब्दों का आधिक्य पाया जाता है। जैसा कि वैदिक साहित्य में लेट् लकार का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है किन्तु लौकिक साहित्य में उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। और वैदिक साहित्य में अलङ्कारों का प्रयोग बहुत कम मिलता है जबकि लौकिक साहित्य में अलङ्कारों का बाहुल्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वैदिक भाषा में केवल मात्रिक छन्द ही प्रयुक्त है जबकि लौकिक भाषा में पर्याप्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। दोनों के रूपनिर्माण की प्रक्रिया में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

१— वैदिक संस्कृत में प्रथमा बहुवचन में 'अस्' और 'असस्' दो प्रत्यय जोड़कर रूप बनते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'अस्' प्रत्यय लगता है। जैसे—

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
देवाः, देवासः	देवाः
ब्राह्मणाः, ब्राह्मणासः	ब्राह्मणाः

२—वैदिक संस्कृत में प्रथमा एवं द्वितीया द्विवचन में 'आ' एवं 'औ' दो प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'औ' प्रत्यय लगता है। जैसे—

अग्ना, अग्नौ	अग्नौ
सयुजा, सयुजौ	सयुजौ

३—वैदिक संस्कृत में तृतीया एकवचन में ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का 'ई' प्रत्यय लगाकर रूप बनता है जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'आ' लगता है—

सुष्टुती	सुष्टुत्या

४—वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन में 'एभिः' तथा 'ऐः' प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'ऐः' लगता है—

देवैः, देवेभिः	देवैः
पूर्वैः, पूर्वेभिः	पूर्वैः

५—वैदिक संस्कृत में हलन्त वैदिक शब्दों के सप्तमी एकवचन में कहीं-कहीं विभक्ति का लोप हो जाता है जवकि लौकिक संस्कृत में लोप नहीं होता है—

व्योमन्	व्योम्नि, व्योमनि

६—वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का नपुंसकलिङ्ग में 'आ' एवं 'आनि' दोनों प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं जवकि लौकिक संस्कृत में केवल 'आनि' प्रत्यय लगता है—

अद्भुता, अद्भुतानि	अद्भुतानि
विश्वा, विश्वानि	विश्वानि

७—इसी प्रकार क्रियापद के रूपों में अन्तर पाया जाता है जैसे वैदिक संस्कृत में वर्तमान काल के उत्तमपुरुष में 'मसि' एवं 'मः' दो प्रत्यय लगते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'मः' प्रत्यय लगता है ।

वैंदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
मिनीमसि, मिनीमः	मिनीमः
स्मसि, स्मः	स्मः

८—वैदिक संस्कृत में 'आज्ञा' एवं 'सम्भावना' अर्थ में 'लोट्' लकार का प्रयोग होता है जबकि लौकिक संस्कृत में लोट् लकार का प्रयोग होता ही नहीं है जैसे—वैदिक संस्कृत में—जोषिषत्, तारिषत्, पताति, भवाति ।

९—वैदिक संस्कृत में लोट् लकार में मध्यम पुरुष में त, तन, थन, तात् प्रत्यय लगते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में इनका अभाव है—

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
यात, यातन	याहि
शृणोत, शृणोतन	शृणुत
यतिष्ठन्	यतध्वम्
कृणुणात्	कृणुत

१०—वैदिक संस्कृत में 'के लिए' अर्थ में से, असे, कसे, अध्यै, शध्यै, तवै, तवेन् प्रत्यय लगते हैं जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'तुम्' प्रत्यय लगता है।

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
जीवसे	जीवितुम्
पिबध्यै	पातुम्
कर्त्तवे	कर्त्तुम्
दातवै	दातुम्
गमध्यै	गन्तुम्

११—इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग वैदिक संस्कृत में होता था किन्तु लौकिक संस्कृत में उनका प्रयोग नहीं मिलता है।

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
दर्शत	(दर्शनीय)
दृशीक	(दर्शनीय)
अमूर	बुद्धिमान्
क्रूर	मूर्ख
अक्तु	रात्रि
अमीवा	रोग
रपस्	चोट

१२—वैदिक संस्कृत में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं कि जिनका अर्थ कुछ दूसरा होता है और लौकिक संस्कृत में कुछ दूसरा अर्थ होता है, जैसे—

वैदिक संस्कृत		लौकिक संस्कृत
अराति	शत्रुता	शत्रु
मृडीक	कृपा, अनुग्रह	शंकर का नाम
न	इव, समान	नहीं
अरि	ईश्वर	शत्रु
क्षिति	गृह, मनुष्य	पृथ्वी

१३—इनके अतिरिक्त वेदों में कुछ अन्तस्तत्त्व पाये जाते हैं। जैसे, वेदों में क्षीणरूप में पाया जाने वाला पुनर्जन्मवाद लौकिक साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है।

१४—वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त इन्द्र, वरुण, मरुत आदि देवता लौकिक संस्कृत में गौण हो गये हैं और उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश

प्रधान देव हो गये हैं। इनके अतिरिक्त कुबेर, लक्ष्मी, सरस्वती आदि कुछ नये देवता मान्य हो गये हैं।

१५—वैदिक संस्कृत में कल्पना एवं भावना का विशुद्ध रूप मिलता है, लौकिक संस्कृत में कलाओं एवं प्रतिमाओं का समन्वित रूप मिलता है वैदिक-साहित्य प्रकृति का जीवन चित्र प्रस्तुत करता है जबकि लौकिक साहित्य नागरिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है।

संस्कृत और प्राकृत

विद्वानों का कथन है कि संस्कृत भारत की प्राचीनतम भाषा है। कुछ विद्वान् संस्कृत को प्राकृत भाषा की जननी मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृत एक साधारण बोलचाल की ग्रामीण भाषा है और संस्कृत शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक भाषा है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् प्राकृत को ही संस्कृत की जननी मानते हैं किंतु दोनों में कौन सा पक्ष श्रेष्ठ है यह निर्णय करना बहुत कठिन है, तथापि कुछ तथ्य नीचे दिये जाते हैं।

जार्ज ग्रियर्सन ने प्राकृत को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम प्राकृत वह है जिससे वैदिक भाषा का विकास हुआ है और जिसकी प्रतिनिधि भाषा आधुनिक संस्कृत है। द्वितीय प्राकृत पालि के रूप में बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत विद्यमान है जिसका स्वरूप प्राकृत के नाटकों एवं व्याकरणों में मिलता है। तीसरी प्राकृत अपभ्रंश के रूप में विद्यमान है जिससे हिन्दी का विकास हुआ है किन्तु जार्ज ग्रियर्सन का यह मत प्राकृत के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत नहीं करता है।

कुछ विद्वान् "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्; ततश्च वैयाकरणैः साधितं संस्कृतम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वभाव से सिद्ध भाषा को प्राकृत और वैयाकरणों द्वारा शुद्ध की हुई भाषा को संस्कृत कहते हैं अतः संस्कृत प्राकृत की जननी नहीं, बल्कि प्राकृत से ही संस्कृत भाषा की उत्पत्ति है।

किन्तु विद्वानों द्वारा यह मत मान्य न हो सका; क्योंकि उनका कहना है कि कौन और कैसा स्वभाव ? जिससे प्राकृत बना, यदि जनसमूह को प्राकृत माना जाय तो 'दैवीवाक्व्यवकीर्णेयम्' इस कथन से विरोध होगा और यदि परमेवर को स्वभाव माना जाय तो 'विरूपता' नहीं होगी; क्योंकि अग्नि कभी शीतल नहीं होती और सभी को परमेश्वरकृत मानने में गौरव भी बढ़ेगा।

कुछ विद्वान् प्राकृत को वेदमूलक मानते हैं क्योंकि लिङ्ग, वचन और विभक्ति में दोनों में साम्य देखा जाता है, जैसे--अम्हे--अस्मे। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यदि इसे वेदमूलक एवं संस्कृत से प्राचीन भाषा मानते हैं तो पाणिनीय व्याकरण की अपूर्णता होगी; क्योंकि पाणिनीय व्याकरण में प्राकृत शब्दों का विवेचन नहीं है और पाणिनि ने वैदिक शब्दों की व्याकृति तो दिखायी है किन्तु प्राकृत शब्दों की नहीं। इसके अतिरिक्त लिङ्ग, वचन और विभक्ति के साम्य में भी कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता; क्योंकि फ़ादर (Father), डाटर (Daughter) आदि शब्दों का पितृ, दुहितृ आदि से साम्य होने पर भी पितृ, दुहितृ आदि को प्रकृति नहीं मानते।

इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वारा निष्पन्न अर्थ ही युक्तिसंगत जान पड़ता है क्योंकि इस मत के समर्थन में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

(क) हेमचन्द्रः— प्रकृतिः—संस्कृतम्, तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।

(ख) गीतगोविन्दे—संस्कृतात्प्राकृतं श्रेष्ठम्, ततोऽपभ्रंशभाषणम्।

(ग) शाकुन्तले—संस्कृतात्प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंशभाषणम्॥

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि संस्कृत से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई है और प्राकृत से अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति हुई। अतः संस्कृत प्राकृत की जननी है और प्राकृत अपभ्रंश की।

प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम ज्ञान हमें अशोक के शिलालेखों से होता है। उस समय प्राकृत की तीन बोलियों का अस्तित्व था—

(क) पूर्वी प्राकृत—यह अशोक के राज्य में व्यवहृत होती थी। इसमें 'ऋ' के स्थान पर इ या उ बोला जाता था। जैसे—'कृत' के स्थान पर 'कित'।

(ख) उत्तरी पश्चिमी प्राकृत—इसमें प्राचीन रूप विद्यमान है। इसमें 'ऋ' के स्थान पर 'र' का प्रयोग होता था, जैसे—'मृग' के स्थान पर 'मिरग'।

(ग) पश्चिमी प्राकृत—इसमें 'ऋ' के स्थान पर 'अ' का प्रयोग मिलता है। जैसे—'मृग' के स्थान पर 'मगो'।

इन बोलियों की विशेष जानकारी अश्वघोष के काव्यों से होती है। अश्वघोष के नाटकों में अर्धमागधी, प्राचीन मागधी, प्राचीन शौरसेनी आदि प्राकृतों का उल्लेख मिलता है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गयी है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सभी नाटक पहले प्राकृत में थे। जब जनता संस्कृत भाषा को समझने लगी तब नाटकों में संस्कृत का प्रयोग होने लगा है। किन्तु डा० कीथ इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि नाटक प्रबन्ध-काव्यों के कथानक लेकर लिखे गये हैं। जब महाकाव्य संस्कृत में था तो नाटक प्राकृत में क्यों लिखे जायेंगे ? इसके अतिरिक्त भास का एक नाटक संस्कृत में है।

जार्ज ग्रियर्सन का कथन है कि कुछ विद्वान् रामायण और महाभारत को भी पहले प्राकृत में लिखा हुआ मानते हैं किन्तु इन ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि ये किसी अन्य भाषा के रूपान्तर नहीं हैं।

ऐतिहासिक आधार—पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि वे महाभारत से परिचित थे। इसके अतिरिक्त चरकसंहिता से ज्ञात होता है कि उस समय वाद-विवाद संस्कृत में होता था, प्राकृत में नहीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में सभ्य पुरुष के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक बताया गया है।

ह्वेनत्सांग सप्तम शताब्दी में भारत आया था, उसने लिखा है कि उस समय बौद्ध लोग संस्कृत बोलते थे।

जैन साहित्य में सभ्य पुरुषों के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बताया गया है और जैन सिद्धर्षि ने तो यहाँ तक लिखा है कि उनकी संस्कृत इतनी सरल थी कि प्राकृत समझने वाले भी अच्छी तरह समझ लेते थे।

उपर्युक्त आधारों पर ज्ञात होता है कि संस्कृत भाषा प्राकृत से बहुत पहले प्रचलित थी और संस्कृत प्राकृत भाषा की जननी है।

शास्त्रीय आधार—शतपथब्राह्मण के देखने से ज्ञात होता है कि केवल व्याकरण, ज्योतिष, छन्द आदि ही संस्कृत में नहीं थे, बल्कि सर्वजनविद्या, जादू-टोने, धनुर्विद्या, शिल्पकला, गायनकला आदि भी संस्कृत में लिखे जाते थे।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है कि 'व्याकरण शब्दों का निर्माण नहीं करता, बल्कि व्यवहार में आने वाले प्रचलित शब्दों की व्युपत्ति बताता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित है उसी से लौकिक संस्कृत का उदय हुआ और तदनन्तर प्राकृत का जन्म हुआ। यह प्राकृत ही विकसित होकर पालि का रूप धारण कर लिया। एक प्रकार से पालि प्राकृत का साहित्यिक रूप है और उसका मूलस्रोत शौरसेनी प्राकृत है। आगे चलकर संस्कृत और प्राकृत से एक तीसरी भाषा का उदय हुआ जो अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई।

ऋग्वेद

२

ऋग्वेद का रचनाक्रम एवं वर्ण्य-विषय

ऋग्वेद विश्वसाहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ है। क्योंकि इसके मंत्र प्रत्येक संहिताओं में उपलब्ध हैं। भाषा, शैली, व्याकरण एवं मंत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह किसी एक समय की किसी एक ऋषि की रचना नहीं, किन्तु विभिन्न काल में विभिन्न ऋषियों द्वारा हुई रचनाओं का संग्रह-ग्रंथ हैं। इसीलिए इसे 'ऋक्संहिता' भी कहते हैं। छंदों एवं चरणों से युक्त मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं और ऋचाओं के संग्रह का नाम 'ऋक्संहिता' है। इसमें भारतीय-संस्कृति, धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास एवं काव्य की विविध सामग्री उपलब्ध है। इसे समस्त ज्ञान का मूल स्रोत माना जाता है। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन, धार्मिक-विश्वास, दार्शनिक-चिन्तन, सामाजिक-व्यवस्था एवं ऐतिहासिक अध्ययन की विपुल सामग्री ऋग्वेद की ऋचाओं में उपलब्ध है। मैक्समूलर का कथन है कि 'विश्व साहित्य में वेद उस रिक्त स्थान की पूर्ति करता है जो किसी भाषा की साहित्यिक कृति में संभव नहीं है। यह हमें उस काल तक पहुँचा देता है जिसका हमारे पास कोई अभिलेख नहीं है।"[१] विन्टरन्टिज़ का कथन है कि 'भारतीय धर्म के विकास की प्रारम्भिक दशा को भारोपीय लोगों के वस्तुतः समग्र मानव-जाति के पुराणशास्त्र को जानने के लिए ऋग्वेद के सूक्तों से अधिक मूल्यवान् सामग्री विश्व में नहीं है।"[२] ऋग्वेद में वर्णित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सामग्री के अध्ययन के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि ऋग्वेद विश्व का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है और इसे विश्व की सर्वप्रथम कृति होने का गौरव प्राप्त है। अतः प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, पुराणशास्त्र, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान के लिए ऋग्वेद के अध्ययन की महती आवश्यकता है।

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० ६३।

२. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास (विन्टरनिट्ज़) पृ० ५३।

ऋग्वेद की शाखाएँ—

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं (एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्)[1]। भर्तृहरि पन्द्रह और भगवदत्त वैदिक सत्ताइस शाखाओं का उल्लेख करते हैं। भागवत महापुराण के अनुसार महर्षि वेदव्यास ने वैदिक संहिताओं के पठन-पाठन को अक्षुण्ण बनाये रखने की दृष्टि से पैल को ऋग्वेद, जैमिनि को सामवेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद और सुमन्तु को अथर्ववेद का अध्ययन कराया।[2] इन मुनियों ने महर्षि व्यास से अधीत संहिताओं को अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को पढ़ाया। इस प्रकार यह वेदकल्पवृक्ष शाखाओं एवं प्रशाखाओं के रूप में विपुल विस्तार को प्राप्त हुआ। शौनक के 'चरणव्यूह' नामक परिशिष्ट ग्रन्थ के अनुसार ऋग्वेद की केवल पाँच शाखाएँ मुख्य हैं—(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शांखायन और (५) माण्डूकायन। किन्तु इनमें केवल 'शाकल' शाखा ही पूर्ण उपलब्ध है, वाष्कल शाखा अपूर्ण है और शेष शाखाएँ अनुपलब्ध हैं; उनका केवल उल्लेख मात्र मिलता है। शाकल शाखा के प्रवर्त्तक शाकल ऋषि हैं। शाकलशाखा ही सम्प्रति प्रचलित है। यह दस मण्डलों में विभाजित है और इसमें कुल १०१७ सूक्त हैं। इसके अतिरिक्त ११ सूक्त वालखिल्य हैं, यदि इन्हें जोड़ दिया जाय तो सूक्तों की संख्या १०२८ होती है। सामवेद की कौथुमशाखा में केवल ७५ मंत्रों को छोड़कर शेष सारे मंत्र शाकल शाखा के ही हैं। अथर्ववेद की शौनक संहिता में शाकलशाखा के १२०० मंत्र पाये जाते हैं। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा और शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयसंहिता में शाकलशाखा के बहुत से मंत्र पाये जाते हैं। इसलिए ऋग्वेद का अन्य वेदों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्व है।

ऋग्वेद का रचना-क्रम—

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाजन उपलब्ध हैं—अष्टकक्रम और मण्डलक्रम। अष्टकक्रम के अनुसार समस्त ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में चौंसठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में सैकड़ों वर्ग हैं। ऋचाओं के समूह को वर्ग कहते हैं, किन्तु वर्गों की संख्या निश्चित नहीं है। सामान्यतः पाँच ऋचाओं

---

१. महाभाष्य (पस्पशाह्निक)

२. तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
(भागवतमहापुराण १।४।२१)

का एक वर्ग होता है किन्तु कहीं-कहीं ऋचाओं की संख्या कम और अधिक भी है। पूरे ग्रन्थ में कुल दो हजार छः वर्ग हैं। सुखथङ्कर के अनुसार अष्टकक्रम का विभाजन प्राचीन है।

मण्डलक्रम के अनुसार समग्र ग्रन्थ दस मण्डलों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक मण्डल में अनेक अनुवाक और प्रत्येक अनुवाक में कई सूक्त तथा प्रत्येक सूक्त में कई मन्त्र हैं। दसों मण्डलों में कुल पचासी अनुवाक हैं। मण्डलानुसार अनुवाकों की संख्या इस प्रकार है—प्रथम मण्डल में २४, द्वितीय में ४, तृतीय में ५, चतुर्थ में ५, पञ्चम में ६, षष्ठ में ६, सप्तम में ६, अष्टम में १०, नवम में ७ और दशम मण्डल में १२ अनुवाक हैं। इस प्रकार कुल पचासी अनुवाक हैं। कुल एक हजार सत्तरह (१०१७) सूक्त हैं। मण्डलानुसार सूक्तों की संख्या इस प्रकार हैं—प्रथम मण्डल में १९१, द्वितीय में ४३, तृतीय में ६२, चतुर्थ में ५८, पञ्चम में ८७, षष्ठ में ७५, सप्तम में १०४, अष्टम में ९२, नवम में ११४ और दशम मण्डल में १९१ सूक्त हैं। इनके अतिरिक्त ११ सूक्त 'वालखिल्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यदि इन्हें मिला दिया जाय तो सूक्तों की संख्या १०२८ होती है। 'खिल' परिशिष्ट या पीछे से जोड़ गये मन्त्रों को कहते हैं। ये खिल अष्टम मण्डल के ४९ से ५९ तक के सूक्त हैं। अष्टम मण्डल में सूक्तों की संख्या ९२ है। यदि इन खिल सूक्तों को जोड़ दिया जाय तो इनकी संख्या १०३ होती है। किन्तु इन खिल सूक्तों का न तो पदपाठ उपलब्ध होता है और न अक्षरों की गणना ही की गई है। अतः ये बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। शौनक की 'अनुक्रमणी' के अनुसार ऋग्वेद में समस्त मन्त्रों (ऋचाओं) की संख्या १०५८०½ है।[१] कुल एक लाख तिरपन हजार आठ सौ छब्बीस (१५३८२६) शब्द[२] और चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) अक्षर[३] हैं। सामान्यतः प्रत्येक सूक्त में दस ऋचाएँ और प्रत्येक ऋचाओं में पन्द्रह शब्द तथा प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर हैं। चौदह छन्दों में समस्त मन्त्रों की रचना हुई है।

ऋग्वेद के दसों मण्डलों के रचनाक्रम में एकरूपता दृष्टिगोचर नहीं होती। उनमें से २ से ७ वें मण्डल तक विभिन्न ऋषियों एवं उनके वंशजों

---

१ ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्त्तितम् ॥

(अनुवाकानुक्रमणी, ४३)

२ शाकल्यदृष्टेः पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि ॥

(अनुवाकानुक्रमणी, ४५)

द्वारा रचित है। प्रत्येक मण्डल में एक ही ऋषि एवं उनके परिवार का वर्णन है। इनमें सूक्तों की संख्या में क्रमशः वृद्धि पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद का मौलिक रूप इन्हीं छः मण्डलों में निहित है और शेष मण्डल बाद में जोड़ दिये गये होंगे। प्रथम, अष्टम एवं दशम मण्डलों के प्रत्येक सूक्त में अलग-अलग ऋषियों का उल्लेख अनुक्रमणी में आया है। इनमें कुछ ऋषिकाएँ भी हैं। नवम मण्डल में, सूक्तों में एकरूपता दिखाई देती है। इसमें सभी सूक्त एक ही सोम को सम्बोधित करते हैं। इसकी रचना आठों मण्डलों के बाद की प्रतीत होती है। प्रथम और दशम मण्डल में एक-से सूक्त हैं। दोनों में १९१ सूक्त हैं। रचनाक्रम में यह बाद का प्रतीत होता है। दशम मण्डल के सम्बन्ध में तो यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि इसकी रचना सबसे बाद में हुई है। इसमें प्रकीर्ण सूक्त हैं। प्रथम एवं अष्टम मण्डल में कुछ साम्य दिखाई देता है। प्रथम मण्डल के कुछ सूक्त नवम मण्डल के सदृश हैं। अतः यह निश्चय करना कठिन प्रतीत होता है कि किस मण्डल की रचना पहले हुई है।

ऋग्वेद का वर्ण्य-विषय

ऋग्वेद प्राचीन भारतीय साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ऋग्वेद में अधिकांशतः धार्मिक सूक्त भरे हुए हैं। केवल दशम मण्डल में कुछ सूक्त ऐहिक विषयों से सम्बद्ध है। ऋग्वेद के मन्त्र मुख्यतः देवताओं के स्तुतिपरक हैं। इन सूक्तों में उनके पराक्रम, महत्त्व एवं उनकी दयालुता का वर्णन है। इन देवताओं से गोधन, पुत्र, अभ्युदय, शत्रुविजय एवं दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद के दस मण्डलों में २ से ७ मण्डल प्राचीन है। इनमें प्रत्येक मण्डल एक ही ऋषि एवं उनके वंशजों द्वारा रचित है। जैसे द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पञ्चम के अत्रि, षष्ठ के भारद्वाज, सप्तम के वसिष्ठ एवं उनके वंशज हैं। इनमें गृत्समद, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऐतिहासिक पुरुष हैं। अष्टम मण्डल कण्व एवं आङ्गिरसों के उद्गाता वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ११ सूक्तों का बालखिल्य भी है। नवम मण्डल के प्रायः सभी सूक्त एक ही सोम देवता को सम्बोधित करते हैं। सोम एक बूटी का नाम है। जिसे कूटकर एक प्रकार का रस अभिषव किया जाता था, जिसे देवताओं को चढ़ाया जाता था और यज्ञ के अवसर पर उसका पान किया जाता था। ईरानी देवता भी इस प्रकार का आसव पीते थे जिसे वे 'होम' (Haoma) कहते हैं। उनके धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में लिखा है कि

जिसे पीकर वे अत्यन्त प्रसन्न होते थे। प्राचीन पुरागाथाओं में सोम को देवताओं का अमृत कहा गया है। इसके अतिरिक्त सोम को 'नभ का राजा' भी कहा गया है। ऋग्वेद के प्रथम एवं दशम मण्डल की रचना बाद में हुई प्रतीत होती है। प्रथम मण्डल में १४ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में एक सामान्य ऋषि का वर्णन है और देवता के अनुसार सूक्तों का विभाजन है। दशम मण्डल की रचना सबसे बाद की है। इसमें सूक्तों की विविधता है। इस मण्डल में कुछ भावात्मक देवताओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें जगत् की उत्पत्ति, विवाह, अन्त्येष्टि, आध्यात्मिक विषय और मन्त्र-तन्त्र आदि विषयों से सम्बद्ध सूक्त भी हैं। दशम मण्डल के सूक्तों में भाषा की शिथिलता दिखाई देती है। उस समय स्वरों का लोप अधिक होने लगा था और अवग्रह कम होने लगे थे। 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग होने लगा था। कुछ लौकिक साहित्य के शब्द भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि दशम मण्डल की रचना बाद में हुई है।

ऋग्वेद में काव्यात्मक चमत्कार भी दृष्टिगोचर होता है। उक्ति-वैचित्र्य का एक उदाहरण देखिये— वैदिक कवि कहता है कि गाय तो लाल रंग की होती हैं किन्तु उसका दूध सफेद क्यों होता है ?—

मुझको बतलाओ, होता है कैसे यह यहाँ चमत्कार।
लाल रंग की धेनु, किन्तु है हिम-सी धवल दूध की धार ॥[1]

यहाँ पर उक्ति-वैचित्र्य का का अद्भुत चमत्कार है। एक अन्य चमत्कार-पूर्ण उक्ति का उदाहरण देखिये—कवि कहता है कि विधि का विधान देखिये, दो पाद वाला पीछे रह जाता है और एक पाद वाला आगे बढ़ जाता है और दो पाद वाला तीन पाद वाले को लांघ गया है। चार पाद वाला भी दो पाद वाले के इशारे पर चलता है।

जिसके हैं दो पाद पिछड़ता, एक पाद वाला है आला।
तीन पाद जिसके, उसको है लांघ गया दो पादों वाला ॥
चार पाद जिसके, दो पाद वालों का इंगित है लखता।[2]

कहीं-कहीं तो सूक्तकार अपने को रथकार से तुलना करता है। सूक्तकार स्तोता कहता है कि 'मैं उस इन्द्र के पास यह स्तुति-गीत भेजता हूँ। जिस प्रकार रथकार रथ बनाने का आर्डर देने वाले के पास रथ भेजता है।'[3]

१. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४६–४७।
२. वही, पृष्ठ ८६
३. ऋग्वेद १।६१।४।

एक कवि ने तो अपने सूक्त को प्रियतम के लिए सजी हुई वधू के समान बताया है।[१] इस प्रकार ऋग्वेद में काव्य-रचना का कौशल उच्चकोटि का प्रतीत होता है। उस समय धार्मिक एवं लौकिक, दोनों प्रकार के काव्य का निर्माण होता था। अपने बछड़ें की ओर द्रुतगति से दौड़ती हुई गायों का रम्भानाद उस समय के भारतीयों के लिए मधुर संगीत था। ऋग्वेद में गाय के लिए 'अघ्न्या' शब्द आया है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय गायों की हत्या नहीं की जाती थी।

ऋग्वेद में पशु-पालन, कृषिकर्म, व्यापार एवं उद्योग, यज्ञ, दान आदि धार्मिक कृत्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। राजा, पुरोहित एवं युद्ध का भी वर्णन आया है। राजा के यहाँ पुरोहित होता था जो यज्ञ करता था। यज्ञ में पति-पत्नी दोनों भाग लेते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आया है कि "दम्पती एकचित्त होकर सोम का अभिषव करते थे, उसे छानते थे और उसमें दूध मिलाते थे तथा देवताओं की स्तुति करते थे।"[२] ऋग्वेद के कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें शत्रु पर विजय तथा दीर्घायुष्य की कामना की गई है। ऋग्वेद का 'दाशराज्ञयुद्ध' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युद्ध का नेता सुदास था, जिसके विरुद्ध भद्र, द्रुह्यु, तुर्वसु आदि दस राजा युद्ध करते थे। इस युद्ध में विश्वामित्र और वसिष्ठ—जैसे महर्षि भी भाग लेते थे। कहा जाता है कि सुदास आत्मा का प्रतीक है और दस राजा दस इन्द्रियाँ हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों बुद्धि और अन्तःकरण के प्रतीक हैं।

ऋग्वेद में पुराकथाशास्त्र के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ हमें देवताओं के विविध रूपों एवं उनकी अद्भुत शक्तियों के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में प्राकृतिक वस्तुओं को भी देवताओं का रूप दे दिया गया है। अग्नि, द्यौ, पृथ्वी, मरुत्, आपः, उषस् आदि प्रकृति देवता हैं। ये मूलतः प्राकृतिक शक्तियाँ थीं, जिन्हें मानवोचित कर्त्तृत्व रूप दे दिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी देवता हैं जो भावात्मक देवता हैं, जैसे श्रद्धा, प्रजापति, मन्यु आदि। इनमें भावों का व्यक्तीकरण है। ऋग्वेद में 'असुर' शब्द शक्तिशाली देवता के रूप में प्रसिद्ध है किन्तु परवर्ती साहित्य में दैत्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अवेस्ता में इसे 'अहुर' कहते थे। यम, जो पितरों का स्वामी है, उसे ऋग्वेद में मानव जाति का आदिपुरुष कहा गया है। वह मृत्यु का देवता है जो मृत्यु के पश्चात् पापियों को दण्ड देता है और पुण्यात्माओं को सुखमय लोक की प्राप्ति कराता है। ऋग्वेद

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल), पृ० ५५।

२. ऋग्वेद ८।३ (भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ४८)

में सभी देवताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। जिस देवता का वर्णन किया जाता है उसी को सर्वश्रेष्ठ वताया गया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में दार्शनिक सूक्त हैं। पुरुषसूक्त और नासदीय सूक्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुरुषसूक्त में एकेश्वरवाद की स्पष्ट रूप-रेखा दिखाई देती है। विश्व का संचालक देव एक है जो समस्त विश्व का अकेला सञ्चालन करता है, वही एकमात्र सत् है और वही सारे जगत् में प्रकाशमान् है। वह एक है किन्तु अनेक नामों से व्यवहृत होता है। वही एकमात्र परमसत्ता है। एक सूक्त अध्यात्मवाद से सम्बन्धित है जिसमें ईश्वरवाद की ओर संकेत है। सृष्टि की दृष्टि से नासदीय एवं हिरण्यगर्भ सूक्त महत्त्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद में अनेक संवादसूक्त हैं जो कला की दृष्टि से मनोरम, सरस एवं भावपूर्ण हैं। ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी उपलब्ध होते हैं जिनमें लौकिक-व्यवहार एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के दर्शन होते हैं। विवाहसूक्त एवं अन्त्येष्टि लौकिक जीवन से सम्बद्ध हैं। अन्त्येष्टि में कुल ५ सूक्त हैं—यम, पितर, अग्नि-पूषा और अन्त्येष्टि। मृत्यु के पश्चात् शवदाह होता था, शवदाह में बकरे की बलि दी जाती थी। उस समय स्त्रियाँ सती होती थीं, पाँच वर्ष के कम आयु के बच्चे का भू-संस्कार होता था।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमें राजाओं के उदार दानों की स्तुतियाँ की गई हैं, जिन्हें 'दानस्तुति' कहते हैं। नैतिक सूक्तों में 'जुआरी की गीत' (अक्षसूक्त) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें जुआरी जुए को अपने परिवार के विनाश का कारण समझता है। ऋग्वेद में कुछ पहेलिकाएँ भी हैं जो मनोरञ्जन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। एक प्रहेलिका में ऋषि कहता है कि देखा है किसी ने मेरे रथ को, जिसमें एक पहिया तीन नाभि है, उस पहिये में बारह फीते हैं और ३६० कीलियों द्वारा उसे सुदृढ़ किया गया है।[1]

ऋग्वेद के सूक्तों की भाषा सीधी-सादी एवं स्वाभाविक है। रूपक अलङ्कार का वर्णन एवं काव्यगुण अधिक मात्रा में उपलब्ध है। चौदह छन्दों में समस्त ऋग्वेद की रचना हुई है। गायत्री छन्द का सर्वाधिक प्रयोग है। इस प्रकार धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से ऋग्वेद की उपयोगिता सर्वमान्य है।

ऋग्वेद के देवता

जैसा कि पहले वताया जा चुका है कि ऋग्वेद के सूक्त मुख्यतः देवताओं के स्तुतिपरक हैं। वैदिक ऋषियों ने ब्रह्माण्ड को तीन विभागों में विभाजित

---

१. ऋग्वेद १।१६४।५२।

कर द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक--इस प्रकार 'त्रिलोकी' की कल्पना कर ली। इन तीनों लोकों में विभिन्न देवता अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। इसी आधार पर 'त्रिदेव' की भी कल्पना कर ली गई। ये त्रिदेव हैं— सूर्य, वायु और अग्नि। इनमें सूर्य द्युस्थानीय, वायु अन्तरिक्षस्थानीय और अग्नि पृथ्वीस्थानीय देवता हैं। निरुक्तकार का भी यही मत है—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानः,
वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। (निरुक्त ७-५)

ये ही त्रिदेव अपने गुणों एवं कार्यों के कारण अनेक नामों से अभिहित किये जाते हैं।[1] देवताओं में कुछ सामान्य गुण होते हैं और कुछ विशेष। सामान्य गुण सभी देवताओं में एक-से होते हैं, जैसे, द्युति, दया, दान एवं बुद्धि। ये देवताओं के सामान्य गुण हैं जो सभी देवताओं में पाये जाते हैं। विशेष गुण इनके अपने-अपने अलग होतें हैं जिनके आधार पर वे एक दूसरे से अलग कर लिये जाते हैं। बाद में इन त्रिदेवों से अनेक देवों की कल्पना कर ली गई और अनेक प्राकृतिक एवं भावात्मक देव भी इस श्रेणी में सम्मिलित कर लिये गये। इनके अतिरिक्त अनेक युगल देवता भी कल्पित कर लिये गये।

वैदिक देवताओं का स्वरूप मानवीय है। उनके हस्त-पादादि अवयव बताये गये हैं किन्तु उनकी प्रतिमा केवल छायात्मक मानी गई है। वैदिक देवता चरित्रवान्, द्युतिमान्, दयालु, सत्यवादी, निश्छल, उदार, पवित्र एवं बुद्धिमान् माने जाते हैं। ऋग्वेद में इन् देवताओं का विविध रूपों में वर्णन आया है। वहाँ इनकी शक्ति का विशेष महत्त्व वर्णित है। इन देवताओं में सबसे प्रमुख इन्द्र हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए २५० सूक्त है, अग्नि पर २०० और सोम पर १०० सूक्त हैं। शेष देवता इनसे कम सूक्तों में वर्णित हैं। द्युस्थानीय देवताओं में द्यौस्, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, उषस् और अश्विन प्रमुख हैं।

द्युस्थानीय देवता-

द्यौस्—द्युस्थानीय देवताओं में द्यौस् का महत्त्वपूर्व स्थान है। द्यौस् को जगत् का पिता माना गया है। कुछ सूक्तों में द्यौस् को वृषभ कहा गया है जिसका वर्ण पीला है और वह सदा नीचे की ओर रम्भाता है। एक अन्य सूक्त में उसे मुक्तालंकृत अश्व से तुलना की गई है। एक दूसरे ऋषि ने इसे वज्रधारी देवता बताया है। द्यौस् को प्रायः पृथ्वी के साथ संयुक्त देवता

1. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

माना गया है और द्यावापृथिवी के रूप में प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में द्यावापृथिवी को जगत् का माता-पिता बताया गया है। ऋग्वेद में कुल छः सूक्तों में इनका वर्णन आया है।

वरुण—द्युस्थानीय देवताओं में वरुण सबसे अधिक शक्तिशाली बताया गया है। ऋग्वेद में उसे 'असुर' कहा गया है। 'असुर' शब्द का अर्थ है प्राणदायक · अवेस्ता में उसे 'अहुर' कहा गया है। वरुण का रूप एकान्त सुन्दर है, उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं मांसल है, वह सुनहरे कवच को धारण करता है जो दर्शकों को चकाचौंध कर देता है। सूर्य उसका नेत्र है जिसके द्वारा वह दूर-दूर तक देख लेता है। उसका रथ सूर्य की तरह चमकता है जिसमें सुन्दर घोड़े जुते हुए रहते हैं। ऊर्ध्वलोक में एक सहस्र स्तम्भों एवं द्वारों से मण्डित उसका भव्य प्रासाद है जहाँ बैठकर वह लोकों का निरीक्षण किया करता है। वह स्वराट् एवं सम्राट् की उपाधियों से विभूषित है। उसकी शारीरिक एवं नैतिक शक्ति अपार है। उसकी शक्ति का नाम माया है जिसके द्वारा वह जगत् का रक्षण एवं संचालन करता हैं। उसी के द्वारा वह उषस् को प्रेरित करता है और सूर्य को भी भ्रमणार्थ नियोजित करता है।[1]

वरुण का नियम अत्यन्त दृढ़ है। उसमें अपार शक्ति है। वरुण के नियम को 'ऋत' कहा गया है। उसके शासन में देवता भी रहते हैं। उसके शासन में ही रात में चन्द्रमा सञ्चार करता है और तारे चमकते हैं। उसी के शासन से ही नदियाँ सतत प्रवाहित होती रहती है; उसी के शासन से ये पर्वत मेघाच्छन्न होते हैं। आकाशमण्डल में बहने वाला वायु उसी का निःश्वास है। वह सर्वज्ञ एवं सब जगह व्याप्त है। वह आकाशगामी पक्षियों के मार्ग को, समुद्रगामी नावों के पथ को, सुदूर तक बहने वाले वायु के मार्ग को भलीभाँति जानता है। वह मानवों के झूठ-सच का साक्षी है। नैतिक प्रशासक के रूप में तो वरुण से बढ़कर और कोई देवता है हीं नहीं। वह पापियों से क्रुद्ध होता है और नियमभङ्ग करने वाले को कठोर दण्ड देता है। पापियों को बाँधने के लिए उसके पास पाश है जिसे 'वरुणपाश' कहते हैं। ये पाश संख्या में तीन हैं—उत्तर, मध्यम एवं अवर, जिसे ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। वह अत्यन्त दयालु हैं जो अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करता है, उसे वह क्षमा कर देता है और पापों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार वरुण समस्त विश्व का अध्यक्ष था; किन्तु परवर्ती पुराणकाल में उसकी सार्वभौमिकता धीरे-धीरे विगलित हो गई और वह मात्र जल का देवता रह गया।

१. ऋग्वेद ५।६३।४

सौरदेवता—

मित्र—सौर देवताओं में 'मित्र' सबसे प्राचीन है। वैदिक काल में ही 'मित्र' का अपना अस्तित्व समाप्त हो गया था और वह वरुण में अन्तर्भावित हो गया। अतः मित्र का आवाहन सदा वरुण के साथ किया गया है। अकेले मित्र का वर्णन करने वाला केवल एक सूक्त है। अवेस्ता में मित्र को 'मिथ्र' कहा गया है जो सूर्य का प्रतीक प्रतीत होता है।

सूर्य—सौर देवताओं में सूर्य सबसे अधिक सक्तशाली है। उसका सम्बन्ध प्रकाश से है, द्यौस् उसका पिता और अदिति उसकी माता है। अवेस्ता में उसे 'ह्वरे' कहा गया है। वह समस्त विश्व का द्रष्टा है और मनुष्यों के कर्म का प्रेरक है वह स्थावर एवं जङ्गम जगत् की आत्मा है (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च)। वह सबके पुण्य एवं पाप कर्मों का द्रष्टा है। वह 'हरित' नामक सात तेज चलने वाली घोड़ियों से जुते हुए रथ पर बैठकर चलता है। सन्ध्या के समय वह अपने घोड़ियों को खोल देता है। अनेक मन्त्रों में आकाश में उड़ने वाले पक्षी के रूप में उसका चित्रण है। सूर्य अन्धकार को दूर करता है, दिन का मापक है, जीवन का वर्द्धक है, रोग का नाशक है और दुःस्वप्नों को दूर करता है। वह विश्व का नियामक है।

सवितृ—सौरमण्डल का एक देवता सवितृ भी है। वह सूर्य की गति को प्रेरित करता है इसलिए उसे सविता कहते हैं। ऋग्वेद के ११ सूत्रों में सवितृ का वर्णन आया है। वह हिरण्यमय देव है। वह सोने के रथ पर बैठकर भ्रमण करता है और समस्त विश्व को अपने हिरण्यमय नेत्रों से देखता है। वह अपनी स्वर्णभुजाओं से लोक को जागरित करता है। वह उषा के पथ का अनुसरण करता है। वह दानवों और दुःस्वप्नों का नाशक है। वह देवताओं को अमर बनाता है। मानवों के आयु का वर्द्धक है। इन्द्र, वरुण-जैसे शक्तिशाली देव भी उसके शासन को स्वीकार करते हैं। प्रेरक होने के कारण वेदारम्भ के समय उसका स्मरण किया जाता है :—

"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।"

इस मन्त्र का नाम 'सावित्री' है किन्तु छन्द के नाम पर इसे 'गायत्री' कहते हैं। आज भी लोक में इसका महत्त्व सर्वाधिक है।

पूषन्-पूषन् का वर्णन ऋग्वेद के आठ सूक्तों में आया है। उसके शिर पर जटाएँ और हाथ में सुवर्ण की माला तथा अंकुश है। उसके रथ में बकरे जुते होते हैं। उस पर बैठकर वह आकाश-मार्ग में गमनागमन करता है और संसार का निरीक्षण करता है। प्रेतात्माओं को पितरों के पास पहुँचाता है। वह पथ का

अध्यक्ष है, वह प्राणियों को परलोक में पहुँचने के पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है। वह पशुओं का रक्षक है, बिना किसी हिंसा के उन्हें घर पहुँचा देता है। वह पोषणशक्ति का प्रतीक है। वह सूर्य की कन्या सूर्या का पति है। उसका निवास स्वर्ग में है।

विष्णु—ऐतिहासिक दृष्टि से सौरमण्डल के देवताओं में विष्णु का सर्वाधिक महत्त्व है। उसका नाम त्रिविक्रम है। वह अपने तीन डगों से विश्व को माप लेता है। इन विशाल डगों के कारण ही उसे उरुक्रम तथा उरुगाय भी कहते हैं। उसकी उपमा यथेच्छ भ्रमण करने वाले पर्वतीय सिंह से दी गई है (मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः)। उसका सर्वोच्च पदक्रम ऊर्ध्वतम लोक में है (तद्विष्णोः परमं पदम्)। उसका पदक्रम अत्यन्त शक्तिशाली है और उसके परमपद में अमृत का स्रोत है (विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः)। ऋग्वेद के सूक्तों में कई बार यह आया है कि वह अकेले ही अपने तीन पदक्रमों से विश्व का मापन करता है और अपने विशाल पदक्रमों से त्रिलोकी में भ्रमण करता है। उसका परमपद सबसे उत्तम स्थान है, जहाँ पर मधु (अमृत) का झरना है। वहाँ पर प्रभूत शृङ्गों से युक्त (भूरिशृङ्गा) गायें हैं; वहाँ पर प्रकाश है और वह सदैव प्रकाशमान् रहता है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि विष्णु त्रिपाद से ऊर्ध्वलोक (परमपद) में निवास करता है और एकपाद से अधोलोक में अवस्थित रहता है—

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

इस प्रकार प्रकृति भगवान् विष्णु की एकपाद विभूति के अन्तर्गत है और यह लीला-विभूति है। त्रिपाद उसकी नित्यविभूति है जो उसका परमपद कहा जाता हैं। ब्राह्मणों में उसके वामनावतार का संकेत मिलता है कि वह वामन का रूप धारण कर अपने तीन पदक्रम से पृथ्वी का उद्धार किया था। पुराणों में यही अवतारवाद का आधार बना।

आश्विन—आश्विन युगल देवता है, जो सदा एक साथ अविभक्त रूप में रहते हैं। ऋग्वेद के पचास सूक्तों में इनकी स्तुति की गई है। ये द्यौः के पुत्र हैं और युवक एवं सुन्दर हैं। इनका रूप स्वर्णमय है और कमलों की माला से अलङ्कृत है। इनका रथ भास्वर है जिस पर वे सदा आरूढ़ रहते हैं। ये मधु के प्रेमी हैं। इनके पास मधु का कोष भरा रहता है। इनका रथ घोड़ों के द्वारा खींचा जाता है। इस पर बैठकर ये प्रतिदिन द्यावापृथ्वी

---

१. ऋग्वेद १।११२; ६।६४

की परिक्रमा करते हैं। ये सूर्योदय के पूर्व सवेरे प्रकट होते हैं और उषा के आविर्भाव के पश्चात् उसका अनुगमन करते हैं। ये सूर्यपुत्री सूर्या के सहचर हैं। सूर्या इनके रथ पर साथ रहती है।

आश्विन लोकरक्षक देव हैं। ये प्राणियों की आपत्तियों से रक्षा करते हैं। ये देवों के कुशल चिकित्सक हैं जो औषधियों द्वारा उनके रोगों को दूर करते हैं, अन्धों को दृष्टि प्रदान करते हैं और पङ्गुओं को गति। इन्होंने ही च्यवन ऋषि की वृद्धता को दूर कर उन्हें यौवन प्रदान किया था। इन्होंने ही विपश्चला के कटे हुए पैर को लोहे से जोड़ दिया था। इन्होंने ही अत्रि का अन्धकार के कारागार से और भृज्यु का समुद्रतल से उद्धार किया था। ये प्रातः एवं सायंकालीन नक्षत्र के द्योतक तथा कुछ प्रकाश एवं कुछ अन्धकार वाले काल के प्रतीक हैं। ये ग्रीक जुँएस के दो पुत्रों एवं हेलेना के दो भाइयों से मिलते-जुलते हैं। ये 'नासत्यौ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बोगाजकोई के अभिलेखों में इनका उल्लेख मिलता है।

उषा—ऋग्वेद के बीस सूक्तों में उषा का चरित्र चित्रित है और तीन सौ से अधिक बार उसका उल्लेख हुआ है। उषा सूक्त में गीतिकाव्य का मनोरम रूप मिलता है। उषा का मानवीय रूप देदीप्यमान एवं परम सौन्दर्यमय है। ऋग्वेद के मन्त्रों में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—"द्युलोक की दुहिता उषा एक परम सुन्दरी कन्या है और श्याम रजनी उसकी बहिन है। वह नर्तकी के समान प्रकाशमय सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर मुस्कराती प्राची दिशा में उदित होती है और अपने मोहिनी रूप को प्रकट करती है। अपने मोहिनी रूप से देदीप्यमान वह कुमारी अपनी कान्ति चारों ओर बिखेरती है, अपनी संमोहक कमनीयता को प्रदर्शित करती है। वह द्युलोक के द्वार को खोलती है और अन्धकार को दूर करती है। वह अपनी बहिन रजनी के श्याम परिधान को उतारकर दूर फेंक देती है। उषा को 'पुराणी युवतिः' कहा गया है। वह प्राचीन होकर भी नित्य नवीन रूप में प्रकट होती है, उसकी कान्ति देदीप्यमान है, और वह लाल वर्ण के घोड़ों या बैलों से जुते हुए चमकीले रथ पर बैठकर स्वेच्छा से विचरण करती है। उस समय पक्षिगण कलरव द्वारा और स्तोता ऋषिगण मधुर-गीतों से उसका स्वागत करते हैं। वह प्रातः सभी उपासकों को जागृत करती है और अग्निहोत्र के लिए उन्हें प्रेरित करती है।"[1]

उषा का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उषा सूर्य की प्रेयसी है और सूर्य

---

१. ऋग्वेद १।११३

उसका प्रियतम। वह सूर्य के लिए द्वार खोल देती है। उसके लिए मार्ग प्रशस्त करती है और उसके लिए शृङ्गार कर दमकती आभा को बिखेरती हुई सामने आ खड़ी होती है। सूर्य अपनी प्रेयसी उषा के पीछे उसी प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार कोई युवक किसी युवती कन्या के पीछे-पीछे दौड़ता है। कुछ सूक्तों में उषा को सूर्य की माता कहा गया है। उषा रजनी की बड़ी बहिन है, दोनों बहिनों में परस्पर प्रेम है, स्नेह है। दोनों में कभी संघर्ष नहीं होता, दोनों ही बहिनें एकचित्त होकर अपने-अपने समय के अनुसार अपना-अपना काम करती हैं। दोनों का मार्ग एक ही है और दोनों ही बारी-बारी से अपने उसी एक मार्ग पर चलती रहती हैं।[२] एक स्थल पर अग्नि को उषा का कामुक बताया गया है। उषा प्रतिदिन नया प्रभात लेकर आती है और अत्यन्त भास्वर रूप धारण करती हुई चारों ओर अपनी कमनीय आभा विखेरती है। वह सविता की शुभयात्रा के लिए कल्याण-मय पथ प्रस्तुत करती है और हमारे लिए नव-जागृति एवं जीवन को स्फुरित करती हैं।

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता—

इन्द्र—अन्तरिक्षमण्डल के देवताओं में इन्द्र सबसे प्रमुख देवता है। उसके व्यक्तिगत रूप, स्वभाव, क्रिया-कलाप आदि का जितना ब्यौरेवार वर्णन ऋग्वेद में है उतना किसी अन्य देवता का नहीं है। उसका वर्णन ऋग्वेद के २५० सूक्तों में विस्तार के साथ किया गया है। उसका शरीर स्वर्ण के समान देदीप्यमान, सुगठित एवं बलशाली है। उसका रंग भूरा है और उसकी दाढ़ी एवं उसके बाल भी भूरे हैं। आकार में वह दैत्य के समान है। उसकी ठुड्डी बड़ी सुन्दर है, वह हाथ में वज्र धारण करता है। उसका वज्र लोहे का बना हुआ है। उसकी शक्ति अनन्त है। उसकी शक्ति एवं उत्साह का न तो कोई देवता और न मर्त्य प्राणी ही मुकाबला कर सकता है। द्युलोक और पृथ्वीलोक, उसकी एक मुट्ठी में समा जाते हैं। वह अपनी शक्ति से देवता-समूह को पराभूत कर देता है। उसकी शक्तिमत्ता के कारण ही उसकी तुलना 'वृषभ' से की गई है। उसका रथ सुनहरा है और उसमें भूरे रंग वाले घोड़े जुते रहते हैं जिस पर बैठकर वह युद्ध करता है। उसकी सोमपान की क्षमता अनन्त है। वृत्रवध के समय वह सोम से भरे हुए तीन तालाव पी गया था। एक स्थल पर बताया गया है कि एक बार वह सोम से भरे हुए तीस तालाव पी गया था। सोमपान से ही वह अपना पेट भरता है। जब वह जी भरकर सोमपान कर लेता है तब वह अपनी

ठुड्डियों को हिलाता है। सोमपान से उसमें अपूर्व शौर्य एवं उत्साह की अभिवृद्धि होती है जिससे वह वीरतामय कार्यों को करता है।

इन्द्र द्यौस् का पुत्र है और उसकी पत्नी इन्द्राणी है। भारतीयों का वह लोकप्रिय राष्ट्रीय देवता है। ऋग्वेद में उसकी अपार शक्ति का वर्णन है। प्राचीन काल में वह देवताओं का राजा था। ऋग्वेद में वह शक्तिशाली योद्धा कहा गया है। वह युद्ध में भाग लेता और शत्रुओं का वज्र से वध करता है। इन्द्र का वृत्र के साथ युद्ध का वर्णन वीररस से पूर्ण है। कई सूक्तों में इन दोनों के युद्ध का वर्णन है। सोमपान करके वह अपने वज्र से वृत्र का वध करता है जो जल को वहने से रोके रहता है। वह पर्वतों को चूर-चूर कर डालता है और गुफा में बंधी हुई गायों के समान जल को बहने के लिए मुक्त कर देता है। मुक्त होते ही जल वृत्र के शव पर द्रुत गति से बहने लगता है।[1] वृत्र को अपने बल पर बड़ा अहंकार था। वह अपनी चालाकी से सदा इन्द्र से बचा रहता था किन्तु इन्द्र ने उसे चालीसवें वर्ष में खोज निकाला और उसे वज्र से छिन्न-भिन्न कर डाला। जब उसने वृत्र का वध किया तो उस समय द्युलोक और पृथ्वीलोक काँपने लगे थे। इन्द्र वृत्र का कई बार वध करता है। सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है कि वह बार-बार वृत्र का वध करे जिससे अवरुद्ध जल प्रवाहित होता रहे।

यास्क के अनुसार वृत्र मेघ का प्रतीक है, वह मेघ में अवृष्टि का कारण है और जलवृष्टि न करने वाले मेघ ही वृत्र के प्रतीक हैं। इन्द्र उन्हें वज्र से छिन्न-भिन्न कर वर्षण के योग्य बनाता है। कुछ व्याख्याकार इन्द्र को तड़ित्-झंझा का देवता मानते हैं। उनका कहना है कि मेघ ही पर्वत हैं जिनमें जल का अवरोध है। इनमें वृत्र ही जल का अवरोधक है। पाश्चात्य विद्वान् हिलब्राण्ट का मत है कि वृत्र शीत-दैत्य है जिसके कारण नदियों में बर्फ जम जाती है और उनका जल-प्रवाह रुक जाता है। इन्द्र बर्फ को नष्ट कर उसे प्रवाह के योग्य बनाता है। सूर्य के द्वारा हिम (बर्फ) गलने लगते हैं और नदियों में जल प्रवाहित होने लगता है।

इन्द्र की शक्ति का वर्णन करते हुए एक ऋषि कहता है कि 'जिसने कम्पायमान पृथ्वी को स्थिर किया, उत्पात मचाने वाले पर्वतों का शमन किया, जिसने अन्तरिक्षलोक को माप डाला और जिसने द्युलोक का स्तम्भन किया, हे लोगो? वही इन्द्र है।'[1] एक ऋषि कहता है कि इन्द्र आर्यों का

---

१. ऋग्वेद १।३२

१. ऋग्वेद २।१२।२

रक्षक है और अनार्यों (कृष्ण वर्ग) का दमन करता है। इन्द्र सोमपान का इतना व्यसनी है कि कभी-कभी वह इतना सोमपान कर लेता है कि उसके नशे में वह मदमस्त हो जाता है। ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त में इन्द्र का सोमपान में मदमस्त होने का उल्लेख है।[1] ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के पराक्रम तथा क्रिया-कलापों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोजपुरो अरदन्न सिन्धून्।
विभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ।।[2]

अर्थात् इन्द्र ने वृत्र का वध किया, दुर्गों को तोड़ा, नदियों की धारा प्रवाहित की, पर्वतों का भेदन किया और अपने सहयोगियों को गौएँ प्रदान की। इस मन्त्र में वृत्रकथा का सार संगृहीत है। इन्द्र ने आर्यों की पूरी सहायता की। इन्हीं की सहायता से आर्यों ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया और दस्युओं को जंगल में खदेड़ दिया।[3] इन्द्र का वैदिक नाम 'वृत्रहन्' है। युद्ध में मरुत् सदा उसके साथ रहते हैं और अग्नि, सोम तथा विष्णु भी उसकी सहायता करते हैं। इन्द्र अपने स्तोताओं का रक्षक एवं मित्र हैं, वह उन्हें धन देता है, अतः उसे 'मघवन्' कहते हैं। अवेस्ता में इन्द्र किसी असुर का नाम बताया गया है। ऋग्वेद युग में इन्द्र और वरुण का महत्त्व समान था, किन्तु उत्तर वैदिक काल में इन्द्र का महत्त्व बढ़ गया। ब्राह्मण एवं पौराणिक युग में वह 'देवेन्द्र' हो गया। वह अत्यन्त उदार है। यही उसके चरित्र की सर्वाधिक विशेषता है।

रुद्र—ऋग्वेद में केवल तीन सूक्तों में रुद्र की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में यह विष्णु की अपेक्षा कम महत्त्व का है, किन्तु उत्तर वैदिककाल में यह महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में उभरता है। ऋग्वेद में उसका मानव रूप इस प्रकार बताया गया है—रुद्र का शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उसके होंठ अत्यन्त सुन्दर हैं और उसके शिर पर जटाजूट है। उसका रंग भूरा और आकार दीप्तिमान है। वह अनेक रूपों को धारण करने वाला है। उसके अङ्ग देदीप्यमान स्वर्णाभूषण से विभूषित हैं। वह सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर चलता है। ऋग्वेद में उसे 'त्र्यम्बक' कहा गया है। वह मरुत् का पिता है। उसके पास रोगनाशक औषधियाँ हैं। जिसके द्वारा वह तक्मन् (ज्वर) एवं विष का शमन करता है। उसे सर्वश्रेष्ठ वैद्य कहा गया है।

---

1 ऋग्वेद, १०।११९
२. ऋग्वेद १०।८९।७
३. दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋग्वेद २।१२।९

मरुत्—ऋग्वेद में ३३ सूक्तों में इनका स्वतन्त्र वर्णन है और सात सूक्तों में इन्द्र के साथ तथा एक-एक सूक्त में अग्नि तथा पूषन् के साथ उनका वर्णन है। मरुत् संख्या में इक्कीस हैं और कहीं-कहीं उनकी संख्या १०० बताई गई है। मरुद्गण रुद्र के आत्मज हैं और पृश्नि इनकी माता कही गई है। इनकी पत्नी का नाम रोदसी है जो रथ पर इनके साथ आरूढ़ रहती है। मरुत् शक्तिशाली देव हैं। ये हाथ में भाले एवं परशु लिये रहते हैं और शिर पर शिरस्त्राण धारण किये रहते हैं। उनका रंग स्वर्णमय एवं शरीर दीप्तिमान् है। उनके प्रभाव के सामने द्यावापृथिवी एवं पर्वत काँप उठते हैं। जलवृष्टि कराना उनका प्रमुख कार्य है। उस समय वे सूर्य को अन्धकार से आच्छन्न कर लेते हैं, पृथ्वी को भिगो देते हैं, अमृत की वर्षा करते हैं, बादलों का दोहन करते हैं और पृथ्वी को जल से आर्द्र करते हैं। ये बिजली के समान चमकते हुए स्वर्णमय रथ पर आरूढ़ रहते हैं। उनका स्वरूप वन्य वराह के समान भीषण है। ये वृत्र के वध में इन्द्र की सहायता करते हैं और रुद्र के समान विपत्तियों से रक्षा एवं रोगों का निवारण करते हैं। ये मरुद्गण अपने बाहुबल से उसी प्रकार चमकते रहते हैं जिस प्रकार नक्षत्रमण्डल से आकाश चमकता है।

पर्जन्य—ऋग्वेद के केवल तीन सूक्तों में ही पर्जन्य की स्तुति की गई है और सम्पूर्ण वेद में केवल तीस बार इनका उल्लेख हुआ है। यह वृष्टि का देवता माना जाता है। अनेक मन्त्रों में पर्जन्य मेघ का वाचक है। पर्जन्य जलवर्षक मेघ के साथ निकट का सम्बन्ध रखता है, इसीलिए जलधर पर्जन्य को ऊधस्, दोहन-पात्र और मशक भी माना गया है। इसकी तुलना बलीवर्द से की जाती है। वृष्टि करना ही उसका प्रमुख कार्य है। यह गर्जन एवं बिजली के साथ जलमय रथ पर बैठकर आकाश में गमन करता है। जिस प्रकार सारथि कोड़ों से घोड़ों को भगाता है उसी प्रकार वह वृष्टिदूतों को तेजी से भगाता है। जब वह गगन-मण्डल को वर्ष्य (वृष्टि से व्याप्त) कर देता है तब दूर से सिंहनाद करता है।[1] पर्यंज्य अपनी शक्ति से वृक्षों को धराशायी कर देता है, राक्षसों का वध करता है। सारा विश्व उसके भय से काँपता है। जब वह पृथ्वी में बीज का आधान करने को उद्यत होता है तो उस समय झञ्झावात उठता है, बिजली तड़पने लगती है, औषधियों से अङ्कुर निकलने लगते हैं और नभोमण्डल जलार्द्र हो जाता है।[2] धारापात वर्षा के समय वह सिंहगर्जन करता है, मेढ़क पर्जन्य द्वारा उद्बुद्ध होकर टर्र-टर्र करते हैं। वह द्यौस् का पुत्र है और सोम का पिता।

१. ऋग्वेद ५।८३।३।

२. ऋग्वेद ५।८३।२-४।

विद्युत्, अग्नि, मरुत् एवं वात के साथ उसका सम्बन्ध है। वह दुराचारियों का विध्वंसक है।

पृथ्वीस्थानीय देवता--

अग्नि--भूमण्डल के देवों में अग्नि सर्वश्रेष्ठ देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। इस लोक में सारा यज्ञिय कार्य-कलाप अग्नि के द्वारा ही सम्पन्न होता है। अग्नि की आकृति दीप्तिमान् है। ज्वाला ही उसका केश है, उसके बालों से घी चूता है, धूम्रवर्ण की श्मश्रु है, उसका मुख देदीप्यमान है, चमकीले इस्पात के समान उसके तिग्म दाँत हैं, उसके त्रिमूर्ध, सप्तरश्मि और सात जिह्वाएँ है, उसके अश्व भी सप्तजिह्वा हैं। घृतपृष्ठ, घृतमुख, घृतकेश, घृतलोक आदि उसके नाम हैं। एक ऋषि अग्नि के एक सहस्र शृङ्गों की चर्चा करता है। ऊपर उठती हुई उसकी ज्वालाओं की सींग के रूप में कल्पना की गई है। अग्नि अपने सीगों को तीक्ष्ण करता है और क्रोध में उन्हें हिलाता है। एक सूक्त में अग्नि को अश्वरूप बताया गया है। ज्वालाएँ उसकी पूँछ हैं। वह हर्षोल्लास से हिनहिनाता है और तीव्रगति से दौड़ता हुआ देवों के पास पहुँच जाता है। कहीं उसे श्येन पक्षी कहा गया है और कहीं उसकी तुलना गरुड़ से की गई है। एक अन्य सूक्त में ऋषि कहता है कि अग्नि अपने तीक्ष्ण दाँतों से वनों को खा जाता है, उनका चवर्ण करता है और शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले योद्धाओं के समान उन पर आक्रमण करता है।[1] एक अन्य मन्त्र में बताया गया है कि वह सदागति वायु से प्रेरित होकर वनों में सञ्चरण करता है और नापित के समान पृथ्वी-केशों (घास-फूस) को काट डालता है।[2] वनों में सञ्चरण करता हुआ वह वृषभ की हुंकार के समान गर्जन करता है। उसका भक्ष्य तृण, काष्ठ, एवं हवि है और घृत उसका पेय है। अपनी विजयपताका फहराता हुआ व्योममण्डल को धूम से आवृत कर देता है इसीलिए उसे 'धूमकेतु' कहा गया हैं। वह वातप्रेरित धूम्रवर्ण अश्वों से वाहित रथ से संचरण करता है और यज्ञरूप सारथि के साथ देवताओं को यज्ञ में आमन्त्रित करने के लिए स्वर्ग में जाता है। यज्ञीय अग्नि के रूप में वह देवताओं का दूत है। वह हवि को देवों तक पहुँचाता है और देवताओं को यज्ञभूमि पर लाता है। इसीलिए उसे पुरोहित कहा गया है। उसे ऋत्विक्, होता, पुरोहित, आंगिरस, जातवेदाः आदि नामों से स्तुत

---

१ ऋग्वेद १।१४३।५

२. वही, १।६५।८

किया गया है।[1] वह प्रतिदिन सवेरे ही उठता है इसीलिए उसे 'उषर्बुध' कहा गया है। वह उठते ही प्रकाश करता है और अन्धकार को दूर भगाता है।

अग्नि के जन्म के सम्वन्ध में विविध कल्पनाएँ हैं। अग्नि के तीन जन्मस्थान, तीन योनियाँ, तीन गृह और तीन रूप हैं। सर्वप्रथम वह आकाश में जन्म लेता है, वहाँ सूर्य ही अग्नि के रूप में प्रदीप्त होता है, द्यौस् उसका पिता है। द्वितीय बार वह पृथ्वी पर जन्म लेता है; वहाँ दो अरणियाँ उसके माता-पिता हैं। दो अरणियों के मन्थन से उसका जन्म होता हैं और जन्म लेते ही वह अपने माता-पिता को खा जाता है।[2] एक ऋषि कहता है कि इसका जन्म दस कुमारियों द्वारा हुआ है। अरणि-मन्थन में व्याप्तत दस अंगुलियाँ ही दस कुमारियाँ हैं। वहाँ उसे शक्ति (वल) का पुत्र कहा गया है, क्योंकि शक्ति के द्वारा ही दो अरणियों का मन्थन होता है। तृतीय वार वह जल में विद्युत् के रूप में जन्म लेता है। इसी आधार पर अग्नि की 'त्रिमूर्ति' की कल्पना की गई है। आकाश, भूतल और जल में उसका वास है। यही उसके तीन घर हैं। सम्भवतः इसी आधार पर परवर्तीयुग में 'अग्नित्रय' की कल्पना की गई होगी।

सोम—ऋग्वेद में लगभग १२० सूक्तों में सोम की स्तुति की गई है। ऋग्वेद के पूरे नवम मण्डल में सोम का वर्णन है। अवेस्ता में इसे 'हओम' कहा गया है। उसका निवास स्वर्ग में है। वह स्वर्ग का पुत्र, स्वर्ग का दूध और स्वर्ग का पति कहा गया है[1] वहीं से यह पृथ्वी को लाया गया है। अमृतरूप होने से उसे वनस्पति भी कहते हैं। यह पर्वतों पर उगता है किन्तु उसका निवास स्वर्ग में ही है। वहीं से वह पृथ्वी पर लाया गया है। सोम एक औषधि का नाम है जिसे पत्थरों से कूटकर उसका रस निकाला जाता था और उसे छन्ने से काष्ठपात्र में छाना जाता था। एक मन्त्र में बताया गया है कि जब उसकी बूंदें छन्ने पर टपकती हैं तो वह योद्धाओं के समान निनाद करता है। छन्ने से छनकर पात्र में गिरने पर सोमरस में पानी मिलाया जाता था। वहाँ वह जल का परिधान पहने हुए पात्र में नृत्य करता है। वहाँ वह दस कुमारियों द्वारा शुद्ध किया जाता था। ये दस कुमारियाँ दस अंगुलियाँ हैं। उसे पीकर देवता मस्त होते थे। इन्द्र उसे पान कर वृत्रवध के लिए रण क्षेत्र में उतरता है। सोमरस में कभी-कभी दूध भी मिलाया जाता था।

ऋग्वेद में सोम की तुलना वृषभ से की गई है। सोम की ध्वनि का वर्णन कहीं वृषभ के रम्भारव के समान और बिजली के कड़क के समान किया गया

१. वही, १।१

२. ऋग्वेद १०।७९।४

है। सोम का रङ्ग पीत है, उसका शारीरिक गुण ओज है, उसका पान आनन्द-दायक होता है, उसका पान करने वाला भाव और आनन्द में मग्न हो जाता है, उसकी वक्तृत्व - शक्ति वढ़ जाती है। सोम में असीम शक्ति है, उसके पान से बुद्धि बढ़ती है, बल बढ़ता है और वार्द्धक्य दूर होता है। सोम को अमृत भी गया गया है। सोम ने ही देवताओं को अमर बनाया। इस प्रकार वह अमरत्व प्रदान करने वाला पेय कहा गया है। सोम औषधि है, वह रोगों को दूर करता है। वृद्धों का वृद्धत्व दूर कर उसे तारुण्य प्रदान करता है, अन्धे को दृष्टि प्रदान करता है और पंगु को गति प्रदान करता है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सोम का समीकरण चन्द्रमा के साथ किया गया है। यजुर्वेद में औषधियों को उसकी पत्नियाँ कही गई हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी सोम का चन्द्रमा के साथ तादात्म्य का वर्णन आया है। एक उपनिषद् में सोम (चन्द्र) को ब्राह्मणों का राजा बताया गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में सोम चंन्द्रमा का पर्याय हो गया। देवता उसका क्षय करते हैं और प्रतिदिन वह एक-एक कला क्षीण होता है और पुनः प्रतिदिन वह एक-एक कला बढ़कर पूर्ण हो जाता है। सुश्रुत में बताया गया है कि सोम एक औषधि है जिसमें पन्द्रह पत्ते होते हैं। कृष्णपक्ष में उसका एक-एक पत्ता प्रतिदिन गिरता जाता है और अमावस्या को उसके सारे पत्ते गिर जाते हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होता है और अमावस्या को पूर्ण क्षीण हो जाता है उसी प्रकार अमावस्या को सोम के सारे पत्ते क्षीण हो जाते हैं। जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता है और पूर्णिमा को पूर्णता को प्राप्त हो जाता हैं, उसी प्रकार सोम के भी शुक्लपक्ष में एक-एक पत्ते बढ़ते हैं और पूर्णिमा को पन्द्रह पत्तियों से वह पूर्ण हो जाता है। इसी आधार पर सोम का चन्द्रमा के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।

ऋग्वेद के अन्य देवता—

वैदिक युग में कुछ भावात्मक देवताओं की कल्पना कर ली गई थी। जैसे, ऋग्वेद के सूक्त में श्रद्धा और दो सूक्तों में मन्यु का वर्णन है। श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि श्रद्धा के बिना अग्निप्रदीप्त नहीं होता, यज्ञ भी उसी से सफल होता है, श्रद्धा से सम्पत्ति की प्राप्ति होती हैं। ऋषि मन्यु से कहता है कि हे मन्यु! स्तोता तुमसे ओज एवं बल को धारण करता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम मन्त्र में सृष्टि का भारवाहन करने वाले प्रजापति एक स्वतन्त्र देवता के रूप में उपस्थित होता है। ऋग्वेद में ही

एक भावात्मक देवता बृहस्पति का उल्लेख है। बृहस्पति का मुख्य कार्य पौरोहित्य है, उसका अग्नि के साथ सादृश्य स्थापित किया गया है। इसी प्रकार अदिति की भावात्मक देवी के रूप में कल्पना की गई है। जो देवताओं की माता कही गई है। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में अदिति के अमूर्त्त रूप का भी वर्णन है। वैदिक युग में इसी प्रकार अन्य भावात्मक देवों की कल्पना की गई है।

युगलदेवता—वेदों में कुछ युगल देवताओं की भी स्तुति की गई है, इनमें मित्रावरुण के नाम पर सबसे अधिक सूक्त है। किन्तु द्यावापृथिवी का उल्लेख सबसे अधिक हुआ है। इनके अतिरिक्त इन्द्राग्नी, अग्नीसोमौ, इन्द्राविष्णू आदि युगलदेवताओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। युगल देवताओं के अतिरिक्त कुछ सामूहिक देवता भी हैं, जैसे, आदित्य यह एक छोटा देवपरिवार है। इसमें बारह आदित्य सम्मिलित हैं।

ऋग्वेद में दार्शनिक सूक्त

ऋत का सिद्धान्त—ऋग्वेद में 'ऋत' की कल्पना एक विचार-दर्शन है। 'ऋत' का अर्थ है नियम या व्यवस्था। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जो व्यवस्था पायी जाती है उसे 'ऋत' कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे, दिन-रात इन सभी की नियमित गति 'ऋत' कहलाती है। सृष्टि के प्रारम्भ सर्वप्रथम 'ऋत' तत्त्व ही था। बाद में इसी 'ऋत' से जगत् की उत्पत्ति होती है।[1] विश्व की सारी व्यवस्था इसी 'ऋत' पर आधारित है। देवता भी उसकी व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकते। यही 'ऋत' समस्त विश्व का नियामक है। धार्मिक क्षेत्र में यह 'ऋत' यज्ञ के रूप में अभिव्यक्त है और विश्व के स्तर पर वह सबका जनक है।[2] यह 'ऋत' ही समस्त चराचरात्मक जगत् तथा उसकी समस्त क्रियाओं को नियमित करता है।

परमतत्त्व—प्राचीनकाल में मनीषियों के मन में यह विचार उठने लगा था कि देवों में कुछ शक्ति है या नहीं? उनकी सत्ता है या नहीं? उस समय एक वर्ग ऐसा भी था जो इन्द्र की सत्ता में विश्वास नहीं करता था, वह वर्ग कहता था कि इन्द्र की सत्ता नहीं है, उसे किसने देखा है, हम किसकी स्तुति करें? इस पर इन्द्र स्वयं उपस्थित होकर कहता है कि 'यह मैं हूँ, मुझे यहाँ प्रत्यक्ष देख लो, यह वही इन्द्र है जो महत्त्व में सबसे श्रेष्ठ है।' फिर वह सोचने लगा कि जब इन्द्र आदि अनेक देव हैं तो हम किसकी स्तुति करें, किसे हवि प्रदान करें?

---

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत् (ऋग्वेद १०।१९०।१)
२. भारतीयदर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी) पृ० ३३

(कस्मै देवाय हविषा विधेम)।[1] इस प्रकार ऋषि कहता है कि वह देवता और कोई नहीं; वह एकमात्र परमसत् हिरण्यगर्भ या प्रजापति है, जो देवों में सर्वमहान् है, वही विश्व का मूलतत्व है; वही द्यावापृथ्वी को धारण करता है, वही सभी प्राणियों को बल एवं प्राणदाता है सारा विश्व जिसकी उपासना करता है, अमरता और मृत्यु जिसकी छाया है;[2] वहीं देवों में एकमात्र देव है (यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्)। उसे हमें हवि प्रदान करनी चाहिये। पुरुष-सूक्त में पुरुष (ईश्वर) के लिए कहा गया है कि जो कुछ भूत, भविष्य, वर्त्तमान है वह सब कुछ पुरुष ही है (पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्)।[3] वह आदि शक्तिमान् है, वही एकमात्र 'सत्' है (तदेकं सत्), वही समस्त प्रकृति का आदि कारण है, वह एक सर्वोपरि परमसत्ता है, जो सब में विद्यमान है, वही विश्व की आत्मा है, वही समस्त विश्व का संचालन करता है, वह एक जगह रहते हुए भी सब जगह पहुँचा हुआ है। सारा जगत् उसी का रूप है; वह देवों का देव महादेव है जिसे लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)।[4]

आत्मा एवं जीव—वह एकमात्र देव जब माया से युक्त होता है तब नाना रूपों को धारण करता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)। जब वह प्रति संसार में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है तब जीव कहलाता है; किन्तु वेद में प्रतिपादित यह माया वेदान्त की माया से भिन्न है। वेदों में भौतिक जगत् की सत्ता का निषेध नहीं है जबकि वेदान्त में भौतिक जगत् की सत्ता को मिथ्या कहा गया है। इस प्रकार वेदों में परमात्मा के दो रूप प्रतिपादित हैं—जीव और आत्मा। परमात्मा जब माया से विशिष्ट होता है तब वह जीव कहलाता है और जब माया से रहित होता है तब आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा के दो रूप हैं—मायाविशिष्ट जीव और मायारहित आत्मा। ऋग्वेद के एक मन्त्र में जीव और आत्मा के इस प्रकार के भेदों का स्पष्ट विवेचन है। वहाँ बताया गया है कि संसाररूपी वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं उनमें से एक जीवात्मा है जो स्वादु फलों का भोक्ता है और दूसरा परमात्मा है जो फल का भोग न करता हुआ भी प्रकाशमान् है—

---

१. ऋग्वेद १०।१२१।१

२. वही १०।१२१।२

३. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् (ऋग्वेद १०।९।२)

४. वही १।१४४।४६

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
(ऋग्वेद १०।१६४।२०)

शब्दब्रह्म—ऋग्वेद में एक मन्त्र में शब्दब्रह्म का सुन्दर विवेचन है। वहाँ बताया गया है कि शब्दब्रह्म ही अविद्या के द्वारा अपने को नानाविध जागतिक वस्तुओं के रूप में प्रकाशित करता है। वहाँ उसे महादेव कहा गया है। उस शब्दरूप महादेव को वृषभ भी कहा गया है। उस शब्दरूप वृषभ के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चार वाणियाँ चार शृङ्ग हैं, उनमें से तीन वाणियाँ बुद्धिरूपी गुहा में निहित हैं और चतुर्थ वाणी को मनुष्य बोलते हैं। उस महादेव के भूत, भविष्य, वर्तमान—ये तीनों काल तीन पाद हैं। शब्द के नित्य और अनित्य (कार्य) रूप दो शिर हैं। सातों विभक्तियाँ सात हाथ हैं। हृदय, कण्ठ और शिर में बँधा हुआ वह शब्दरूप वृषभ महादेव हैं जो मनुष्यों में प्रविष्ट है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश ॥
(ऋग्वेद)

सृष्टितत्त्व—वेदों में सृष्टि के सम्बन्ध में नानाविध कल्पनाएँ हैं। सामान्यतः प्रजापति को विश्व का स्रष्टा कहा गया है। वह प्रजापति कभी इन्द्र के रूप में, कभी वायु के रूप में, कभी सूर्य के रूप में स्तुत किया गया है। सृष्टि का रहस्य समझने के लिए नासदीय सूक्त विशेष महत्त्व का है। उक्त सूक्त में बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में अन्धकार ही अन्धकार था, उस समय न सत् था न असत्, न अन्तरिक्ष था न व्योम, कौन इसे आवृत कर रखा था? क्या गहन, गम्भीर वारि था? न वहाँ मृत्यु थी न अमरता, न दिन था न रात और न दिन-रात का भेद करने वाला प्रकाश ही था, वहाँ एक ही तत्त्व था, जो बिना वायु के भी अपनी शक्ति से श्वास लेता था। उसके अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं था। तब तप की महिमा से 'एक' तत्त्व प्रकट हुआ, उस 'एक' में काम उत्पन्न हुआ। यही सृष्टि का प्रथम बीज था। प्राचीन मनीषी विचारकों ने अपने अन्तःकरण में विचार कर असत् से सत् की उत्पत्ति की खोज की। क्या सचमुच कोई जानता है कि वह कौन था? और कौन बता सकता है कि वह सृष्टि कहाँ से हुई? कौन जानता है कि कौन कब कहाँ से हुआ? यह सब कुछ वही जानता है जो परम व्योम में व्याप्त है, अथवा हो सकता है, वह भी न जानता हो?[1]

---

१. ऋग्वेद, नासदीय सूक्त (१-१२९।१-८)

पुरुषसूक्त के अनुसार विश्व-सर्जना एक प्राकृतिक उत्पत्ति है और देवों को उसका सहायक उपकरणमात्र माना गया है। वहाँ पुरुष को एक देव कहा गया है, उस पुरुष के विभिन्न अवयव ही विश्व के विभिन्न भाग हैं। उस विराट् पुरुष के मस्तक आकाश, नाभि वायु, पाद भूलोक, मन चन्द्रमा, चक्षु सूर्य और निःश्वास को पवन के रूप में कल्पित किया गया है। यह जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान है, वह पुरुष ही है।[१]

वस्तुतः इस विश्व का सर्जक परमदेव परमात्मा है जिसे इन्द्र, सूर्य, हिरण्यगर्भ या प्रजापति के रूप में कल्पित किया गया है। सृष्टि के पूर्व कुछ नहीं था, चारों ओर घोर अन्धकार एवं निस्तब्धता थी और कहीं कुछ भी नहीं था। उस परमात्मा ने सबसे पहिले अपनी शक्ति से एक दिव्य रूप उत्पन्न किया जो आग के गोले के समान देदीप्यमान था। वही सूर्य या हिरण्यगर्भ कहलाया। उसके उत्पन्न होते ही सारा अन्धकार नष्ट हो गया, निस्तब्धता दूर हो गई, प्रकृति में एक विचित्र प्रकार का कम्पन हुआ और इस कम्पन से एक दिव्यलोक की उत्पत्ति हुई जो आकाश एवं द्यावापृथ्वी के नाम से प्रसिद्ध हुआ आर इसके आधारभूत जलतत्त्व की सृष्टि हुई, उसी हिरण्यगर्भ से समस्त देवता उत्पन्न हुए। सृष्टिविषयक यही विचारधारा आगे चलकर पल्लवित हुई[२] आर सृष्टि का क्रमशः विकास हुआ।

कर्मसिद्धान्त— भारतीय दर्शन में कर्म की गति को विचित्र बताया गया है। वैदिक ऋषि इसके महत्त्व को समझते थे। यजुर्वेद में कहा गया है कि इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः)। जीवन की समस्त चेष्टाएँ आर यह संसार भी इसी कर्मगति का फल है, देवता भी इसी कर्मगति के बन्धन में पड़ते हैं। वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म बताया गया है। यज्ञ से अशुभ कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का उदय होता है।[३] वैदिक मान्यता के अनुसार यह आत्मा अजर और अमर है, इसका नाश नहीं होता, मृत्यु के बाद भी इसकी सत्ता बनी रहती है। यहाँ मृत्यु का अर्थ नाश नहीं, बल्कि आत्मा का परलोक में चला जाना है, जहाँ वह अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का उपभोग करता है।[४]

---

१. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त (१०।९०।२,१४)

२. भारतीय दर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी), पृ० ३९–४०।

३. वही, पृ० ३६।

४. वही, पृ० ३७।

ऋग्वेद की मान्यता के अनुसार आत्महन् जन घोर अन्धतामिस्र में डाल दिये जाते थे। यह निश्चित था कि मृत्यु के पश्चात् पापियों को दण्ड भोगना पड़ता था। वेदों में यम को मृत्यु का देवता माना गया है। मृत्यु के पश्चात् यम के दूत जीव को यमलोक ले जाते हैं जहाँ उसके पितर निवास करते हैं। वहाँ उसके लिए एक नियत स्थान है, जहाँ पहुँचकर वह अपने पितरों से मिल जाता है। यम के राज्य में आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ का जीवन सुखमय है; किन्तु वह सुखमय आनन्दलोक उसी को प्राप्त होता है जो यज्ञ में उदारता के साथ दान करते हैं। तात्पर्य यह कि अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही जीव को शुभ एवं अशुभ लोकों की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ऋग्वेद में परमतत्त्व को एक देव के रूप में स्वीकार किया गया है। वह परमतत्त्व सब देवों का देव महादेव है जो एकमात्र सर्वोपरि परमसत्ता है। वह सत्-असत् से परे प्रकृति और आत्मा दोनों से उच्चश्रेणी का है। वही एकमात्र परमसत् है और यह समस्त विश्व उसी का रूप है, वही सूर्य के रूप में प्रकाशमान है। वही जगत् की आत्मा एवं समस्त प्रकृति का मूल कारण है। प्रकृति और आत्मा दोनों उसके दो रूप हैं। ऋग्वेद की यही एकदेववाद की धारणा उत्तरवैदिक युग में पल्लवित हुई है। अथर्ववेद के युग में मनीषी आत्मा (पुरुष) और ब्रह्म से परिचित हो चुके थे।[१] ब्राह्मणयुग में आत्मा और ब्रह्म, दो तत्त्व स्वीकार कर लिये गये थे। ब्राह्मणयुग का ब्रह्मदेव आरण्यकों में ब्रह्म-रूप हो गया, वहाँ 'ओ३म्' को ब्रह्म कहा गया है।[२] उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, जगत्, बन्ध-मोक्ष, कर्म एवं पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। यही विचारदर्शन आगे चलकर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुआ है।

ऋग्वेद में नैतिक आदर्श

ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों पर विशेष बल दिया गया है। उस समय लोभ, छल, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि नैतिक दृष्टि से हेय समझे जाते थे। सत्य, दान, दया और आत्मसंयम को नैतिक आदर्श समझा जाता था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में राजाओं के उदार दानों की प्रशंसा की गई है। इन दान स्तुतियों में महान् नैतिक शिक्षा है। इनमें उदारता की स्तुति है। ऋषि कहता है कि दान देने वाले का धन कभी भी क्षीण नहीं होता। जो निःसहाय, निर्धन भूखे व्यक्ति की भूख मिटाते हैं वही उदार हैं। जो

१. अथर्ववेद १०।७।१७

२. भारतीय दर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी), पृ० ४१।

उदार हैं, पराये जन भी उसके अपने हो जाते हैं। अतः समर्थ को दान अवश्य देना चाहिए। यह लक्ष्मी कभी भी स्थिर नहीं है, आज यहाँ है तो कल वहाँ। अकेला खाने वाला केवलाघी होता है। (केवलाघो भवति केवलादी)। मृत्यु सब की होती है किन्तु दाता की मृत्यु नहीं होती। ऋग्वेद में दान की महिमा का अधिक बखान किया गया है।

नैतिकता की दृष्टि से अक्षसूक्त (जुआरी का विलाप) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें एक जुआरी जुआ खेल-खेलकर अपने जीवन की सुख-समृद्धि का नाश कर लेता है। अन्त में वह पश्चात्ताप करता है और जुए को अपने परिवार के विनाश का कारण समझता है। वह उससे दुःखी होकर जुआ न खेलने की प्रतिज्ञा करता है। वह निश्चय करता है कि अब जुआरियों के साथ कभी भी नहीं जाऊँगा, किन्तु जब अक्षों के गिरने की ध्वनि उसके कानों में पड़ती है तो स्वैरिणी स्त्री के समान वह फिर वहाँ पहुँच जाता है। वह कहता है कि हाय ! ये अक्ष कितने आकर्षक हैं। ये पहले कुछ देते हैं और बाद में उसका सर्वस्व छीन लेते हैं। इनमें कितना जादू है कि ये नीचे की ओर गिरते हैं किन्तु ऊपर को उठ जाते हैं। इनके हाथ नहीं हैं किन्तु हाथ वाले मनुष्यों को जीत लेते हैं। अक्षपट पर ये जादूभरे शीतल अंगारे (कोयले) गिरते हैं किन्तु उसके हृदय को दग्ध करते हैं :—

नीचा वर्त्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥[1]

किन्तु वह जुआरी बार-बार अक्षों के वश में हो जाता है और जुआ खेलने से रुकता नहीं है। उसकी पत्नी सदा दुःखी रहती है, उसकी माँ पीड़ित रहती है, पुत्र इधर-उधर भटकता है, ऋण का बोझ उसके शिर पर लदा है, रात में वह दूसरों के घरों में भटकता है और आग के सहारे पड़ा रहता है। अन्त में वह फिर जुआ न खेलने का निश्चय करता है और अक्षों से प्रार्थना करता है कि उसे मुक्त कर दे, मैं अब जुआ नहीं खेलना चाहता, अब मैं अपने परिवार एवं खेती की देखभाल करना चाहता हूँ। वह कहता है कि सविता ने मुझे उपदेश दिया है कि 'हे कितव ! जुआ मत खेलो, खेती करो और उससे प्राप्त धन से सुख प्राप्त करो, यह तुम्हारी गाय है, यह पत्नी है, अतः तुम जुआ खेलना छोड़ दे—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव ! तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥[2]

---

१. ऋग्वेद १०।३४।९
२. ऋग्वेद १०।३४।१३

नैतिक दृष्टि से यम-यमी संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यमी अपने भाई यम से संभोग के लिए प्रार्थना करती है किन्तु यम यह कहकर उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर देता है कि भाई-बहन का खून का सम्बन्ध है, एक खून में विवाह नैतिक दृष्टि से निषिद्ध है। पर वह कहाँ मानने वाली, वह कामोन्मत्त है, कामोद्रेक में वह सब कुछ भूल जाती है और यम को बुरा-भला कहते हुए मानव जाति के प्रति आक्रोश प्रकट करती है, किन्तु यम किसी भी प्रकार विवाह सम्बन्ध के लिए तैयार नहीं होता। इससे इतना तो स्पष्ट है कि उस समय भाई-बहन का विवाह निषिद्ध था।

ऋग्वेदकालीन समाज में स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक सूक्त पाये जाते हैं। ऋग्वेद के एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र स्वयं कहता है कि नारी के चित्त को समझना बहुत ही कठिन है, उनकी बुद्धि अत्यल्प होती है।[1] एक अन्य स्थल पर ऋषि कहता है कि 'नारी का प्रेम (सख्य) स्थायी नहीं होता है, क्योंकि स्त्रियों का हृदय लकड़बग्घे के समान निर्दय होता है :—

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः।[2]

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ प्रहेलिकाएँ हैं जो नैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहेलियों का एक वर्ग प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त में मिलता है। इसमें ५२ मन्त्र हैं। इन पहेलियों की भाषा साङ्केतिक एवं रहस्यमय है। कई स्थानों पर तो पहेलियाँ इतनी गूढ़ हैं कि उनका अर्थ समझना कठिन है। कहीं-कहीं पहेलियाँ प्रश्नोत्तर रूप में हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में आर्यों का उच्च नैतिक आदर्श वर्णित है। ऋग्वेदकाल में मनीषियों तथा ऋषियों की वाणी में सार्वजनिक एवं सार्वदेशिक नैतिकता का स्फुरण होता रहा है। वे निराशावादी एवं स्त्रैण नहीं थे, उनमें लोककल्याण की भावना एवं सभी प्राणियों के दीर्घायुष्य की कामना विद्यमान थी। उस समय यज्ञ को ही सर्वोपरि धर्म समझा जाता था, क्योंकि यज्ञ ही मानव को दूसरे मानव के साथ मैत्री के सूत्र में बाँधने वाला धर्म है।

वेदों में लोककल्याण की भावना से प्रेरित अनेक उपदेशात्मक वचन प्राप्त होते हैं। वेद ही मानवों को कर्मठ, देशभक्त, परोपकारी बनाने की शिक्षा देता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि बिना परिश्रम किये देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवः)। जो परिश्रमी हैं उनके पास लक्ष्मी स्थिर रहती थी। उस समय यद्यपि कहीं-कहीं बलात्कार की घटनाओं का उल्लेख

---

१. इन्द्रश्चिद्धा तदब्रवीत् स्त्रिया अशास्त्रं मनः (ऋग्वेद ८।३३।१७)
२. ऋग्वेद १०।९५।१५

मिलता है तथापि परस्त्री सम्पर्क एवं बलात्कार बहुत घृणित समझा जाता था। इसके अतिरिक्त चोरी, डकैती को महान् अपराध समझा जाता था।

ऋग्वेद के आख्यान (संवादसूक्त)

ऋग्वेद में कुछ ऐसे संवाद-सूक्त हैं जिनमें प्राचीन कथाओं के अवशेष मिलते हैं और जो 'आख्यान-साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी आख्यान-साहित्य से वीरगाथात्मक काव्यों, नाटकों, पुराणों तथा कथासाहित्य का विकास हुआ है। ये सभी आख्यान कथोपकथन के रूप में मिलते हैं। ओल्डनवर्ग ने उन्हें 'आख्यान-सूक्त' कहा है और उनके स्वरूप की व्याख्या करने के लिए परिकल्प (Theory) का प्रवर्तन किया है। उनका कहना है कि भारतीय वीरगाथात्मक काव्य का प्राचीनतम रूप गद्य-पद्यात्मक था। कथोपकथन पद्य में हुआ करते थे और घटनाएँ गद्य में। उनका यह भी कहना है कि पहले ऋग्वेद भी गद्य-पद्यात्मक था, किन्तु कण्ठस्थ परम्परा होने के कारण पद्यात्मक कथोपकथन ही अवशिष्ट रह गया और गद्यात्मक भाग लुप्त हो गया। उक्त सिद्धान्त की परिपुष्टि में ओल्डनवर्ग[1] का कथन है कि केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, बल्कि दूर देशों में भी वीरगाथात्मक काव्य गद्य-पद्य-मिश्रित होते थे। जैसा कि प्राचीन आयरिश तथा स्कैण्डेनेबिया के काव्यों में मिलता है। भारत में ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, महाभारत, वीरगाथात्मक काव्यों, बौद्ध साहित्य, जन्तु-कथाओं, नाटकों और चम्पूकाव्यों में गद्य-पद्य का मिश्रण दिखाई देता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उपर्युक्त सभी में गद्य-पद्य का मिश्रण आज भी उपलब्ध है जबकि ऋग्वेद के संवादसूक्तों में वह उपलब्ध नहीं है। कारण यह है कि ऋग्वेद ऋचाओं (पद्यात्मक मन्त्रों) का वेद है, अतः इन संवादसूक्तों के संकलन के समय संभव है कि गद्य भाग छोड़ दिये गये हों और पद्यभाग संकलित कर लिये गये हों, किन्तु ओल्डनवर्ग का यह सिद्धान्त चिरकाल तक मान्य न रह सका। किन्तु उनके इस सिद्धान्त का विरोध हुआ। मैक्समूलर एवं सिल्वालेवी का विचार है कि ऋग्वेद के संवादसूक्त एक प्रकार के नाटक रहे होंगे।[2] उनके उक्त विचार का समर्थन करते हुए डा० हर्टल् एवं श्रोडर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ये संवादसूक्त

---

१. Akhyana hymnen in Rgveda (ओल्डनबर्ग) भारतीय साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७३ से उद्धृत।

२. वही, पृ० ७४।

धार्मिक उत्सवों पर खेले जाने वाले नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन रहे होंगे।[1] विण्टरनिट्ज का कथन है कि "ये कथोपकथन मूलतः प्राचीन वीरगीतिकाव्य है। ये ही वीरकाव्य (Epic) तथा नाटक दोनों के मूलस्रोत हैं क्योंकि आख्यान तथा नाटकीय तत्त्व ही इसका स्वरूप है। इन वीरगाथाकाव्यों के आख्यानात्मक भाग से वीरकाव्य एवं नाटकीय अंश से नाटकों का विकास हुआ[2]।" इस प्रकार ये संवादसूक्त परवर्त्ती काव्य, नाटक, कथा एवं गीतकाव्यों के स्रोत रहे हैं। इन्हीं से विभिन्न प्रकार के साहित्यिक विधाओं का विकास हुआ है, अतः इनका महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

इन संवादसूक्तों में उर्वशी-पुरूरवा का आख्यान सर्वश्रेष्ठ है। उर्वशी एक अप्सरा है और पुरूरवा मर्त्यलोक का नृपति। उर्वशी चार वर्ष तक पुरूरवा के साथ उनकी पत्नी बनकर रहती है. किन्तु गर्भवती होने पर एक दिन वह राजा को छोड़कर कहीं चली जाती है। पुरूरवा उसकी खोज करता हुआ सरोवर के पास पहुँचता है जहाँ वह अन्य अप्सराओं के साथ जलक्रीड़ा कर रही थी। बस, इतनी ही कथा ऋग्वेद में मिलती है; किन्तु अन्य भारतीय साहित्य में यह कथा सुरक्षित है जिसके आधार पर हम ऋग्वेद की कथा को पूरा कर सकते हैं। शतपथब्राह्मण[3] में यह कथा विस्तार से वर्णित है। वहाँ पुरूरवा से विवाह करने के पश्चात् उर्वशी तीन शर्तें रखती है जिनमें से एक यह थी कि पुरूरवा को वह कभी नग्न न देखेगी। इधर गन्धर्व लोग उर्वशी को पुनः स्वर्ग में वापिस लाना चाहते थे, इसलिए एक दिन रात में वे उर्वशी के दो प्रिय मेमनों को चुरा लेते हैं। वे दोनों मेमने उर्वशी की चारपाई में बँधे रहते थे। उर्वशी ने जगने पर जब मेमनों को न देखा तो वह पुरुष को धिक्कारती हुई कहती है कि "हाय! मैं लुट गई, जैसे मेरे साथ कोई पुरुष ही नहीं है" पुरूरवा यह सुनकर शीघ्रता से चोरों के पीछे दौड़ता है। पुरूरवा नग्न था, उसने सोचा कि कहीं कपड़े पहिनने में विलम्ब न हो जाय। उसी समय गन्धर्वों ने प्रकाश कर दिया और उर्वशी ने राजा को नग्न देख लिया। अपनी शर्त के अनुसार वह राजा को छोड़कर चली जाती है। राजा जब लौटता है तो उर्वशी को न पाकर उसे खोजता हुआ एक सरोवर के तट पर पहुँचता है और वहाँ वह उर्वशी को हंसिनी के रूप में तालाब में तैरते हुए देखता है। वह उर्वशी से वापस चलने के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ करता है किन्तु उर्वशी लौटने को तैयार नहीं होती। अन्त में निराश होकर राजा एक चट्टान से कूदकर आत्म-

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ७४। २. वही, पृष्ठ ७५।
३. वही, पृ० ७५। ४. शतपथब्राह्मण ११।५।१।

हत्या करना चाहता है। तब उर्वशी उससे कहती है—'हे राजन्! चट्टान से कूदकर तुम आत्महत्या कर भेड़ियों का शिकार मत बनो, क्योंकि स्त्रियों का प्रेम चिरन्तन नहीं होता, उनका हृदय भेड़ियों के समान क्रूर होता है।'

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येताः ॥[1]

इसके बाद उर्वशी और पुरूरवा का पुनर्मिलन होता है या नहीं? यह ऋग्वेद एवं शतपथब्राह्मण में स्पष्ट नहीं है। वैसे यह संवाद काठक संहिता, हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण, कथासरित्सागर तथा विक्रमोर्वशीय नाटक आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। किन्तु उनसे भी ऋग्वेद के आख्यान की पूर्णता नहीं होती।

ऋग्वेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण आख्यान यम-यमी संवाद है। यहाँ पर यमी अपने भाई यम से संभोग के लिए प्रार्थना करती है किन्तु यम उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है। वह देवों के उन शाश्वत नियमों को प्रस्तुत करता है जिनके अनुसार एक रक्त में भाई-बहन का सम्बन्ध निषिद्ध है।[2] यमी अपने भाई की खुशामद करती है, किन्तु वह किसी प्रकार भी मानता नहीं है। इस पर यमी का आवेश बढ़ता जाता है और यम के साथ संभोग की इच्छा बढ़ती जाती है और यम उससे बार-बार मना करता है। तब वह यम को कटु वचन सुनाती है। वह यम से कहती है कि तुम पुरुषत्वहीन हो, तुम इतने कठोर हो कि स्त्रियों के हृदय को नहीं जानते। इस पर यम मधुर वचनों में उत्तर देते हुए संवाद को समाप्त करता है। वह यमी से कहता है कि तुम जाकर किसी अन्य पुरुष का आलिङ्गन करो, जिस प्रकार लता वृक्ष का आलिङ्गन करती है उसी प्रकार तुम स्वेच्छा से किसी भावोत्तेजक पुरुष के साथ संसर्ग करो।[3] इसके बाद यह स्पष्ट नहीं होता कि यम-यमी की कथा का अन्त किस प्रकार होता है। क्योंकि परवर्ती साहित्य में इस कथा का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु इस रमणीय सूक्त से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय नैतिक स्तर इतना ऊँचा था कि भाई-बहन का विवाह-सम्बन्ध अवैध माना जाने लगा था।

---

१. ऋग्वेद १०।९५।१५।
नहीं स्त्रियों का सख्य कभी होता है स्थायी।
स्त्रियों के हृदय लकड़बग्घों के हृदय अकरुण ॥
(भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ७६ से उद्धृत)

२. पापमाहुर्यः स्वसार निगच्छात् (ऋग्वेद १०।१०।१२)

३. ऋग्वेद १०।१०।१–१४

ऋग्वेद में सूर्यासूक्त (१०।८।१५) एक सुन्दरतम संवादसूक्त है। इस सूक्त में सूर्या का सोम (चन्द्र) के साथ विवाह का वर्णन है। इस विवाह को कराने वाले अश्विनीकुमार हैं। इस सूक्त में कुल ४७ मन्त्र हैं जो प्रायः सभी विवाह संस्कार से सम्बद्ध हैं। सूर्या, सूर्य की पुत्री है जिसे उषा भी कहा गया है। इसमें वैवाहिक रीति-रिवाजों का सुन्दर वर्णन है जो आगे चलकर गृहस्थसूत्रों में पल्लवित हुए हैं। इसमें कुछ मन्त्र कथात्मक हैं और कुछ अश्विनौ एवं सूर्या को सम्बोधित किये गये हैं और कुछ सूक्त में विवाह संस्कार की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। विवाह के अवसर पर वरवधू का पाणिग्रहण करते समय निम्न-मन्त्र का उच्चारण करता है 'हे वधु! अपने सौभाग्यवृद्धि के लिए तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ, तुम वृद्धावस्था तक आजीवन मेरे साथ रहो, भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवों ने तुम्हें मेरे घर का शासन करने के लिए मुझे दिया है"—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादु गार्हपत्याय देवाः॥[1]

कुछ मंत्र आशीर्वचन के रूप में हैं जो सरल, सरस, सजीव एवं काव्यकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूण हैं। वधू को आशीर्वचन देते हुए एक ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! इसे सौभाग्यवती एवं पुत्रवती बना दें। इसे दस पुत्र दे और ग्यारहवाँ पति हो। इस प्रकार सुख-समृद्धि दें।[2] इन आशीर्वचनों में कुछ मन्त्र जादू से सम्बन्धित है, इनमें विविध रोगों को दूर करने, गर्भरक्षा, दुःस्वप्न, अपशकुन, दुष्प्रभावों को दूर करने वाले और शत्रुओं को हानि पहुँचाने वाले मन्त्र हैं। कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनको पढ़ने से वधू को हानि पहुंचाने वाले भूत-प्रेत भाग जाते हैं। कुछ मंत्र विष एवं क्रमियों के नाशक हैं।

ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में श्यावाश्व तथा राजा रथवीति की कन्या के प्रणय-चित्र का आख्यान उपलब्ध है। इसमें श्यावाश्व राजा रथवीति की कन्या से प्रेम करने लगता है और रानी उसका विवाह किसी आदर्श कवि (विद्वान्) के साथ करना चाहती है। अन्त में श्यावाश्व स्वयं एक विद्वान् कवि बनकर उसे प्राप्त करता है।[3] काव्यकला की दृष्टि से यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. ऋग्वेद १०।८५।३६
२. वही, १०।८५।४५
३. वही, ५।६१

ऋग्वेद के सातवें मण्डल में 'मण्डूकसूक्त' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें मण्डूकों की तुलना ब्राह्मणों से की गई है। ग्रीष्मऋतु में ये मण्डूक मौनव्रतधारी ब्राह्मण के समान मौन रहते हैं किन्तु वर्षाऋतु के आते ही ये मण्डूक प्रसन्नता से टर्र-टर्र करते हुए एक दूसरे का ऐसा स्वागत करते हैं जैसा कि पुत्र पिता का स्वागत करता है। एक मण्डूक दूसरे मण्डूक के शब्दों को इस प्रकार दुहराता है जिस प्रकार वेदपाठी शिष्य अपने गुरु के शब्दों को दुहराता है। जिस प्रकार सोमयाग में पुरोहित पूर्णपात्र के चारों ओर बैठकर एकस्वर से मन्त्रों को गाते हैं उसी प्रकार ये मण्डूक भी वर्षाऋतु के आगमन पर सरोवर के चारों ओर बैठकर प्रसन्नता के गीत गाते हैं।[1] कुछ विद्वानों का विचार है कि यह सारा सूत्र ब्राह्मणों के याज्ञिक गीतों का हास्यानुकरण एवं व्यङ्ग्यात्मक गीत है। वस्तुतः ये व्यङ्ग्यात्मक गीत नहीं हैं बल्कि भारतीय मान्यता के अनुसार मण्डूकों की स्तुति है, क्योंकि ये मण्डूक वृष्टि करवाते हैं। ऐसी मान्यता है कि जब मेढ़क समूह रूप में टर्र-टर्र की आवाज करने लगते हैं तभी पूर्ण वर्षा की सूचना मिलती है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सोमसूक्त एक व्यंग्यात्मक ग्राम्यगीत है जिसमें मानव के विविध विचारों एवं नानाविध कल्पनाओं का उपहास किया गया है। ऋषि कहता है कि मैं छन्दों का गायक हूँ, मेरा पिता वैद्य है और माता पिसनहारी है, हम सब धन कमाने के लिए विविध प्रकार का धन्धा करते हैं क्योंकि धन सबको प्यारा है।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥[2]

आगे वह कहता है कि अश्व रथ को चाहता है, वार्ताप्रिय लोग हास-परिहास चाहते हैं, पुरुष स्त्री को चाहता है और मेढक वारि-विलास चाहते हैं।[3] इस प्रकार हम सब इच्छाओं के पीछे-पीछे दौड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इसी मण्डल में एक अन्य सूक्त 'जुआरी का गीत' है जिसमें जुआरी जुआ खेलकर अपनी सारी सम्पत्ति नष्ट कर देता है और अन्त में पश्चात्ताप करने लगता है; किन्तु अक्ष के पाँसे उसे खींच लेते हैं और जुआ खेलने के लिए उसे विवश कर देते हैं और जब वह सर्वथा बरबाद हो जाता है, अपनी पत्नी को जुए में हार जाता है, सिर पर कर्ज का भार लद जाता है तो फिर

१. ऋग्वेद ७।१०३।५-७
२. वही १०।११७।५
३ वही, १०।११७।६

जुआ न खेलने की प्रतिज्ञा करता है और खेती करना चाहता है।[1] इस प्रकार इस सूक्त में नैतिक शिक्षा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में सरमा-पणि संवाद एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है जिसमें पणि इन्द्र की गायों को चुरा ले जाता है। सरमा, जो देवताओं की कुतिया है, वह इन्द्र के आदेशानुसार गायों को ढूंढ़ने जाती है और अन्त में उनका पता लगा लेती है।[2] इसके अतिरिक्त इन्द्र-इन्द्राणी संवाद में इन्द्राणी एक वानर पर क्रुद्ध होती है जिसे इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि संवाद भी कहते हैं।[3] ऋग्वेद का इन्द्र-वरुण संवाद अपने ढंग का निराला है। इसमें सभी देवता अपनी-अपनी प्रमुखता का दावा करते हैं।[4]

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में ४० सूक्त दानस्तुति के हैं जिनमें कुछ विजयगीत हैं और कुछ राजाओं की उदारता के प्रशंसात्मक गीत हैं। इनमें महान् नैतिक शिक्षा है जो अत्यन्त दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रहेलिकाएँ हैं जिनका अर्थ अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है।

ऋग्वेदकालीन संस्कृति

आर्यों का आदिम निवास—

आर्यों के आदिम निवासस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भिन्न-भिन्न विद्वान् एवं इतिहासकार अपनी-अपनी खोज एवं तर्कों के आधार पर भिन्न-भिन्न स्थान निर्धारित करते हैं। कोई उन्हें यूरोप का निवासी बताता है तो दूसरा एशिया का। एक वर्ग ऐसा भी है जो उनका निवासस्थान भारत बतलाता है। बालगङ्गाधरतिलक उनका निवास उत्तरी ध्रुव बतलाते हैं। डा० गङ्गानाथ झा ब्रह्मर्षि देश, डा० राजबली पाण्डेय मध्यदेश, एल० डी० कल्ल कश्मीर के पास हिमालय प्रदेश, डी० एस० त्रिवेदी मुल्तान के पास देविका प्रदेश और डा० अविनाशचन्द्र सप्तसैन्धव प्रदेश मानते हैं और सभी अपने-अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का अपना अलग अलग मत है। श्री गाइल्स का मत है कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान आस्ट्रिया हंगरी था। क्योंकि आर्य लोग अश्व, गाय, भेड़, बकरी आदि पालते थे और खेती करते थे। वहाँ पशुओं के चरने और कृषि के योग्य भूमि

---

१. ऋग्वेद (अक्षसूक्त) १०।३४
२. वही, १०।१०८
३. वही, १०।८६
४. वही, ४।४२

थी। वहाँ से वे वैलेशिया होते हुए दूसरे देशों में गये होंगे।[1] किन्तु कोई प्रबल प्रमाण न होने से यह मत मान्य न हो सका।

कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों का आदि निवासस्थान जर्मनी में था, क्योंकि वहीं से गॉल्स आदि जातियाँ यूरोप के विभिन्न भागों में फैली हैं और ये जातियाँ आर्य ही थीं।[2] इनके बाल भूरे थे। दूसरे, मध्य जर्मनी में तत्कालीन मृद्भाण्ड भी मिले हैं। किन्तु कोई ठोस प्रमाण न होने से यह मत भी मान्य न हो सका। कतिपय विद्वान् पश्चिमी वाल्टिक समुद्र तट पर आर्यों का निवास बताते हैं। क्योंकि यहाँ पर पूर्व पाषाणकाल की वस्तुएँ मिली हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि पोलैण्ड एवं कैस्पियन सागर के बीच में कहीं आर्यो निवासस्थान रहा होगा।[3] उनका कहना है कि पहले सारे यूरोपियन हंगरी क पूर्व एक ही स्थान पर रहते थे और वह स्थान यहीं होगा। कुछ विद्वानों का तो यह कहना है कि आर्य लोग रूस के दक्षिणी मैदान में रहते रहे होंगे; क्योंकि वहाँ पर घासों से हरा-भरा मैदान था, जहाँ आर्यों की गाँयें चरती थीं और वह खेती के योग्य भूमि भी है जहाँ आर्य खेती करते थे।[1] किन्तु ये मत मान्य न हो सके, क्योंकि ये केवल अनुमान एवं तर्क पर आधारित हैं, इनमें कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

जे० जी० रोड, पाट, ग्रिम, मैक्समूलर आदि विद्वान् ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि प्राचीनकाल में आर्य लोग मध्य एशिया में रहते थे और वहीं से वे लोग निकलकर विश्व के विभिन्न स्थानों पर चले गये होंगे। जे० जी० रोड का कथन है कि 'जेन्द अवेस्ता' के अनुसार आर्य लोग पहले वैक्ट्रिया में निवास करते थे और वहीं से कुछ लोग भारत की ओर आये और कुछ फारस के आस-पास प्रदेशों में बस गये।[4] बाद में श्लीगल, पाट तथा मैक्समूलर ने भी इसी मत का समर्थन किया। क्योंकि मध्य एशिया में कृषि, पशुपालन, चरागाह आदि के लिए उपयुक्त भूमि थी और गाय, घोड़े, रीछ, वृक, सूअर, खरगोश आदि जानवर पाये जाते हैं। आर्य इन जानवरों से परिचित थे। मध्य एशिया ही वह प्रदेश है जहाँ शीत अधिक है, पीपल का वृक्ष है, गाय, घोड़े अधिक पाये जाते हैं और कैस्पियन सागर के निकट होने से यहाँ नाव चलने की सुविधा है। यहाँ की प्राचीन भाषाएँ 'शतम्' वर्ग की हैं और

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० ६६-६९।

२. वही।

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० ६९।

४. चाइल्ड—दि आर्यन्स, पृ० १८३-२०६।

आर्यों की भाषा भी 'शतम्' वर्ग की थी। प्रो० सेइस् ने भी भाषाविज्ञान के आधार पर आर्यों का मूल निवास मध्य एशिया ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आर्य लोग ऐसे स्थान पर रहते होंगे जहाँ शीताधिक्य रहा होगा। अतः आर्यों का आदिम निवासस्थान कैस्पियन सागर के पूर्व बैक्ट्रिया प्रदेश मानना चाहिए, किन्तु उपर्युक्त मत ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि आर्य मध्य एशिया के निवासी होते तो मंगोल जाति का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होता जबकि उसका प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा है। दूसरे, यदि आर्य यहाँ के निवासी होते तो पूर्व में चीन की ओर बढ़ते न कि पश्चिम में ऑक्सस् नदी की ओर। अतः मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास मानना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

एडवर्ड मेयर का कथन है कि आर्यों का आदिम निवास काकेशस पर्वत के प्रदेश पामीर के पठार में रहा होगा और वहीं से इसकी एक शाखा ईरान-भारत की ओर गयी होगी और दूसरी शाखा मेसोपोटामिया सीरिया की ओर। क्योंकि बोगाजकोई नामक स्थान पर खुदाई में १४०० ई० पू० के कुछ अभि-लेख एवं गोलियाँ प्राप्त हुई हैं जिस पर मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ आदि वैदिक देवताओं के कुछ रूपान्तरित नाम मिले हैं और एक, तेर, पंज, सत्त आदि संख्याएँ भी प्राप्त हैं। इससे ज्ञात होता है कि ईरान तथा भारत का निकटतम सम्बन्ध रहा होगा और दोनों पहिले १४०० ई० के पूर्व एशिया माइनर में निवास करते रहे होंगे। इसी प्रकार 'एल अमनी' नामक स्थान पर भी प्राप्त मृत्तिका पात्र पर कुछ ऐसे राजघरानों के नाम मिले हैं जो इण्डो-ईरानी लगते हैं। ये राजवंश १४०० ई० के लगभग यहाँ शासन करते थे। यहीं पर खुदाई में एक विचित्र रथ प्राप्त हुआ है, वह रथ आर्यों का बताया जाता है, उसके अक्ष में भूर्ज की छाल बँधी हुई है। भूर्जपत्र काकेशस पर्वत के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता, अतः आर्य लोग पहले इसी स्थान पर रहते रहे होंगे। इस प्रकार मेयर के मतानुसार आर्य लोग पूर्व में पंजाब और पश्चिम में मेसोपोटामिया की ओर गये होंगे और इसके पूर्व यहीं पामीर के पठार में रहते होंगे।

पार्जिटर का मत है कि ऋग्वेद की रचना के पूर्व आर्य लोग भारत में आ गये थे और हिमालय प्रदेश में रहने लगे थे। पुराणों के अनुसार हिमालय से आकर वे आधुनिक इलाहाबाद के पास प्रतिष्ठानपुर के आस-पास बस गये थे और वहीं से धीरे-धीरे ईरान, यूरोप आदि देशों में फैले हैं। अतः उनका मूल निवास हिमांचल प्रदेश ही था।[1]

1. एन्सियेण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृष्ठ २९५-३०२।

लोकमान्य बालगङ्गाधरतिलक[१] ने आर्यों का आदिम निवास स्थान 'उत्तरी ध्रुव' बताया है। उनका कहना है कि प्रारम्भ में आर्य लोग उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहते थे; क्योंकि ऋग्वेद के निर्माणकाल के समय उन्हें इस बात का ज्ञान था कि उस समय एक वर्ष का अहोरात्र होता था। ऋग्वेद में, उषःसूक्त में जिस उषा का वर्णन है वह उत्तरी ध्रुवप्रदेश की उषा है जो सुदीर्घकाल तक रहनेवाली उषा है। वहाँ चिरवसन्त था। इस सुखद वसन्त में आर्य लोग 'उत्तरीध्रुव' में निवास करते थे। ईरानियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के अनुसार अहुरमज्द ने सर्वप्रथम 'एर्य्यन बेइजो' (आर्यों का बीज) का निर्माण किया। इस प्रदेश में दस मास शीत तथा दो मास गरमी रहती थी। 'एर्य्यन बेइजो' उत्तरी ध्रुव के समीप ही कहीं स्थित था, जहाँ आर्य निवास करते थे। भौगोलिक परिवर्तन तुषारापात के कारण आर्यों को यह स्थान छोड़ना पड़ा। अवेस्ता में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि ईरानियों को अपनी मातृभूमि तुषारपात के कारण त्यागनी पड़ी थी। उत्तरी ध्रुव से हटने के बाद इसकी दो शाखाएँ हो गईं—आर्य और ईरानी। इसकी एक शाखा ईरान में बस गई जो 'असुरोपासक' थे और दूसरी शाखा के लोग सिन्धुप्रदेश में बस गये जो देवोपासक थे। किन्तु तिलक का यह मत सर्वग्राह्य न बन सका।

डा० अविनाशचन्द्र[२] ने 'सप्तसैन्धव' को आर्यों का आदिम निवास-स्थान माना है। यह देश सिन्धु नदी से सरस्वती नदी तक फैला हुआ था। कश्मीर, पञ्जाब, काबुल और गान्धार आदि इसी के अन्तर्गत थे। यह प्रदेश सिन्धु, सरस्वती, कुभा (काबुल), सतलज, झेलम, व्यास, रावी नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश था। यही आर्यों का आदिम निवास था। वर्तमान राजस्थान और उत्तर-प्रदेश का कुछ भाग समुद्र से आप्लावित था। पारस्परिक मतभेद के कारण आर्यों के दो वर्ग हो गये—एक देवोपासक, दूसरा अहुरमज्द (असुर महत्) के उपासक थे। इनमें परस्पर संघर्ष हुआ और असुरोपासक आर्य पराजित होकर ईरान चले गये। देवोपासक आर्य इसी सप्तसैन्धव प्रदेश में बस गये।

ऋग्वेदकालीन भूगोल

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्य भौगोलिक परिस्थितियों से परिचित थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों, मन्त्रों में पर्वत, समुद्र एवं नदियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि ऋग्वेद में पर्वत, समुद्र, नदियों एवं देशों का क्रमबद्ध विवरण नहीं प्राप्त होता, तथापि उनका सूक्ष्म विवरण तत्कालीन

---

१. आर्कटिक होम इनद, वेदाज़, पृष्ठ १९।

२. ऋग्वेदिक इण्डिया (डा० अविनाशचन्द्र)।

भौगोलिक स्थिति का परिचय कराने में पूर्ण है। यहाँ हम ऋग्वेद में प्राप्त भौगोलिक सामग्री का संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

समुद्र—ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में नदियों का समुद्र में गिरने का उल्लेख है। जहाँ आजकल राजपूताना प्रदेश है वहाँ पर उस समय एक विशाल समुद्र लहरा रहा था। यह समुद्र अरावली पर्वत के दक्षिण एवं पूर्वी भाग में फैला हुआ था। इसका नाम राजपूताना समुद्र था। राजपूताना में प्राप्त नमक की तहें एवं क्षार झीलें (साँभर आदि) इस बात को सूचित करती हैं कि किसी समय यह प्रदेश समुद्र मे आप्लावित था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि पञ्जाब के पूर्व एवं पश्चिम में दो समुद्र विद्यमान थे।[1] पश्चिम समुद्र तो आज भी विद्यमान है किन्तु पूर्वी समुद्र का पता नहीं है। पूर्वी समुद्र गाङ्गेय प्रदेश था, जहां आजकल उत्तरप्रदेश जनसमृद्धि से सुशोभित हैं। चौथा समुद्र कहाँ था ? इन्साइक्लोपीडिया से ज्ञात होता है कि एशिया में बलख और फारस के उत्तर में एक विशाल समुद्र था, जिसका नाम 'एशियाई भूमध्यसागर' था। उसका सम्बन्ध उत्तर में आर्कटिक महासागर से था। इसी के पास भूमध्यसागर भी था। कहा जाता है कि एशियावाले का तल ऊँचा था और यूरोपवाले का नीचा। बाद में भूमण्डल के प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण एशियाई समुद्र का जल यूरोपीय समुद्र में मिल गया और एशियाई समुद्र सूख गया। भूगर्भवेत्ताओं का कहना है कि उसके कुछ अंश झीलों के रूप में आज भी हैं। जो आज कृष्ण ह्रद (Black Sea), कश्यप ह्रद (Caspean Sea), अराल ह्रद (Sea of Aral), और बल्काश ह्रद (Lake Balkash) के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही उत्तरी समुद्र था। कहा जाता है कि आर्य लोग इन्हीं चारों समुद्रों से घूम-घूमकर व्यापार करते थे[2]। तुग्र के पुत्र भुज्यु ने एक बार नौका से समुद्र की यात्रा की थी। समुद्र के थपेड़ों से उसके जहाज की डूबने की स्थिति आ गई तब उसने अश्विनीकुमारों का स्मरण किया और अश्विनी-कुमारों ने आकर उसके प्राण बचाये।[3] इससे ज्ञात होता है कि आर्यों का समुद्र पर पूर्ण अधिकार था।

नदियाँ—ऋग्वेद में कुल पच्चीस नद एवं नदियों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से दो-तीन को छोड़कर सभी सिन्धु नदी से सम्बन्धित हैं। शेष नदियों का सिन्धु की सहायक नदियों के रूप में उल्लेख हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र में सिन्धु नदी के पूर्वी नदियों का उल्लेख है—

---

१. ऋग्वेद १०।१३६।५
२. वही, १।५६।२
३. वही, १।११६।५

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जकीये शृणुह्या सुषोमया ॥[१]

गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जिकीया और सुषोमा—ये दस नदियाँ सिन्धु की पूर्वी नदियाँ हैं। ऋग्वेद में गङ्गा नदी का नाम एक ही स्थान पर आया है। यमुना नदी का ऋग्वेद में तीन बार उल्लेख है। प्रसिद्ध दाशराज्ञ युद्ध यमुना के तट पर ही हुआ था। सरस्वती नदी का नाम बार-बार आया है। ऋग्वेद में सरस्वती को सर्वश्रेष्ठ नदी बताया गया है। ऋग्वेदकाल में यह पश्चिमी समुद्र में गिरती थी। ब्राह्मणयुग में इसका सूखना प्रारम्भ हो गया था। आज यह लुप्त हो गई है। शुतुद्रि वर्तमान सतलज नदी है जो पञ्जाब में बहती है और सिन्धु की सहायक नदी है। परुष्णी इरावती के नाम से प्रसिद्ध है जिसे आजकल 'रावी' कहते हैं। यह भी सिन्धु की सहायक नदी है। असिक्नी को चन्द्रभागा नदी कहते हैं। आजकल इसका नाम 'चेनाब' है। मरुद्वृधा 'चेनाब' की एक सहायक नदी है। वितस्ता झेलम के नाम से प्रसिद्ध है। यह पञ्जाब में बहती है। आर्जिकीया झलम और सिन्धु के मध्य बहने वाली एक छोटी नदी है। यास्क के अनुसार यह विपाश (व्यास) नदी का ही एक नाम है। सुषोमा अटक जिले में बहने वाली 'सोहन' नदी है। सिन्धु के पश्चिमी नदियों के नाम निम्न हैं—

तृष्टामया प्रथमं पातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥[२]

तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती, क्रुमु, मेहत्नू—ये आठ नदियाँ सिन्धु के पश्चिम में बहने वाली नदियाँ हैं। तृष्टामा सिन्धु की पहली सहायक नदी है। यह कश्मीर के लद्दाख प्रान्त में बहती है। सुसर्तु सिन्धु की दूसरी सहायक नदी है। आजकल यह 'सुरू' के नाम से प्रसिद्ध है। रसा का नाम ऋग्वेद में कई बार आया है। यह सिन्धु की एक सहायक नदी है। श्वेती, यह सिन्धु की चौथी सहायक नदी है। कुभा, यह सिन्धु की एक सहायक नदी है। आजकल इसे 'काबुल' नदी कहते हैं। क्रुमु का वर्तमान नाम 'कुर्रम' है। यह सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी है। 'मेहत्नू' यह सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी है। 'गोमती' सिन्धु की सहायक नदी है। इसका वर्तमान नाम 'गोमल' है। यह अफगानिस्तान में बहती है। इनके अतिरिक्त और भी कुछ नदियाँ हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. ऋग्वेद (नदीसूक्त) १०।७५।५
२. ऋग्वेद १०।७५।६

सुवास्तु का वर्तमान नाम 'स्वात' है। यह काबुल की सहायक नदी है और अफगानिस्तान में बहती है। सरयू एक पश्चिमी नदी है। इसे आजकल 'हरिरुद' कहते हैं। विपाश पञ्जाब की व्यास नदी है। आपया सरस्वती की सहायक नदी थी। यह कुरुक्षेत्र की बरसाती नदी है। दृषद्वती भी सरस्वती की सहायक नदी है। यह आजकल 'घग्घर' के नाम से जानी जाती है। इन नदियों में सिन्धु एवं सरस्वती--ये दो नदियाँ प्रमुख हैं। सिन्धु नदी सबसे बड़ी नदी है और शेष नदियाँ उसकी सहायक नदियाँ हैं। वे इसमें इस प्रकार जाकर मिलती हैं जैसे रम्भाती गौएँ बछड़े के पीछे दौड़ती हैं। ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धव:' नाम कई बार आया है।[१] सामान्यत: इस शब्द से सात नदियों का बोध होता है। किन्तु ये सात नदियाँ कौन-सी थीं ? यह पता लगाना कठिन है। सायण ने भी सप्तसिन्धव: को सात नदियों से सम्बद्ध किया है। ये सात नदियाँ सिन्धु, सरस्वती, शुतुद्रि, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी एवं कुभा हैं। मैक्समूलर सात नदियों में पञ्जाब की पाँच नदियाँ---शुतुद्रि, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश, सिन्धु एवं सरस्वती को स्वीकार करते हैं। लुडविग, ह्विटनी आदि विद्वान् सरस्वती के स्थान पर 'कुभा (काबुल नदी) को स्वीकार करते हैं। और ऑक्सस नदी को भी उस समुदाय में सम्मिलित करते हैं। मैकडॉनल आदि विद्वान् 'सप्तसिन्धु' शब्द को सात नदियों वाले प्रदेश, भारतीय आर्यों के निवासस्थान के अर्थ में प्रयुक्त बतलाते हैं। अवेस्ता में यह शब्द 'हप्तहिन्दु' के रूप में प्रयुक्त है। किन्तु वहाँ वह भारत के केवल उतने ही हिस्से को बोधित करता है जो पूर्वी काबुलप्रदेश के अन्तर्गत माना जा सकता है। उनका कहना है कि 'सप्त' शब्द यदि निश्चित संख्या का वाचक है तो सात नदियों में काबुल नदी, सिन्धु और पञ्जाब की पाँचों नदियों का ग्रहण होता है, जो आगे चलकर काबुल के स्थान पर सरस्वती का ग्रहण कर लिया गया है।[२]

पर्वत---ऋग्वेद में पर्वतों का उल्लेख अनेक ऋचाओं में हुआ है और यह बताया गया है कि नदियाँ उनसे निकलकर बहती थीं। हिमालय का उल्लेख हिम (बर्फ) का स्थान के अर्थ में किया गया है। उसके एक शिखर का नाम 'मूजवत्' है जहाँ पर सोमलता पायी जाती है। अथर्ववेद के अनुसार मूजवत् पर्वत उत्तर-पश्चिम में बाह्लीक (गान्धार) के पास कहीं पर था। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में हिमालय की दो और चोटियों का उल्लेख मिलता है। एक का नाम त्रिककुद् (त्रिकूट) है जहाँ से चिनाब नदी निकलती है। दूसरा शिखर

१. ऋग्वेद ८।२४।२७, २।१२।१२

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडॉनल), पृ० १३६।

'नावप्रभ्रंशन' है जिसे शतपथब्राह्मण में 'मनोरवसर्पण' तथा महाभारत में 'नौबन्धन' कहा गया है।

वृक्ष एवं लताएँ—ऋग्वेदकालीन वृक्षों में 'अश्वत्थ' महत्त्वपूर्ण वृक्ष माना गया है। किन्तु ऋग्वेद में न्यग्रोध (वट) का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अश्वत्थ की लकड़ी से सोमपात्र का निर्माण होता था और दूसरे मधुर फल को पक्षी खाते थे। सोमलता एक विशिष्ट औषधि थी जो मुञ्जवत् शिखर पर उगती थीं और उसके रस को निकालकर आर्यलोग पीते थे।

पशु एवं पक्षी—ऋग्वेद में वन्य पशुओं में सिंह का उल्लेख है। वह पर्वत एवं जंगलों में स्वतन्त्र विचरण करने वाला वन्य प्राणी है। ऋग्वेद में व्याघ्र का उल्लेख नहीं मिलता। क्योंकि व्याघ्र बंगाल के जंगलों में रहते थे और आर्य उस समय तक बंगाल तक नहीं पहुँच पाये थे। ऋग्वेद में भेड़िया एवं वराह का उल्लेख अधिक पाया जाता है। ऋक्ष का नाम ऋग्वेद में केवल एक बार आया है। पालतू जानवरों में भेड़, बकरी, गधा और कुत्ते हैं। कुत्ते घर की रखवाली एवं आखेट के काम में आते थे। गाय का सबसे अधिक महत्त्व था। गाय को उस समय मुख्य सम्पत्ति समझी जाती थीं। ऋग्वेद में गाय को अघ्न्या कहा गया है। गाय के पश्चात् मूल्यवान् प्राणी घोड़ा माना जाता था। युद्ध में, रथ खींचने के काम में घोड़ों का उपयोग होता था। इसके अतिरिक्त घुड़दौड़ में भी घोड़ों का उपयोग किया जाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित पक्षियों में हंस का विशेष महत्त्व था। संहिताओं में हंस का उल्लेख कई बार आया है। हंस तैरते एवं कतार बनाकर उड़ते थे। चक्रवाक, क्रौञ्च, मयूर, शुक आदि का भी उल्लेख कम महत्त्व का नहीं है। ऋग्वेद में मयूरी विषहरण के लिए प्रसिद्ध थी, शुक का रंग पीला होता था और वह घर में पाला जाता था।

खनिज—ऋग्वेद में सुवर्ण (स्वर्ण) का कई बार उल्लेख है। उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश की नदियों के पास स्वर्ण अधिक पाया जाता था, आज भी उस प्रदेश में स्वर्ण का बाहुल्य पाया जाता है। वहाँ पर सिन्धु को भी स्वर्णमय कहा गया है। स्वर्ण से कुण्डल, केयूर आदि विविध प्रकार के आभूषण बनते थे। 'आयस' का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु यह लोहा नहीं, बल्कि 'निकल' जैसा खनिज द्रव्य था। ऋग्वेद में चाँदी का उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेदकालीन समाज

मानव सामाजिक प्राणी है। मानव और समाज का अटूट सम्बन्ध है। महर्षि पाणिनि ने 'समुदोरजः पशुषु' इस सूत्र के द्वारा 'समाज' शब्द मानव-समूह के लिए और 'समज' शब्द पशु-समूह के लिए निष्पादित कर मानव

की सामाजिकता प्रतिपादित की है। मानव जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समाज में ही रहता है। समाज में ही वह जन्म लेता है, बढ़ता है, उन्नति को प्राप्त होता है और समाज में हीं लीन हो जाता है। समाज की उपेक्षा कर वह मानव नहीं हो सकता। समाज एवं सामाजिक नियमों की उपेक्षा कर वह न तो अपनी उन्नति कर सकता है और न समाज का ही। मानव-जीवन के दो पहलू हैं—वैयक्तिक एवं सामाजिक। समाज का अभ्युदय एवं सुख-शान्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उन दोनों पहलुओं में सामञ्जस्य न हो। ऋग्वेदकालीन समाज में दोनों पहलुओं में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित था। तत्कालीन समाज एक सुसंस्कृत समाज था और समाज में एकता का भाव जागृत हो चुका था। ऋग्वेद में समाज को एक पुरुष के रूप में कल्पित कर उसके विभिन्न अङ्गों-प्रत्यङ्गों का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण उस समाज-रूपी पुरुष के मुख थे, क्षत्रिय भुजाएँ थीं, वैश्य जङ्घाएँ थीं और शूद्र को पादस्थानीय कल्पित किया गया[1]। यही वर्ण-व्यवस्था का आधार बना। मानव के मन, बुद्धि, आत्मा आदि का सम्यक् अध्ययन कर इसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आश्रम-व्यवस्था का विकास हुआ। इसी वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा व्यक्ति और समाज का सुन्दर समन्वय स्थापित होता है। सामाजिक विकास में तीन ऋण एवं पुरुषार्थ चतुष्टय का भी महत्त्व था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति मानव-जीवन का ध्येय था। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्यक्ति और समाज, ऐहिकता और पारलौकिकता, भौतिकता और आध्यात्मिकता, आर्य और अनार्य के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया था और समाज का समग्र जीवन, परिवार, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय पर आधारित था।

पारिवारिक जीवन—पारिवारिक जीवन ही सामाजिक जीवन की आधारशिला है। ऋग्वेद काल में पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार प्रथा पर आधारित था। परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पौत्र आदि सम्बन्धी होते थे। परिवार में एक 'गृहपति' होता था, जिसके संरक्षण में परिवार के सभी सदस्य रहते थे और उसके निर्देशानुसार अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। पिता ही परिवार का 'गृहपति' होता था, जो परिवार का मुखिया माना जाता था। उसका अपनी सन्तान पर पूर्ण अधिकार होता था। परिवार में माता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में 'जायेदस्तं' शब्दों द्वारा ज्ञात होता है कि पत्नी ही गृहस्वामिनी होती थी और यज्ञानुष्ठान में पति के साथ भाग लेती थी। गृह-व्यवस्था, शिशुपालन आदि का उत्तर-

१. ऋग्वेद १०।९०।१२

दायित्व पत्नी पर ही होता था। गृह-प्रशासन का भार उसी के ऊपर था। वह पति की आज्ञाकारिणी होती थी। घर का सारा काम वही करती थी। नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार रखती थी, पति के अविवाहित भाई-बहनों पर अधिकार रखती थी। सास-ससुर के साथ भी उसका अच्छा व्यवहार था। घर की गायों एवं अन्य पशुओं के देख-भाल का काम भी पत्नी पर निर्भर था। गायों के दुहने का कार्य गृहपति की पुत्री करती थी। इसी कारण उसे 'दुहिता' कहते हैं। पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी। दत्तक पुत्र गोद लिये जाते थे।

पारिवारिक जीवन के विकास के लिए पञ्चमहायज्ञ, संस्कार, यम-नियम आदि आवश्यक माने जाते थे। दैनिक कार्यों में पञ्चमहायज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ—ये पाँच यज्ञ 'पञ्चयज्ञ' कहे जाते थे। वेदों का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है। पितरों को पिण्डदान, तर्पण आदि पितृयज्ञ कहलाता है। सायं-प्रातः अग्निहोत्र करना देवयज्ञ है, पश्वबलि देना भूतयज्ञ और अतिथियों की सेवा अतिथियज्ञ था। ये पञ्चमहायज्ञ मानव जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी थे।

समाज में अराजकता का प्रभाव था। चोरी-डकैती का अधिक प्रचार था। जानवरों की चोरी अधिक होती थी। चोर जब पकड़े जाते थे तो रस्सियों से बाँधकर उन्हें दण्डित किया जाता था। द्यूत–जैसे अनैतिक आचरण प्रचलित थे जिससे व्यक्ति पर ऋण का भार लद जाता था।

ऋग्वेद काल में संस्कार मानव-जीवन के विकास के साधन रहे हैं। संस्कारों के द्वारा ही उनके जीवन को परिष्कृत किया जाता था। विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के समय उपनयन संस्कार होता था। वेदाध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय विवाह संस्कार होता था। इस महोत्सव पर अभ्यागतों का स्वागत किया जाता था। वर वधू का हस्तग्रहण कर अग्नि की परिक्रमा करता था। उस समय वर-वधू को जीवन में कर्त्तव्य-पालन एवं उत्तरदायित्व-निर्वहन का उपदेश दिया जाता था। पाणिग्रहण-संस्कार के पश्चात् वधू उचित वस्त्राभरण धारण कर अपने पति के साथ रथ पर आरूढ़ होती थी। रथ को लाल फूलों से सजाया जाता था और उसमें दो बैल जुते हुए होते थे। उस रथ से वह नये घर में प्रवेश करती थी।

ऋग्वेदयुगीन गृह मृण्मय होते थे और उसमें चार भाग होते थे—अग्निशाला, हविर्धान, पत्नी-सदन और सदस्। सदस् पुरुषों के बैठने का वह स्थान होता था जहाँ पर मिलने-जुलने वाले लोग आकर मिलते-जुलते थे जिसे दालान

कहा जाता था। गृह-रक्षा के लिए 'वाणनोस्पति' देवता की स्तुति की जाती थी। गृहों में बैठने तथा शयन के लिए आसन होते थे। अन्तःपुर में स्त्रियों के लिए साज-सज्जा की व्यवस्था थी। नवविवाहिता वर-वधू के लिए कीमती पलंग होती थी, जिसे 'तल्प' कहा जाता था। प्रोष्ठ एक प्रकार का काष्ठासन था, जिस पर स्त्रियाँ बैठती तथा लेटती थीं। इसके अतिरिक्त कलश, द्रोण, चषक, स्थाली, तितऊ (चलनी), मूषल आदि गृहोपकरण भी होते थे।

खाद्य एवं पेय—ऋग्वेद काल में आर्यों का प्रमुख भोजन यव (जौ) की रोटी और दूध-दही था। आर्य यव से परिचित थे। जौ को जाँत में पीसा जाता था और चलनी से छानकर उसकी रोटी वनाई जाती थी। जौ का सत्तू भी बनता था जो आर्यों का प्रिय भोजन था। ऋग्वेद में धान्य का भी उल्लेख है किन्तु यहाँ धान्य का अर्थ सामान्य अनाज होता है। अपूप, करम्भ, सत्तू, पुरोडाश—ये आर्यों के स्वादु भोजन थे। दूध प्रधान पेय था। दूध धारोष्ण भी पिया जाता था और उससे बने विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ खाने के काम में आते थे। दूध को सोम में मिलाकर भी पिया जाता था। दूध से दधि तैयार किया जाता था, दधि को मथकर मक्खन निकाला जाता था और मक्खन को पिघलाकर घृत तैयार किया जाता था। इस प्रकार दूध और दूध से वने हुए दही, मक्खन, घी आदि का भोजन में विशेष महत्त्व था। ऋग्वेदकालीन आर्यों का प्रमुख पेय सोमरस था। सोम एक प्रकार का पौधा होता था जिसे कूटकर उसका रस निचोड़ा जाता था। फिर उसमें दूध, दही या पानी मिलाकर पिया जाता था। सोम में स्फूर्ति की शक्ति थी, उसे पीकर लोग मस्त हो जाते थे और शरीर में स्फूर्ति आ जाती थी।

वेश-भूषा—ऋग्वेदीय युग में दो प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे—एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय। ये वस्त्र ऊन के बनते थे। वस्त्र जरी के काम से सुसज्जित किये जाते थे। ऋग्वेद में इस प्रकार के वस्त्र को 'पेशस्' कहा गया है। पेशस् वस्त्र वुनने का कार्य स्त्रियाँ करती थीं। ऋग्वेद में 'निष्क' शब्द आया है। 'निष्क' गले में पहनने का स्वर्णाभूषण (हार) था। दूसरा आभूषण 'रुक्म' था जो डोरे में छाती तक लटकाकर पहिना जाता था, इसके लिए ऋग्वेद में 'रुक्मवक्षस्' शब्द आया है। इसके अतिरिक्त स्रज् (मोतियों की माला), कंकण (चूड़ियाँ), खादि (नूपुर) और कर्णशोभन (कर्णाभूषण) आदि आभूषण धारण किये जाते थे। केशपाश में तेल लगाया जाता था और उसे कंघी से सँवारा जाता था। अथर्ववेद में तो सौ दाँतों वाली कंघी का उल्लेख है। स्त्रियाँ केश को विभक्त कर वेणी बाँधा करती थीं। पुरुष भी कभी-

कभी जूड़ा बाँध लेते थे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा ऋग्वेदीय युग में प्रचलित थी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था—ऋग्वेद काल में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है। उस समाजरूपी पुरुष के चार अङ्ग हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। 'उसका मुख ब्राह्मण, भुजाएँ क्षत्रिय, जंघाएँ वैश्य और पाद को शूद्र के रूप में कल्पित किया गया।'[1] ब्राह्मण समाजरूपी पुरुष के मुखस्थानीय थे। जिस प्रकार सभी अङ्गों में मुख प्रधान है उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण प्रमुख थे। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द का उल्लेख कम बार हुआ है किन्तु ब्राह्मण के अर्थ में 'ब्रह्मन्' शब्द का उल्लेख है। सामान्यतया ब्राह्मणों का कर्त्तव्य वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, योगसाधन, तप, यम-नियमादि थे। समाज-सेवा इनका मुख्य कर्त्तव्य था। ऋग्वेद में क्षत्रिय शब्द का अनेक बार उल्लेख है। क्षत्रियं के प्रमुख कार्य राष्ट्र की रक्षा करना, यज्ञानुष्ठान, दान, अध्ययन, संयम एवं प्रजापालन थे। ऋग्वेद में वैश्य के लिए 'विश्' शब्द का प्रयोग है। वैश्य का कार्य सामान्यतः कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, दान, यज्ञ एवं वेदाध्ययन था। 'शूद्र' शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार उल्लिखित है। शूद्र का कार्य मुख्यतः तीनों वर्णों की सेवा करना था। आश्रम-व्यवस्था ऋग्वेदकालीन समाज का मुख्य आधार था। वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी गयी है और आयु के चार विभाग कर चार आश्रमों में विभाजित कर दिया गया है। ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास थे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के पचीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में बिताने पड़ते थे। वहाँ वह वेदाध्ययन करता था। वेदाध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम में मनुष्य को, ऋणत्रय से मुक्ति एवं पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के लिए पञ्चमहायज्ञ करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश होता था। इसमें मनुष्य को दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि का परित्याग करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास आश्रम में प्रवेश होता था। इसमें समस्त सांसारिक बन्धनों को त्याग करना पड़ता था, उनका मुख्य कर्त्तव्य समाजसेवा तथा परोपकार था। इस प्रकार वैदिकयुग में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विकास हो चुका था।

स्त्रीशिक्षा—ऋग्वेदकाल में स्त्रीशिक्षा का प्रचार था। उस समय स्त्रियाँ वेदाध्ययन करती थीं और मन्त्रों की रचयिता भी थीं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के दर्शनकर्त्री स्त्रियाँ थीं। घोषा नाम की ब्रह्मवादिनी ने दशममण्डल के ३९वें एवं

---

१. ऋग्वेद (पुरुषसूक्त) १०।९०।१२

४०वें सूक्तों की रचना की है। इससे विदित होता है कि उन दिनों स्त्रियाँ शिक्षिता होती थीं। इसके अतिरिक्त लोपामुद्रा, अपाला, लोमशा, विश्वावारा, सूर्या आदि ऋषिकाओं ने एक-एक सूक्तों की रचनाएँ की हैं। बृहस्पति की पत्नी जुहू, विवस्वान् की पुत्री यमी, श्रद्धा, सर्पराज्ञी आदि ऋषिकाओं ने भी एक-एक सूक्तों की रचनाएँ की हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियाँ मन्त्रों की रचना करने वाली थीं, स्त्रियाँ केवल मन्त्रों की रचयिता ही नहीं थीं, बल्कि कविताएँ भी करती थीं, गानविद्या में कुशल होती थीं, नृत्यकला भी जानती थीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।

नारी की दशा—ऋग्वेदकाल में नारी को गृहिणी का पद प्राप्त था। 'जायेदस्तं' के द्वारा बताया गया है कि जाया (पत्नी) ही घर है। पत्नी गृहिणी के पद से ही पति की आवश्यकताओं को पूरी करती थी। ऋग्वेद में सूर्या के विवाह के अवसर पर नारी के गृहिणी पद का सुन्दर वर्णन किया गया है। वहाँ पर नवोढ़ा वधू से कहा गया हैं कि 'गृह में प्रवेश करो और गृहिणी बनकर सब पर शासन करो।'[१] गृहिणी होने के कारण ही वह पति के साथ समस्त धार्मिक कार्यों का सम्पादन करती थी। गृहिणी पद के अतिरिक्त परमात्मा ने नारी को 'मातृपद' भी दिया है। माता का पद पारिवारिक जीवन में अमृत के समान है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर नारी के मातृत्वपद का मनोरम वर्णन है। एक स्थल पर कहा गया है कि 'जिस प्रकार पुत्र अपनी माता के गोद में आकर स्नेहपूर्वक बैठ जाता है उसी प्रकार विश्वेदेवा भी प्रेमपूर्वक यज्ञभूमि में आकर बैठ जाते हैं।'[२] मातृपद के अतिरिक्त नारी को सहचरी का पद भी प्राप्त था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'पतिगृह में रहकर हम दोनों एक साथ ही आजीवन सुखोपभोग करते हुए पुत्र-पौत्रादि के साथ खेलें।'[३] इस प्रकार ऋग्वेदीय युग में पति-पत्नी को सौमनस्य एवं उनका साहचर्य नारी को गौरव प्रदान करता है और उस युग में नारी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

ऋग्वेदकालीन धर्म (धार्मिक अवस्था)

जिसके द्वारा अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। श्रुति द्वारा जो कर्म समाज के कल्याण के लिए विहित हैं वे धर्म हैं। धर्म में ही समस्त जगत् की प्रतिष्ठा है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा) पुरुषार्थ

---

१. ऋग्वेद १०।८५।२५
२. वही, ७।४३।३
३. वही, १०।८५।४३

चतुष्टय में धर्म को प्रथम स्थान प्राप्त है। ऋग्वैदिक धर्म के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं—प्रथम भक्ति या श्रद्धा और द्वितीय यज्ञ। ऋग्वेद में देवताओं की जो स्तुति की गई है उसमें भक्ति या श्रद्धा की भावना ही लक्षित होती है। इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवताओं की स्तुतियों में भक्ति एवं श्रद्धा का अपार भण्डार है। देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति ही धार्मिक जीवन की मुख्य विशेषता रही है। ऋग्वैदिक देवताओं के तीन वर्ग हैं—द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथ्वीस्थानीय और उनकी संख्या तैंतीस बताई गई है। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता सम्बन्धित किये गये हैं।[१] तदनुसार द्यौः, वरुण, मित्र, आदित्य, सविता, सूर्य, विष्णु, अश्विनौ, पूषा, उषस् आदि द्युस्थानीय देवता कहे गये हैं, इन्द्र, मरुत्, रुद्र, वायु, पर्यन्य, आपः, अपांनपात् आदि अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं और पृथ्वी, सोम, अग्नि, वृहस्पति आदि पृथ्वीस्थानीय देवता कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नदियों को भी देवताओं में गिना गया है। मन्यु, श्रद्धा आदि कुछ भावात्मक देवता और द्यावापृथ्वी, मित्रावरुण आदि युगल देवता भी वर्णित हैं। सरस्वती, वाक् से सम्बन्धित एक-एक सूक्त हैं। ऋग्वेद में देवताओं के त्रिविध रूप वर्णित हैं—प्रथम आधिभौतिक रूप, जिनका स्थूलरूप हमें दृष्टिगोचर होता है। दूसरा आधिदैविक रूप, जिनका सूक्ष्मरूप भौतिक इन्द्रियों से दृष्टिगम्य नहीं है। तृतीय आध्यात्मिक रूप आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से परिपूर्ण था। ये ऋग्वैदिक देवता ही धर्म के प्रेरणास्रोत थे।

ऋग्वेदीय युग में यज्ञ को धर्म का एक विशेष अङ्ग माना जाता था। समस्त वैदिक वाङ्मय के संकलन का मूल उद्देश्य यज्ञ ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद में तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ ही प्रथम (मुख्य) धर्म है (तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्)।[२] शतपथब्राह्मण में, यज्ञ को ईश्वररूप माना गया है (विष्णुर्वै यज्ञः)।[३] इस प्रकार वेदों में यज्ञ को ईश्वर एवं धर्म का साक्षात् प्रतीक कहा गया है। इस यज्ञरूप धर्म का ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण वर्णन है। यज्ञ में अग्नि का विशिष्ट स्थान हैं। अग्नि की स्थापना गृह-देवता के रूप में की गई है। ऋग्वेद में उसे गृहपति और यज्ञ का पुरोहित कहा गया है (अग्निमीले पुरोहितम्)।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अग्नि को देवों एवं मानवों

१. ऋग्वेद १।१३९।११, १।१३९।११९, ८।२८।१

२. ऋग्वेद (पुरुषसूक्त) १०।९०।१६

३. शतपथब्राह्मण १।७।४।५

४. ऋग्वेद १।१।१

कें मध्य माध्यम माना जाता था; क्योंकि उस समय प्रत्येक यज्ञकर्त्ता गृहस्थ अग्नि के माध्यम से देवताओं को हविष् प्रदान करता था। उपनयन, विवाह आदि सभी संस्कार यज्ञाग्नि के द्वारा ही सम्पन्न होते थे। यज्ञ के विधिवत् सम्पादन के लिए ऋत्विजों (पुरोहितों) की आवश्यकता होती थी। 'होता' नामक ऋत्विक् यज्ञ के अवसर पर ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा देवताओं का आह्वान करता था, 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा यज्ञ की विधियों का सम्पादन करता था। 'उद्‌गाता' यज्ञ के अवसर पर सामगान करता था और 'ब्रह्म' नामक ऋत्विक् सब कार्यों का देख-भाल करता था। ये चार ऋत्विक् मिलकर यज्ञ का विधिवत् सम्पादन करते थे।

ऋग्वेदीय युग में भक्ति और यज्ञ, धर्म के ये दोनों रूप एक दूसरे के पूरक थे। उस समय धर्म के क्षेत्र में यज्ञ का विशिष्ट स्थान था। ऋग्वेद में अग्नि से सम्बन्धित लगभग दो सौ सूक्तों में यज्ञ का महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। लगभग एक सौ बीस सूक्तों में सोम का वर्णन है। सोम एक प्रकार का पौधा था, जिसे कूटकर सोमरस तैयार किया जाता था। यज्ञ के समय उसे देवताओं को चढ़ाया जाता था और ऋत्विक्, यजमान आदि स्वयं पीते थे। वसिष्ठ, रहूगण आदि ऋषियों ने सोमरस के महत्त्व का वर्णन किया है। सोमरस के पान से अमरत्व एवं सौभाग्य की प्राप्ति होती है। वह शक्तिप्रदायक, स्फूर्तिदायक एवं हर्ष का प्रदाता है। ऋग्वेद में सोम के महत्त्व का जो वर्णन है उससे स्पष्ट है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में सोम का कितना महत्त्व था। इस प्रकार ऋग्वेदीय युग में धर्म और यज्ञ दोनों ही मानव-जीवन के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन रहे हैं। मानव-जीवन के विकास में दोनों का योगदान रहा है, यही कारण है कि यज्ञ को धर्म का अङ्ग मान लिया गया था।

ऋग्वेदकालीन राजनीतिक अवस्था

प्राचीन भारतीय राजनीतिक इतिहास वैदिक युग से ही प्रारम्भ होता है। वैदिकयुगीन संस्कृति की पृष्ठभूमि में राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ होता है। ऋग्वेदीय युग में समाज राजनीतिक दृष्टि से पाँच भागों में विभाजित था— कुल (कुटुम्ब), ग्राम, विश्, जन तथा राष्ट्र। इस प्रकार तत्कालीन समाज का मूल आधार कुल या परिवार था। कुल का स्वामी 'गृहपति' कहलाता था, जो कुटुम्ब के सदस्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था। कई कुल मिलकर एक 'ग्राम' होता था जिसका प्रधान 'ग्रामणी' कहलाता था। वह ग्रामीण जनता की रक्षा, संगठन, शान्ति, न्याय एवं दण्ड की व्यवस्था करता था। उसकी सहायता के लिए 'ग्रामसभा' होती थी, जो 'ग्रामणी' का चयन करती

थी। कई ग्राम मिलकर एक 'विश्' होता था। ऋग्वेद में उसे 'विश्पति' कहा गया है। उसका मुख्य कार्य ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों की सुव्यवस्था एवं सुरक्षा थी। विशों के समुदाय को 'जन' कहते थे जिसका प्रधान जनपति (राजा) होता था। ऋग्वेदीय युग में पाँच जन प्रमुख थे–अनु, द्रुह्यु, यदु, पुरु और तुर्वस। 'राष्ट्र' वह प्रदेश कहलाता था, जिसके अन्तर्गत अनेक जन होते थे।[1] राष्ट्र के अभ्युदय एवं उसकी रक्षा के लिए आर्य अपने प्राणों की आहुति देने को तैयार रहते थे। राष्ट्र का स्वामी 'राष्ट्रपति' कहलाता था। राष्ट्रपति का कार्य राष्ट्र की रक्षा करना था। अभिषेक के अवसर पर राजा से कहा जाता था कि 'हे राजन्! आपको राष्ट्रपति बनाया गया है, आप इस राष्ट्र के स्वामी हैं, आप ध्रुव, अचल और स्थिर रहें, प्रजा आपको चाहें और आपका राष्ट्र नष्ट न होने पाये।'[2]

ऋग्वेदीय युग में दो प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित थी—राजतन्त्र और प्रजातन्त्र। राजतन्त्र में राजा परम्परागत होता था और प्रजातन्त्र में राजा का चुनाव होता था। किन्तु राज्याभिषेक दोनों का होता था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा यदि स्वेच्छाचरण करता था तो उसे पदच्युत कर दिया जाता था।[3] राजा के चुनाव में भाग लेने वाले 'राजकृतः' कहे जाते थे, किन्तु ये 'राजकृतः' कौन होते थे? यह ऋग्वेद से स्पष्ट नहीं होता, किन्तु अथर्ववेद के अनुसार इसके अन्तर्गत पाँच प्रकार के व्यक्ति होते थे—राजानः (राजपरिवार के व्यक्ति), ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार।[4] ये ही राजा का निर्वाचन करते थे और निर्वाचन के पश्चात् उनका राज्याभिषेक होता था। ऋग्वेद में बताया गया है कि इस जनता द्वारा राजा का चुनाव हो जाने पर वह 'सभा' और 'समिति' के परामर्श से राज्य का संचालन करता था।

सभा और समिति—वैदिक युग में दो प्रकार की संस्थाएँ थीं—सभा और समिति। सभा, समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी। इसमें जनपद के बड़े लोग एवं सम्भ्रान्त व्यक्ति थे जिनका चुनाव समिति द्वारा होता था। सभा का प्रधान कार्य न्याय करना था। समिति बड़ी संस्था थी। वह राजा का चयन करती थी और उसे हटा भी सकती थी। समिति का सम्बन्ध पूरे समाज से था

---

१. ऋग्वेद का दशम मण्डल।

२ ऋग्वेद १०।१७३।१

३. अथर्ववेद ३।४।२

४. वही, ३।५।६-७

और वह राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी।[1] अथर्ववेद में तो समिति को प्रजापति की पुत्री कहा गया है। इसमें राष्ट्र से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया जाता था। बाद में समिति की अपेक्षा सभा का महत्त्व अधिक बढ़ गया और सभा एक न्यायपालिका हो गई, जिसका अध्यक्ष राजा होता था। सभा के सदस्यों को 'सभासद्' कहा जाता था। उस समय सभा का सदस्य होना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इस प्रकार ऋग्वेदकालीन राजनैतिक जीवन में सभा तथा समिति का विशेष महत्त्व था।

ऋग्वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था

ऋग्वेदकालीन आर्थिक-जीवन कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, व्यापार एवं उद्योग-धन्धों पर निर्भर था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर कृषि एवं कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का उल्लेख आया है। उस समय कृषियोग्य भूमि को नापकर खेतों में बाँट दिया जाता था। एक परिवार के पास बहुत से खेत होते थे। ऋग्वेद में बताया गया है कि खेत की बोआई एवं कटाई ऋतु के अनुसार होती थी। किसान, जिसे ऋग्वेद में 'कीनाश' कहा गया है, हल से खेत को जोतते थे। ऋग्वेद में हल को 'सीर' एवं 'लाङ्गल' कहा गया है। जुतने के बाद उसमें बीज की बोआई की जाती थी। ऋग्वेद में बताया गया है कि आश्विन देवों ने मनु को हल से खेती करना तथा बीज-वपन की क्रिया बताई थी।[2] बीज-वपन के पश्चात् खेत की सिंचाई भी होती थी। उस समय सिंचाई वर्षा के जल, कुएँ तथा नहरों से होती थी। नालियों के द्वारा खेतों में पानी पहुँचाया जाता था। खेत में अनाज के पक जाने पर हँसिये से कटाई की जाती थी और उसे गट्ठों में बाँधकर खलिहान में लाया जाता था। तत्पश्चात् उसे साफकर अनाज को घर में रखा जाता था।[3] ऋग्वेदकाल में प्रमुखरूप से यव की खेती होती थी। धान्य की खेती भी होती थी, उसके लिए वर्षा के जल की विशेष आवश्यकता होती थी।

ऋग्वेदकाल में पशुपालन एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। उसे ही प्रधान धन समझा जाता था। उस समय की सबसे मूल्यवान् धन गौ थी। आर्य लोग गाय का पालन करते थे और उससे दूध, दही, घी, मक्खन आदि निकालते थे। गाय को तीन बार दुहा जाता था। गाय दुहने का कार्य प्रायः कुमारी कन्याओं का होता था, इसीलिए उसे 'दुहिता' कहा गया है। ऋग्वेद में गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है। गाय के द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था। वृष (वृषभ)

---

१. ऋग्वेद १०।१६६।४

२. ऋग्वेद १।११२।१६; १।११७।२१; ४।५७।४, ८;

३. वही, ८।७८।१०; १०।४८।७; १०।७१।२।

का उपयोग वाहन तथा खेती में किया जाता था। इनके अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थी। भेड़ के पालक को अविपाल और बकरी के पालक को अजपाल कहा जाता था। अश्व का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण था। घोड़ों का उपयोग युद्ध में, वाहन में तथा घुड़दौड़ में किया जाता था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में घोड़े की स्तुति की गई है।

ऋग्वेदकाल में वाणिज्य एवं व्यापार प्रमुख व्यवसाय था। उस समय अनाज, घी, दूध, वस्त्र आदि दैनिक जीवन के उपयोग की वस्तुओं का व्यापार प्रमुख था। तत्कालीन व्यापार दो प्रकार के होते थे—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक व्यापार आर्यों के देश के भीतर होता था, जिसमें अनाज एवं अन्य वस्तुएँ देश के विभिन्न भागों में पहुँचायी जाती थीं। इनमें व्यापारी अधिकांशतः पणि थे। ये लोग झुण्ड वनाकर व्यापार का सामान तथा गौएँ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे तथा माल बेचते व खरीदते थे। उस समय सोमविक्रय एक मुख्य व्यापार था, जिसका वर्णन ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में आया है। बाह्य व्यापार बाहरी देशों से होता था। ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख है। एक स्थान पर सौ अरित्र वाले जहाज का भी उल्लेख है।[1] इन नावों के द्वारा बाहरी देशों से व्यापार होता था। विदेशों में व्यापार करने के लिए व्यापारी इन नावों के द्वारा समुद्रयात्रा भी करते थे। ऋग्वेदकालीन प्रमुख उद्योग सूत कातना तथा कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर सूत कातने एवं कपड़ा बुनने का उल्लेख है। वहाँ पर कपड़ा बुनने वाले को 'वय' कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त रथ, आभूषण, हथियार आदि बनाने का कार्य भी होता था। रथकार (बढ़ई) रथ एवं लकड़ी का अन्य कार्य करता था। स्वर्णकार सोने को गलाकर विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करते थे। उस समय धातु गलाने, मिट्टी के बर्तन बनाने, चमड़े से विभिन्न वस्तुएँ बनाने तथा रस्सी बनाने का उद्योग प्रचलित था। इस प्रकार उस समय व्यापार के लिए बड़े-बड़े बाजार थे जहाँ पर विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे चलते थे। ऋग्वेद में वय, तक्ष्मन् (बढ़ई), हिरण्यकार, चर्मकार, कारु (शिल्पी), भिषक् (वैद्य) आदि व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है। वस्त्र का व्यापार उन्नतिशील था।

ऋग्वेद का रचनाकाल

ऋग्वेद विश्व का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसकी भाषा, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि इसे विश्व का प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। यही कारण है कि कुछ

---

१ ऋग्वेद १।२५।७; १।११६।५।

२. वही, २।३।६।

विद्वान् इसे 'अपौरुषेय' कहते हैं। उनका कहना है कि ऐसी ज्ञानराशि का निर्माण मानव द्वारा संभव नहीं है। किन्तु कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का गहन अध्ययन कर निर्माणकाल की सीमा निर्धारित करने का प्रयास किया है। फिर भी वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके जो कि सर्वमान्य मत हो। सामान्यतः प्राचीन भारतीय साहित्य के काल-निर्धारण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त उपयोग में लाये जाते हैं—

१. ब्राह्मण साहित्य तथा जैन एवं बौद्ध युग।

२. शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के, गोलियाँ आदि।

३. विदेशी विद्वानों के विवरण।

उपर्युक्त साधनों में अन्तिम दो सर्वथा अनुपयुक्त हैं क्योंकि वेद इन सब साधनों के जन्म से बहुत पहले के हैं। अतः केवल एक सिद्धान्त ही शेष रह जाता है जिसे साहित्य या भाषाविज्ञान का सिद्धान्त कह सकते हैं। भाषा वैज्ञानिकों का कथन है कि स्वाभाविक ध्वनियों एवं संकेतों के अनुकरण पर ही शब्दों की सृष्टि हुई हैं, जैसे कुत्ते के भौंकने पर भों-भों, मेढक के टर्राने पर टरटराहट, घोड़े के हिनहिनाने पर हिनहिनाहट आदि शब्दों की सृष्टि हुई है। इस प्रकार चाहे कोई भी भाषा हो, इस अनुकरण-प्रणाली के आधार पर ही उसकी रचना हुई है। अतः मनुष्य ही भाषा का निर्माता है। इसलिए वेद, क़ुरान, बाइबिल आदि सभी मानव-निर्मित ग्रन्थ हैं।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में मैक्समूलर ने सर्वप्रथम प्रयास किया है। उनका कथन है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में दो तिथियाँ सर्वमान्य हैं—सिकन्दर का आक्रमण और बौद्ध धर्म का उदय।[1] उनके अनुसार बौद्ध धर्म के उदयकाल तक समस्त वैदिक साहित्य का निर्माण हो चुका था, क्योंकि ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में वर्णित यागविधान ही बुद्ध की आलोचना का विषय था। बुद्ध का निर्वाण ४८३ ई० पू० में हुआ था अतः वैदिक वाङ्मय का निर्माण ५०० ई० पू० में हो चुका था। मैक्समूलर ने समस्त वैदिक वाङ्मय को चार भागों में विभाजित किया है और प्रत्येक काल में साहित्य-निर्माण एवं विकास के लिए दो सौ वर्षों का अन्तर माना है।

(१) छन्दःकाल	१०००–१२०० ई० पू०
(२) मन्त्रकाल	८००–१००० ई० पू०
(३) ब्राह्मणकाल	६००–८०० ई० पू०
(४) सूत्रकाल	२००–६०० ई० पू०

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (पृ० २१४)।

सूत्रकाल—सूत्रकाल में दो प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं—सर्वानुक्रमणी और परिशिष्ट। शौनक ने ऋग्वेद पर एक अनुक्रमणी लिखी है और कात्यायन ने ऋग्वेद पर सर्वानुक्रमणी और शुक्लयजुर्वेद पर अनुक्रमणी लिखी है। यदि इन रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि शौनक ने छन्द की स्वतन्त्रता अपनाते हुए मिश्रित श्लोकों में अनुक्रमणी लिखी है और कात्यायन ने गद्य एवं सूत्रशैली में लिखी है। शौनक की अनुक्रमणी में ऋग्वेद मण्डल, अनुवाक् और सूक्तों में विभाजित है और कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद का विभाजन अष्टक, अध्याय और वर्गों में हुआ है। दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि शाकल और वाष्कल शाखा तथा उनसे सम्बन्धित बालखित्य सूक्तों को मिलाकर कुल सूक्त-संख्या १०१७+११=१०२८ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शौनक और कात्यायन एक ही शाखा से सम्बन्धित हैं और शौनक, कात्यायन से प्राचीन हैं। षाड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनककुल में आश्वलायन, कात्यायन और पतञ्जलि हुए हैं। कथासरित्सागर में कात्यायन को नन्द का मन्त्री बताया गया है और उनका अपर नाम वररुचि है। यदि इस पर विश्वास कर लिया जाय तो कात्यायन का काल ३२५ ई० पू० निर्धारित होता है। मैक्समूलर पतञ्जलि का समय २०० ई० पू० और कीथ १५० ई० पू० मानते हैं।[1] पतञ्जलि और कात्यायन के मध्य २०० वर्ष का अन्तर माना जाता है। इस प्रकार कात्यायन का समय ३५० ई० पू० से ४०० ई० पू० तथा शौनक का काल ४०० ई० पू० माना जाता है। ये सब रचनाएँ सूत्रकाल के बाद की हैं अतः सूत्रकाल ६०० ई० पू० ठहरता है।

परिशिष्ट सूत्रकाल की अन्तिम रचना है। परिशिष्ट प्रत्येक वस्तु को प्रासादात्मक दृष्टि से देखता है और किसी वस्तु को इतना सरल बना देता है कि उसमें छिछलापन आ जाता है। सूत्रशैली का अपनाना यह सिद्ध करता है कि कोई बात तब तक नहीं सुनेंगे जब तक वह परिष्कृत भाषा एवं तर्कों से समन्वित न हो। इस प्रकार इन परिशिष्ट ग्रन्थों की भाषा-शैली के आधार पर सूत्रकाल ६०० ई० पूर्व का सिद्ध होता है। इस प्रकार सूत्रकाल ब्राह्मणकाल के पश्चात् का है और बुद्धकाल के उत्थान के प्रभात में जिसकी छाया परिशिष्ट में परिलक्षित होती है, इससे भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। सूत्रकाल के दो सौ वर्ष पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था, क्योंकि दो सौ वर्षों के अन्तराल में विचार, साहित्य और यज्ञ-परम्पराओं में पर्याप्त विकास हो गया था। अतः ब्राह्मणकाल ६०० ई० पू० से ८०० ई० पू० है। इस प्रकार ८०० ई०

पू० से १००० ई० पू० और छन्दःकाल १००० से १२०० ई० पूर्व है। यही ऋग्वेद का रचनाकाल है।

मैक्समूलर का यह मत केवल तर्क एवं भाषा पर आधारित होने से असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि वैदिक कात्यायन और वैयाकरण कात्यायन को एक मानकर काल-निर्धारण करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। दूसरे, इस तर्क में कोई प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक काल में दो सौ वर्षों का ही अन्तर रहा होगा। क्योंकि मानव का मस्तिष्क प्राचीनकाल में जितना विकसित था उतना परवर्ती काल में नहीं रहा होगा। अतः परवर्तीकाल के साहित्य के लिए अधिक समय लगना चाहिए। अतः उनका यह मत काल्पनिक प्रतीत होता है। बाद में मैक्समूलर ने भी अपने उक्त सिद्धान्त को शिथिल कर दिया। उनका कहना था कि संसार में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो कि यह निश्चित कर सके कि ऋग्वेद की रचना १००० या १५०० या २००० ई० पू० में हुई है। ह्विटनी ने उनके इस मत की कटु आलोचना की है और श्रोडर ने इस तिथि को १५०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) के समय ग्रीक एवं यूनानी विद्वानों के यहाँ जो वंशावली संगृहीत हुई है तदनुसार चन्द्रगुप्त तक १५४ राजवंश ६४५७ वर्षों तक भारत में राज्य कर चुके थे। ओरियन के अनुसार चन्द्रगुप्त तक १५३ राजवंश ६०४३ वर्ष तक राज्य कर चुके थे। इन समस्त राजवंशों के बहुत पहले ऋग्वेद की रचना हो चुकी थी। अतः ऋग्वेद का रचनाकाल ८००० ई० पू० का सिद्ध होता है।

ज्योतिषतत्त्व—हाग महोदय वेदाङ्ग ज्योतिष का काल ११८६ ई० पू० निर्धारित करते हैं और उसमें प्राप्त ज्ञान के आधार यह सिद्ध करते हैं कि १२०० ई० पू० तक भारतीयों ने ज्योतिष विज्ञान में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। इस प्रकार उनके मतानुसार १२०० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक ब्राह्मणग्रन्थों तथा १४०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक संहिताओं की रचना हो चुकी थी। सबसे प्राचीनतम वेद ऋग्वेद की रचना २४०० ई० पू० माना जा सकता है।

शङ्करबालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र' नामक ग्रन्थ में शतपथब्राह्मण का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि पहले कृत्तिका नक्षत्र पूर्व की ओर दिखाई देता था और आज कुछ उत्तर की ओर दिखाई देता है। यह स्थिति २५०० ई० पू० में थी। यही ब्राह्मणकाल था। तैत्तिरीय संहिता में कृत्तिका नक्षत्र का निर्देश है। तैत्तिरीय संहिता का काल ३००० ई० पू० है।

ऋग्वेद उससे ५०० वर्ष पहले रचा गया होगा। इस प्रकार ऋग्वेद का रचनाकाल ३५०० ई० पू० होना चाहिए।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक--ज्योतिर्विद्या के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ६००० ई० पू० निर्धारित करते हैं। उन्होंने समस्त वैदिक वाङ्मय को चार कालों में विभाजित किया है:—

(१) अदितिकाल	(६०००-४००० ई० पू०)
(२) मृगशिराकाल	(४०००-२५०० ई० पू०)
(३) कृत्तिकाकाल	(२५००-१४०० ई० पू०)
(४) अन्तिमकाल	(१४००- ५०० ई० पू०)

अदितिकाल—(६०००-४००० ई० पू०) पुनर्वसु नक्षत्र के देवता 'अदिति' हैं। अदिति को देवमाता कहलाने का रहस्य यही है कि वसन्त-सम्पात पुनर्वसु नक्षत्र पर होता था। पुनर्वसु पर ही सूर्य का सङ्क्रमण होने से उत्तरायण एवं देवयान का प्रारम्भ होता था। मृगशिरा नक्षत्र से दो नक्षत्र पीछे हटने के कारण इस काल में लगभग दो हजार वर्षों तक का अन्तर अवश्य रहा होगा। यही भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग है। यह युग ६०००-४००० ई० पू० तक माना जा सकता हैं। इसी युग में ऋग्वेद के कुछ मंत्रों की रचना अवश्य हुई होगी।

मृगशिराकाल—(४०००-२५०० ई० पू०) इस काल में वसन्त सम्पात मृगशिरा नक्षत्र पर होता था। नक्षत्रों की गणना मृगशिरा से ही होती थी। यह युग अत्यन्त महत्त्वशाली युग था। अच्छे-अच्छे सूक्तों की रचना इसी युग में हुई है। मृगशिरा नक्षत्र से कृत्तिका नक्षत्र तक दो नक्षत्र हटने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे। अतः जिन मन्त्रों में मृगशिरा नक्षत्र पर वसन्त सम्पात का उल्लेख है, वे मन्त्र इसी युग में ४५०० ई० पू० के लगभग रचे गये होंगे।

कृत्तिकाकाल (२५००-१४०० ई० पू०)—इस काल में वसन्त सम्पात कृत्तिका नक्षत्र पर होता था और कृत्तिका नक्षत्र से ही नक्षत्रों की गणना होती थी। उन दिनों कृत्तिका नक्षत्र में दिन-रात बराबर होता था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना इसी काल के अन्तिम भाग में हुई हैं; क्योंकि सूर्य और चन्द्र के उत्तर की ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है; यह स्थिति १४०० ई० पू० की प्रतीत होती है।

अन्तिमकाल (१४००-५०० ई० पू०)—इस काल में श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों की रचना हुई है। इसी युग में बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। यह वैदिक वाङ्मय की रचना का अन्तिम काल माना जाता है।

याकोवी ऋग्वेद का रचनाकाल ४५०० ई० पू० के आस-पास निर्धारित करते हैं। उनका कहना है कि कल्पसूत्र के विवाह प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय विवाह के अवसर पर वर-वधू को ध्रुवतारा दिखाने की प्रथा थी। उस समय ध्रुवतारा अत्यन्त चमकीला और अधिक स्थिर था। यह स्थिति लगभग २७०० ई० पू० में थी। याकोवी का कहना है कि २७०० ई० पू० में उत्तरी ध्रुव में एक ऐसा चमकीला तारा था जिसे 'अल्फा ड्राकोनिस' कहते हैं। सम्भवतः इसे ही सूत्रकाल में ध्रुवतारा का नाम दे दिया गया हो।[1] उसी समय कल्पसूत्र एवं गृह्यसूत्रों की रचना हुई होगी। इस आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ३००० ई० पू० ठहरता है।

बाद में याकोवी के इस मत का पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रबल विरोध हुआ। उनका कहना है कि ऋग्वेद में विवाह सम्बन्धी सूक्तों में ध्रुवतारा के दर्शन की कहीं भी चर्चा नहीं है। अतः इस आधार पर ऋग्वेद का काल-निर्धारण युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। किन्तु विण्टरनिट्ज का कथन है कि सम्भव है कि ऋग्वेद काल में विवाह के अवसर पर ध्रुवदर्शन की प्रथा न रही हो और परवर्त्तीकाल में यह प्रथा प्रारम्भ हुई हो। क्योंकि ऋग्वेद में सभी वैवाहिक विधियों की चर्चा नहीं है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से याकोवी के उक्त मत के खण्डन में कोई तर्क नहीं दिखाई देता कि ऋग्वेद का समय ३००० ई० पू० है और भारतीय संस्कृति का काल ४००० ई० पू०।[2] और आज की खोजों के आधार पर मैक्समूलर के मत की कल्पना भी निराधार प्रतीत होती है। क्योंकि आज का ज्ञान प्राचीन राजनैतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक इतिहास के विषय में उक्त कल्पना को स्वीकार नहीं कर सकता।[3] जी. बूलर का भी यही मत है।

शिलालेख एवं प्राचीन सिक्के, गोलियाँ आदि--

बूलर का कहना है कि 'आर्यों ने ७००–६०० ई० पू० में दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर लिया था। इस आधार पर यह कल्पना निराधार प्रतीत होती है कि भारतीय आर्य १२०० या १५०० ई० पू० में भारत के उत्तर प्रदेश में तथा अफगानिस्तान के पूर्वी प्रदेश में बस गये थे। वैदिक साहित्य के प्रारम्भ काल में ये सिन्धु नदी से गङ्गा के तट की ओर बढ़ चुके थे। अतः इन्हें दक्षिण-विजय करने में कई शताब्दियाँ लगी होंगी, क्योंकि प्राचीनकाल में आर्य-जातियों में परस्पर अनवरत युद्ध होते रहते थे। इन परिस्थितियों में भारत–

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (पृ० २१७)
२. वही पृ० २१८-२१९
३. वही पृ० २१९

विजय का कार्य अत्यन्त मन्दगति से ही हो सकता है।[1] वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में जैसा कि कहा जाता है कि पहले यह मौखिक परम्परा से चलता आ रहा था, उसे संहिता के रूप में संकलित करने तक कई शताब्दियाँ लगी होंगी। इसी प्रकार ब्राह्मण एवं उपनिषद्-काल तक इस विशाल वाङ्मय के विकास के लिए भी कई शताब्दियों का काल अपेक्षित है।[2] इस सुदीर्घ परम्परा में उपनिषद्-काल तक आर्य केवल गाङ्गेय प्रदेश तक ही पहुँच सके थे। जब इतने सुदीर्घकाल में वे केवल गाङ्गेय प्रदेश तक ही पहुँच सके तो दक्षिण प्रदेश के जीतने में कितना समय लगा होगा ?[3] अतः दक्षिण विजय के आधार पर ऋग्वेद का काल निर्धारण युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

जे० हर्टल, ह्यूत्सिग के विचारों के आधार पर लिखते हैं कि १००० ई० पू० में भारतीयों ने अफगानिस्तान की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया था, जहाँ पर ऋग्वेद-काल में आर्य निवास करते थे। उनके मतानुसार ऋग्वेद की रचना ईरान में हुई थी। हर्टल का कहना है कि ऋग्वेद में वर्णित कनित पृथुश्रवा पूर्णरूप से सिथियन राजा कनितास् (२०० ई० पू०) से मिलता जुलता है। यूनानी शिलालेखों एवं सिक्कों पर राजा कनितास् का नाम मिलता है। ये शिलालेख २०० ई० पू० के हैं।[4] इस समय तक ऋग्वेद का संकलन नहीं हो पाया था। अतः ऋग्वेद का समय १५० ई० पू० में होना चाहिए।

ह्यूगो विकलर को १९०७ ई० में एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के बोगाजकोई नामक स्थान पर खोदाई करने पर कुछ गोलियाँ एवं शिलालेख मिले हैं। इन गोलियों एवं शिलालेखों पर 'हित्तिति' एवं 'मित्तानि' जातियों के सन्धि के अवसर पर राजपरिवार के देवताओं के साथ मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ आदि वैदिक देवताओं के नाम भी अङ्कित हैं। इस सम्बन्ध में कोनों का विचार है कि हित्तित्ति जाति का राजा 'सुब्बिलुलिउम' और मित्तानि जाति का राजा 'मत्तिउज' था। दोनों में युद्ध के अनन्तर परस्पर सन्धि हुई थी और यह सन्धि मित्तानि राजा का हित्तित्ति राजा की राजकुमारी के साथ विवाह से सम्पन्न हुई थी। विवाह सम्बन्धी कर्मकाण्ड में 'नासत्यौ' की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। इस दृष्टि से सन्धि-पत्र में 'नासत्यौ' का उल्लेख किया गया होगा। इस आधार पर कोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोसोपोटामिया में भारतीय आर्यसभ्यता का प्रसार उस समय हुआ, जबकि ऋग्वेद

---

१ भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २२०

२. प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३४०

३. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २२२

४. वही पृ० २२६

का मुख्य भाग लिखा जा चुका था।"[१] इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का प्राचीनतम अंश मित्तानि सन्धि के बहुत पहले लिखा जा चुका था। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि १४०० ई० पू० में ही आर्य जातियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत से पश्चिम में पहुँच चुकी थी और इस युग तक वैदिक देवों की पूर्ण-प्रतिष्ठा हो चुकी थी और ऋग्वेद की रचना इससे बहुत पहिले लगभग २००० ई० पू० या इससे भी पूर्व में हो चुकी थी। गाइल्स का भी यही मत है किन्तु ओल्डनवर्ग का मत है कि 'ये देवता पश्चिमी देशों के पाश्चात्य आर्य जाति की किसी धार्मिक शाखा से सम्बद्ध हैं और भारतीय देवताओं से मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों का मूलस्रोत एक ही था, जो भारतीय संस्कृति एवं धर्म का मूलस्रोत था वही पाश्चात्य आर्यसंस्कृति एवं धर्म का भी मूलस्रोत था। अतः इस आधार पर वेदों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। विन्टरनिट्ज, जैकोवी आदि विद्वान् उक्त मृत्तिकाफलकों पर भारतीय देवताओं का नाम अङ्कित होने के उक्त कारण का समर्थन करते हुए कहते हैं कि ये देवता तो भारतीय हैं किन्तु अन्य बातें निराधार है। अतः इन मृत्तिकाफलकों के आधार पर ऋग्वेद का काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

भूगर्भशास्त्र का आधार—

डा० सम्पूर्णानन्द ने भूगर्भशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्यों का आदिम निवास 'सप्तसैन्धव' प्रदेश था। उन दिनों जहाँ वह भूखण्ड था वहाँ आज काश्मीर की उपत्यका, राजपूताना और उत्तर प्रदेश स्थित हैं। उन दिनों हिमालय समुद्र के ऊपर उठ रहा था, पृथ्वी में बराबर प्रकम्प आते थे, पर्वत चञ्चल थे, यह स्थिति आर्यों ने स्वयं देखी थी।[२] भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार यह स्थिति ५००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक थी। अतः ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की रचना इस काल में हुई होगी।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[३] में 'सप्तसैन्धव' के पूर्व और पश्चिम दो समुद्रों का और दो मन्त्रों[४] में चार समुद्रों का उल्लेख है। ये चारों समुद्र आर्य-निवास के चारों ओर विद्यमान थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र[५] से ज्ञात होता है कि सरस्वती और सुतुद्रि नदियाँ समुद्र में गिरती थी। यही दक्षिणी समुद्र था। ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जहाँ आजकल राजस्थान प्रदेश है वहाँ प्राचीन

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास पृ० २२४
२. आर्यों का आदि देश (डा० सम्पूर्णानन्द) पृ० ३६
३. ऋग्वेद १०।१३६।२
४. वही ६।३३।६; १०।४७।२
५. वही ३।३३।२

काल में एक विशाल समुद्र लहरा रहा था। यह अरावली पर्वत के दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ था। आज भी राजस्थान में खारे जल की झीलें (सांभर झील) तथा नमक की तहें यह सिद्ध करती हैं कि किसी समय यह राजस्थान प्रदेश समुद्र से आप्लावित था। पश्चिमी समुद्र कदाचित् अरबसागर था जो आज भी विद्यमान है। पूर्वी समुद्र पंजाब के पूर्व में समस्त गाङ्गेय प्रदेश को आप्लावित करके अवस्थित था। उत्तरी समुद्र एशिया के उत्तर में बलख् और फारस के उत्तरी भाग में स्थित एक विशाल समुद्र था, जिसे भूगर्भशास्त्री 'एशियाई भूमध्यसागर' कहते हैं। इसका उत्तर में आर्कटिक महासागर से सम्बन्ध था। एशियाई समुद्र का तल ऊँचा था और यूरोप वाले का नीचा। प्राकृतिक परिवर्त्तनों के कारण एशियाई समुद्र का जल यूरोपीय समुद्र में चला गया और एशियाई समुद्र सूख गया। भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार इसके अंश सूखकर कृष्ण ह्रद (Black Sea) कश्यपह्रद (Caspeon sea), अरालह्रद (Sea of Aral) और बल्काशह्रद (Sake Balkash) के रूप में आज भी विद्यमान हैं। यही उत्तरी समुद्र था। एच० जी० वेल्स के अनुसार इन चारों समुद्रों का अस्तित्व २५०० वर्ष से लेकर ५००० वर्ष के मध्य माना जाता है। भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि २५००० ई० पू० से ७५००० ई० पू० के मध्य ये सभी लुप्त, गुप्त एवं रूपान्तरित हुए हैं। अतः ऋग्वेद के मन्त्रों का रचनाकाल ७५००० ई० पू० तक माना जा सकता है।

डा० अविनाशचन्द्र दास भूगर्भशास्त्र के आधार पर वैदिक सभ्यता का आविर्भाव २५००० ई० पूर्व मानते हैं और इसी युग में ऋग्वेद का रचनाकाल भी माना है। उनका कहना है कि पंजाब के दक्षिण में राजपूताना समुद्र था जिसमें सिन्धु एवं सरस्वती नदियाँ गिरती थी। आज राजपूताना रामुद्र सूख गया है और सरस्वती नदी विलुप्त हो गई है। यह स्थिति २५००० ई० पू० में थी।[1] अतः ऋग्वेद की रचना इसी काल में हुई होगी।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के प्रतिपाद्य विषय, संस्कृति एवं सभ्यता पर विचार न कर केवल कालनिर्णय पर ही विशेष जोर दिया है। किन्तु भूगर्भशास्त्र, ज्योतिषतत्त्व एवं अन्याय प्रमाणों के आधार पर फ्रेडरिक श्लेगन ने लिखा है कि "वेद संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं और इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इसकी भाषा भारतीयों के लिए उतनी ही कठिन है जितनी विदेशियों के लिए।"[2]

---

१. ऋग्वेदिक इण्डिया (डा० अविनाशचन्द्र दास)

2. Friedrick Schlegel—On the Language and Wisdom of the Indians

दूसरे जर्मन विद्वान् वेवर ने लिखा है कि 'वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। ये उस उस तिथि के बने हुए हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाणराशि हमें उस समय के उन्नत शिखर पर पहुँचाने में असमर्थ है।[१]

उपर्युक्त मतों की समीक्षा के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय के काल निर्धारण के सम्बन्ध में पर्याप्त ऊहापोह किया है, किन्तु पर्याप्त अनुसन्धान एवं विचार विमर्श के पश्चात् भी वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः सभी विद्वानों के मत अधिकांशतः तर्क पर आधारित हैं। ठोस प्रमाणों के अभाव में केवल तर्क पर आधारित सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। प्रायः सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि ऋग्वेद विश्व का सवसे प्राचीनतम ग्रन्थ है और यह भी निश्चित है कि ऋग्वेद किसी एक समय, एक काल की रचना नहीं है। ऋषियों ने विभिन्न कालों में गहन मनन, चिन्तन से जो ज्ञान राशि अर्जित की है उसी का संकलन ऋक्संहिता है। अतः यह किसी एक काल की रचना नहीं कही जा सकती। पहले यह संहिता मौखिक रूप में ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों में प्रचलित रही है और परम्परया इसका प्रचार-प्रसार होता रहा है। जब लिपि का प्रारम्भ हुआ उस समय मन्त्रों का संग्रह कर संहिता तैयार कर ली गई। यही काल ऋग्वेद के संकलन का समय है और इसी को ऋग्वेद का रचनाकाल माना जाने लगा। जबकि वास्तविक स्थित दूसरी है। ऋग्वेद के मन्त्रों के सकलन कर्त्ता अनेक ऋषि हैं और जो मन्त्र अथवा सूक्त जिस ऋषि से सम्बद्ध हैं उस ऋषि का समय ही उन सूक्तों एवं मन्त्रों का रचनाकाल कहा जा सकता है।

हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न दो हैं—एक तो ऋग्वेद का रचनाकाल और दूसरा ऋग्वेद का संकलन काल। जहाँ तक ऋग्वेद के रचनाकाल का प्रश्न है ऋग्वेद किसी एक काल एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है वल्कि वर्षों के साधना के उपरान्त अनेक ऋषियों के द्वारा दृष्ट ज्ञान एवं साधना का फल है जिसे ऋषियों ने विभिन्न कालों में दर्शन किया है। इसलिए वे मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। अतः ऋग्वेद के मन्त्रों एवं सूक्तों को एक काल की रचना नहीं कहा जा सकता। दूसरा प्रश्न ऋग्वेद के संकलन काल का है। जब लेखन कला का प्रादुर्भाव हुआ और मानव ज्ञानराशि को कण्ठस्थ परम्परा द्वारा सुरक्षित रखने में अपने को असमर्थ पा रहा था, उस समय ऋग्मन्त्रों एवं सूक्तों का संग्रह कर एक संहिता तैयार की गई, जिसका 'ऋक्संहिता' या 'ऋग्वेद' नाम पड़ा।

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (वेबर)

यह संकलन कब तैयार किया गया ? इस प्रश्न पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किये हैं और अपने विचारों एवं तर्कों के आधार पर भिन्न-भिन्न काल निर्धारित किये हैं। ऋग्वेदकालीन भाषा, साहित्य, संस्कृति और अन्य आवश्यक सामग्री के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद का संकलन उस समय किया गया होगा, जब आर्य लोग अत्यन्त समृद्ध, सम्पन्न एवं व्युत्पन्नावस्था रहे होगें। यह स्थिति लगभग २००० ई० पू० की कही जा सकती है; क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना ऋग्वेद संकलन काल के बहुत बाद की गयी है। रामायण एवं महाभारत का रचनाकाल ५००-६०० ई० पू० माना जाता है और पाणिनि का समय ७०० ई० पू० माना जाता है। ऋग्वेद के संकलन काल से रामायण एवं महाभारत के रचना तक वैदिक मन्त्रों के विकास के लिए पर्याप्त समय लगना चाहिए और दोनों के मध्य में लगभग १००० वर्ष का अन्तराल होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ऋग्वेद के सूक्तों का संकलनकाल १५०० ई० पू० के बहुत पहले अर्थात् २००० ई० पू० के पहले का होना चाहिए।

परवर्ती वेद

३

सामवेद

वैदिक वाङ्मय में सामवेद का विशिष्ट स्थान है। भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदों में सामवेद को अपना ही स्वरूप मानकर इसकी महत्ता की घोषणा की है (वेदानां सामवेदोऽस्मि)। शौनक ने तो यहाँ तक कहा है कि जो साम को जानता है वही वेद के रहस्य को भी जानता है (समानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्)। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी साम का महत्त्व प्रतिपादित है। ऋग्वेद कहता है कि जो व्यक्ति जागरणशील है उसी को साम की प्राप्ति होती है (यो जागार तमु सामानि यन्ति)[1]। अथर्ववेद में साम को परब्रह्म का लोमभूत माना गया है (सामानि यस्य लोमानि)[2]। इस प्रकार सामगायन की परम्परा अर्वाचीन न होकर प्राचीनतम है। यहाँ तक कि ऋग्वेदकाल में भी सामगायन की परम्परा विद्यमान रही है। उस समय यज्ञानुष्ठान में ऋत्विज उच्च स्वर से साम-गायन करते थे। यही साम-गायन संगीतशास्त्र की आधारशिला है।

साम का अर्थ है गायन। ऋचाएँ जब विशिष्ट गान-पद्धति से गायी जाती हैं तो उसे साम कहते हैं। जैमिनीय सूत्र में गीति को ही साम की संज्ञा प्रदान की गई है (गीतिषु सामाख्या)[3]। वृहदारण्यकोपनिषद् में साम शव्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गयी है सा का अर्थ है ऋक् और अम् का अर्थ है स्वर। इस प्रकार ऋक् से सम्वद्ध स्वर प्रधान गायन को साम कहते हैं (सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। तया सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्त्तते तत्साम)[4]। इस प्रकार जो गान भिन्न-भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते हैं उसे 'साम' कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि वाणी का व्यवहार ऋक् में निहित है और ऋक् का सार साम में सन्निविष्ट है। यदि वाणी ऋक् है तो साम उसका प्राण है।

---

१. ऋग्वेद ५।४४।१४
२. अथर्ववेद ९।६।२
३. जैमिनिसूत्र २।१।३६
४. वृहदारण्योपनिषद् १।३।२२

साम की गति स्वरों में निर्दिष्ट हुआ करती है; स्वर ही साम का सर्वस्व है, प्रधान अङ्ग है, (का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच)[१]। इस प्रकार विशिष्ट स्वरों के सन्निवेश का नाम साम है। साम का अर्थ गान है पर स्वराधिष्ठान के रूप में जब इसका सम्बन्ध ऋचाओं से होता है तब वह गेय का बोधक होता है। साम शब्द वस्तुतः गान का द्योतक है। इसीलिए ऋग्वेद के समस्त गेयमन्त्रों के लिए 'साम' शब्द का प्रयोग होने लगा। जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते थे उनको 'सामयोनि' नाम से अभिहित किया जाता रहा है।[२] सामवेद इन्हीं सामयोनि ऋचाओं का संग्रह है।

सामवेद का स्वरूप—

सामवेद के ऋत्विज का नाम 'उद्‌गाता' है। उद्‌गाता ऋग्वेद की ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत रूप में गायन करता था। उद्‌गाता के उपयोग के लिए इन ऋचाओं का संकलित रूप सामवेद है। सामवेद में केवल ७५ मन्त्रों को छोड़कर शेष ऋग्वेद से ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गये हैं। सामवेद में केवल उन्हीं मन्त्रों का संग्रह है जिनका गान सोमयाग में विहित है। इनमें अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद के अष्टम एवं नवम मण्डल से लिए गये हैं। सामवेद में इन मन्त्रों का स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये गायन के लिए निहित हों। ये गेय मन्त्र गान-संहिताओं में संकलित हैं।

सामवेद के दो भाग हैं—आर्चिक तथा गान। इनमें आर्चिक शब्द का अर्थ ऋक्‌समूह है। इसके भी दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक् हैं। प्रत्येक प्रपाठक में दो खण्ड, प्रत्येक खण्ड में दशति और प्रत्येक दशति में ऋचाएँ हैं। इनमें प्रथम पांच प्रपाठकों की ऋचाएँ 'ग्रामगान' नाम से अभिहित हैं। षष्ठ प्रपाठक की ऋचाएँ 'आरण्यगान' नाम से कथित हैं। इनमें मन्त्रों की संख्या ६५० है। उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं। प्रथम पांच प्रपाठकों में दो-दो भाग हैं और अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्धक हैं। उत्तरार्चिक की समग्र मन्त्र संख्या १२२५ है। दोनों आर्चिकों की सम्मिलित मन्त्र संख्या १८७५ है। श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी का कथन है कि सामवेद के सभी मन्त्र ऋग्वेद से नहीं लिये गये बल्कि उससे स्वतन्त्र भी हैं और वे उतने ही प्राचीन हैं जितने कि ऋग्वेद के मन्त्र। इस प्रकार सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता है।

सामवेद की शाखाएँ

पतञ्जलि ने सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख किया है

---

१. छान्दोग्योपनिषद् १।८४
२. सामवेद—सायण भाष्य, भाग १ पृ० २२

(सहस्रवर्त्मा सामवेदः)[1]। पुराण भी एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख करते हैं। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में सामवेद के एक हजार अस्सी (१०८०) शाखाओं का उल्लेख है (साशीतिसहस्रधा भिन्ना)[2]। शौनक चरणव्यूह के अनुसार सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ थी, किन्तु इनमें से अनेक अनध्याय के दिन पढ़े जाने से इन्द्र के द्वारा वज्र-प्रहार से नष्ट कर दिये गये (सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति। एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतु-वज्रेणाभिहताः)। जैमिनिगृह्यसूत्र में तर्पण प्रकरण में तेरह आचार्यों के नाम उपलब्ध हैं—जैमिनि, तलवकार, सात्युग्र, राणायनि, दुर्वासस, भागुरि, गौरुण्डि, गौर्गुलजि, औपमन्यव, कारडि, सावर्णि, गार्ग्य, वार्षगण्य और दैवन्त्य। किन्तु इनमें से केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ सम्प्रति उपलब्ध हैं—कौथुमीय, राणायनीय और जैमिनीय।

पुराणों के अनुसार महर्षि वेदव्यास ने अपने शिष्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी (सामगो जैमिनिः कविः)। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु ने सुन्वानु को और सुम्वानु से सुकर्मा को साम की शिक्षा दी। सुकर्मा की प्राच्य और उदीच्य दो शिष्य-परम्पराएँ आविर्भूत हुईं। प्राच्य-परम्परा के शिष्य हिरण्यनाभ कौशल्य थे जो पूर्वीय प्रान्त के रहने वाले थे। इस परम्परा के आचार्य 'प्राच्य-सामग' कहलाये। उदीच्य-परम्परा के पौष्यञ्जि थे, भागवत के अनुसार इनके पांच शिष्य थे—लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि। वायु तथा ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार पौष्यञ्जि के चार शिष्य थे—लौगाक्षि, कुथुमि, कुसीदी और लाङ्गलि। इस परम्परा के शिष्य 'उदीच्य-सामग' कहलाये। श्रीमद्भागवत में भी दो परम्पराओं का उल्लेख किया है—प्राच्य-सामगाः और उदीच्य-सामगाः[3]। इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने साम-गायन का प्रचार किया। पुराणों में इनकी शिष्य-परम्परा की एक लम्बी सूची दी हुई है।

किन्तु आज केवल तीन ही शाखाएँ प्रचलित हैं—कौथुमीय, राणायनीय और जैमिनीय। इनमें कौथुमीय का प्रचार गुर्जरदेश में, राणायनीय का महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय का कर्णाटक में अधिक है। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक उपादेय एवं लोकप्रिय है। प्रो० कौलेण्ड के अनुसार कौथुम की अवान्तर शाखा 'ताण्डच' नाम से प्रसिद्ध है। जिससे सम्बद्ध ताण्डच अथवा पंचविंश ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। राणायनीय शाखा कौथुम से छोटी है। यह कौथुम शाखा

---

१. महाभाष्य, पश्पशाह्निक
२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १
३. श्रीमद्भागवत १२।६।७८

से अधिक भिन्न नहीं है। केवल उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य दिखायी देता है। कौथुमीय शाखा के लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' का उच्चारण करते हैं वहाँ राणायनीय शाखा के अनुयायी 'हावु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। जैमिनीय शाखा का प्रचार कर्नाटक में अधिक है। 'तवल्कार शाखा' इसकी अवान्तर शाखा बतलायी गयी है। पाणिनि ने इस शाखा का उल्लेख 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' इस सूत्र के गणपाठ के अन्तर्गत किया है।

सामवेद का वर्ण्य-विषय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सामवेद के दो भाग हैं—आर्चिक और गान। आर्चिक के भी दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में छः अध्याय हैं। इनमें प्रथम अध्याय को आग्नेय काण्ड कहते हैं। इसमें अग्नि देवता से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन है। द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र-विषयक मन्त्रों का संग्रह है। इसे 'ऐन्द्र पर्व' कहते हैं। पञ्चम अध्याय 'पवमान पर्व' है। इसमें सोम-विषयक मन्त्र संगृहीत हैं। ये सभी ऋग्वेद के नवम मण्डल से संगृहीत हैं। षष्ठ अध्याय 'आरण्यक पर्व' है। इनमें प्रथम से पञ्चम अध्याय तक की ऋचाएं 'सामगान' और षष्ठ अध्याय की ऋचाएँ 'आरण्यगान' के नाम से अभिहित हैं। पूर्वार्चिक में कुल ६५० ऋचाएँ हैं। इनमें १७५ ऋचाएँ साम से सम्बद्ध हैं। इन ऋचाओं का प्रयोग केवल यज्ञ में होता था।

उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं। इनमें प्रथम पांच प्रपाठकों में दो-दो भाग और अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्धक हैं। समस्त मन्त्रों की संख्या १२२५ है। इनमें चार सौ गीत हैं। इसमें यज्ञों की दृष्टि से गीतों का संग्रह किया गया है। दोनों में कुल १८७५ मन्त्र हैं। इनमें ३६७ मन्त्र दोनों में पुनरुक्त हैं। अन्य मतानुसार दोनों में १५४९ ऋचाएँ हैं। इनमें ७५ ऋचाओं को छोड़कर शेष ऋग्वेद से ली गई हैं। पूर्वार्चिक में मूलभूत ऋचाएँ संगृहीत हैं और उत्तरार्चिक में धुन पर गायी जाने वाली तृचों एवं प्रगाथों का संग्रह है। इस प्रकार उत्तरार्चिक पूर्वार्चिक का पूरक प्रतीत होता है।

गानमन्त्रों के चार प्रकार हैं—ग्रामगान, आरण्यगान, ऊहगान और ऊह्यगान। ग्रामगान को वेयगान या प्रकृतिगान भी कहते हैं। पूर्वार्चिक का प्रथम से पंचम अध्याय तक ग्रामगान के अन्तर्गत आता है। इनमें अग्नि, इन्द्र, पवमान आदि देवों के स्तुतिपरक ऋचाएं हैं आरण्यगान को 'रहस्यगान' भी कहते हैं। इसमें साम के मूलभूत सप्तगानों के अर्कद्वन्द्ववृत, शुक्रिय और महासाम्नी का समावेश आरण्यगान के अन्तर्गत होता है। सम्भवतः इन गानों का स्वरूप आरण्य-संगीत की स्वर लहरियों से निर्मित हुआ हो इसीलिए इसका नाम 'आरण्यगान' पड़ा हो। ये दोनों ही गान मूलभूत गान हैं किन्तु संगीत-शैली की विशेषताओं के

कारण इनमें अन्तर है। ऊहगान और उह्यगान का आधार ग्रामगान और आरण्यगान हैं (ऊहगानं ग्रामे गेयवत् ऊह्यगानमारण्यगेयवत्)[1]। ग्रामगान का परिर्वातित एवं परिर्वद्धित रूप ऊहगान में और आरण्यगान का परिर्वत्तित एवं परिर्वद्धित रूप ऊह्यगान में उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गायकों की स्वतन्त्र प्रतिभा और उर्वर कल्पना के कारण ही ग्रामगान और आरण्यगान में परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन हुआ हो। इस प्रकार ग्रामगानों की परम्परागत धुनों के आवश्यक परिवर्त्तन ऊहगान और आरण्यगान के आवश्यक परिवर्त्तन ऊह्यगान कहलाये।

सामगान की विधि एवं विभाग—

सामगान की विधि अत्यन्त कठिन है। इसके ज्ञान के लिए सूक्ष्म अध्ययन एवं कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। वैदिकवाङ्मय में साम के पाँच या सात अङ्ग बताये गये हैं। पञ्चविधमूत्र के अनुसार सामगान के पांच भाग निम्न प्रकार हैं—

प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तय:

अर्थात् सामगान के प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन ये पांच भाग हैं। इन पञ्चविध साम के अवान्तरभेद से सप्तविध सामों की उत्पत्ति होती है।

१. प्रस्ताव—यह साम का आरम्भिक भाग है जो 'हुम्' से प्रारम्भ होता है। इसका गान प्रस्तोता करता है। जैसे—

हुं ओग्नाई

२. उद्‌गीथ—इसका प्रारम्भ 'ओम्' से किया जाता है। इसका गान उद्‌गाता नामक ऋत्विज करता है। जैसे—

ओम् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये

३. प्रतिहार—यह दो विभागों को जोड़ने वाला भाग है। इस विभाग के कभी-कभी दो उपविभाग भी किये जाते हैं। इसका गान प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विज करता है। जैसे—

नि होता सत्सि बर्हिषि ओम्

४. उपद्रव—यह प्रतिहार का एक उपविभाग है जिसका गान उद्‌गाता नामक ऋत्विज करता है। प्रतिहर्त्ता द्वारा मुख्य प्रतिहार का गान किये जाने पर उसी का जो खण्डशः गान किया जाता है वह उपद्रव कहलाता है। जैसे—

---

१. पुष्पसूत्र भाष्य ८।८७

नि होता सत्सि ब-

५. निधन—प्रतिहार के शेष अंश में 'ओम्' जोड़कर प्रस्तोता, उद्‌गाता और प्रतिहर्त्ता नामक तीन ऋत्विज एक साथ गान करते हैं। जैसे—

हिंषि ओम्

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सामगान के सात विभाग हैं—हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। पञ्चविध सामगान के अवान्तर भेद करने से ही इन सप्तविध सामों की उत्पत्ति होती है। इनमें हिंकार प्रयोग साम के आरम्भ में होता है।

सामविकार—

सामगान में संगीत के अनुकूल जो शाब्दिक परिवर्त्तन किया जाता है उसे सामविकार कहा जाता है। सामविकार छः प्रकार के होते हैं—

(१) विकार (२) विश्लेषण, (३) विकर्षण (४) अभ्यास (५) विराम और (६) स्तोभ।

(१) विकार—अक्षर या शब्दों का आवश्यकतानुसार जो परिवर्तन किया जाता है तो उसे विकार कहते हैं। जैसे—

'अग्ने' के स्थान पर 'वोग्नायि' रूप।

२—विश्लेषण—जब अक्षर या पदों का आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जाता उसे विश्लेषण कहते हैं। जैसे—

'वीतये' के स्थान पर 'वोपि तोया रयि' उच्चारण करना।

३—विकर्षण—एक स्वर को दीर्घकाल तक विभिन्न रूपों में उच्चारण करना, या ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ, दीर्घ के स्थान पर प्लुत का उच्चारण करना विकर्षण कहलाता है जैसे—

'ये' के स्थान पर 'या २, ३ यि' का उच्चारण।

४—अभ्यास—किसी पद का बारम्बार उच्चारण करना अभ्यास है। जैसे—

'तोयापि, तोयापि'।

५—विराम—गान-सौकर्य के लिए पद के बीच में रुक जाना विराम कहा जाता है। जैसे—

गृणानो हव्यदातये' के स्थान पर 'गृणानो ह व्यदातये' उच्चारण करना।

६—स्तोभ—ऋक् के अतिरिक्त गानयोग्य अवान्तर वर्णों या पदों को जोड़ लेना 'स्तोभ' कहलाता है। जैसे—

'हाऊ' 'औहोवा' आदि पद।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामगान का प्राण स्वर है। साम का आरम्भ भी 'ओम्' स्वर से होता है। (ओमिति सामानि गायन्ति) और साम का अवसान भी इसी स्वर में होता है। इन्हीं स्वरों के आधार पर साम मन्त्रों का गायन होता है। इन्हीं गीतात्मक मन्त्रों का सामवेद में संकलन किया गया है।

यजुर्वेद

यजुष् शब्द का अर्थ है देवपूजा और यज्ञ। ऋग्वेद का ऋत्विक् होता स्तुतिपरक मन्त्रों का उच्चारण कर देवताओं का आह्वान करता है और यजुर्वेद का ऋत्विक् अध्वर्यु यज्ञ का विधिवत् सम्पादन करता है। इस प्रकार जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं का यजन पूजन किया जाता है उन्हें 'यजुष्' कहते हैं। ये यजुष् गद्यात्मक हैं (गद्यात्मको यजुः)। गद्यात्मक होने के कारण ही यजुषों में अक्षरों की संख्या नियत नहीं होती, इसीलिए उसे 'यजुष्' कहते हैं (अनियताक्षरावसानो यजुः)। जैमिनि ने गीत्यात्मक रचना के लिए 'साम' और गद्यात्मक रचना के लिए 'यजुष्' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें पद्यात्मक और गीत्यात्मक मन्त्रों से भिन्न गद्यात्मक मन्त्र होते हैं (गीतिषु सामाख्या, शेषे-यजुः)।[1] यजुषों का संग्रह ही 'यजुःसंहिता' है। यजुःसंहिता का ऋत्विक अध्वर्यु होता है अध्वर्यु गद्यात्मक यजुषों का उपांशुरूप में उच्चारण करता हुआ यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करता है

यजुर्वेद की शाखाएँ--

पतञ्जलि ने महाभाष्य में यजुर्वेद की १०० या १०१ शाखाओं का उल्लेख किया है (एकशतमध्वर्यु शाखाः)।[2] सर्वानुक्रमणी एवं कूर्मपुराण में यजुर्वेद की १०० शाखाओं की चर्चा है।[3] शौनक के चरणव्यूह के अनुसार इसकी ८६ शाखाएँ हैं। किन्तु आजकल केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। यजुर्वेद की मुख्यतः दो शाखाएँ हैं—शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। इनमें शुक्लयजुर्वेद की दो संहिताएँ उपलब्ध हैं—काण्व और माध्यन्दिन। दोनों शाखाओं का सम्पादन १८४९-५२ के मध्य वेवर ने किया है। माध्यन्दिन संहिता को वाजसनेयि-संहिता भी कहते हैं। काण्व शाखा का प्रचार दक्षिण में और माध्यन्दिन शाखा का प्रचार उत्तर भारत में अधिक है। दोनों में ही चालीस अध्याय हैं। किन्तु मन्त्रों की संख्या में

---

१. जैमिनिसूत्र २।१।३६-३७
२. महाभाष्य, पश्पशाह्निक (पतञ्जलि)
३. (क) यजुरेकशताध्वकम् (षाड्गुरुशिष्य, सर्वानुक्रमणी वृत्ति)
(ख) शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्। (कूर्मपुराण ४९।५१)

अन्तर है। कृष्ण यजुर्वेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काण्व संहिता। इनमें तैत्तिरीय संहिता कृष्णयजुर्वेद की प्रमुख संहिता है। इसे आपस्तम्ब संहिता भी कहते हैं। इनका सम्पादन बेबर ने १८७१-७२ में किया था। इसमें सात अध्याय चौवालीस प्रपाठक ६३१ अनुवाक और २१९९ मन्त्र हैं। मैत्रायणी-संहिता मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसमें चार काण्ड ५४ प्रपाठक और २१४४ मन्त्र हैं। इसके प्रथम संस्करण का सम्पादन श्रोडर द्वारा १८८१-८६ में हुआ है। काठक संहिता कठशाखा से सम्बद्ध है। इसे कठसंहिता भी कहते हैं। इसमें चालीस स्थानक ८४३ अनुवाक और ३०९१ मन्त्र हैं। इसका प्रचार काश्मीर में अधिक है। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद की दो शाखाएँ और कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएँ मिलकर यजुर्वेद की कुल पाँच शाखाएँ हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेद की कठकपिष्ठल नामक एक और शाखा का पता चलता है। किन्तु यह शाखा अपूर्ण और खण्डित है। इसके छह अष्टक और अड़तालीस अध्याय उपलब्ध हैं।

शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद में अन्तर

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं—ब्राह्म सम्प्रदाय और आदित्यसम्प्रदाय। ब्राह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व कृष्णयजुर्वेद करता है और आदित्यसम्प्रदाय का शुक्लयजुर्वेद। यजुर्वेद के शुक्लत्व एवं कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप पर आधारित है। शुक्लयजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक मन्त्रों का संग्रह है। इसमें ऋचाओं का व्यवस्थित संग्रह पवित्र वर्ण श्वेत का अभिधान है। इसमें ब्राह्मणात्मक गद्य का अभाव है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने इन शुक्ल यजुषों का अन्वाख्यान किया है (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनान्वाख्यायन्ते)।[1] बिष्णुपुराण में कहा गया है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से यजुषों को प्राप्त किया है।[2] इस प्रकार शुक्ल, सुव्यवस्थित, शुद्ध यजुषों का संग्रह होने से इसे शुक्लयजुर्वेद कहते हैं। कृष्णयजुर्वेद ब्रह्मसम्प्रदाय का वेद है। इसमें मन्त्रों के साथ-साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का भी मिश्रण है। इसमें यह मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुर्वेद के कृष्णत्व का हेतु है। इस प्रकार कृष्णयजुर्वेद में गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण होने से कृष्णयजुर्वेद कहा जाता है और दोनों के मिश्रण से रहित शुद्ध पद्यात्मक होने से शुक्लयजुर्वेद को शुक्लयजुर्वेद कहा जाता है। इसमें ऋचाओं का अव्यवस्थित संग्रह है और गद्यात्मक ब्राह्मण भाग भी सम्मिलित

१. शतपथब्राह्मण १४।९।५।३३

२. विष्णुपुराण ३।५

है अतः इसे कृष्णयजुर्वेद कहा जाता है। कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयशाखा से सम्बद्ध है और शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयशाखा से। कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं का प्रचार विशेषतः दक्षिण भारत में और शुक्लयजुर्वेद की शाखाओं का प्रचार उत्तर भारत में हुआ है। दूसरे कृष्णयजुर्वेद में रावणकृत भाष्य भी सम्मिलित है। इसीलिए इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शुक्लयजुर्वेद की संहिता वाजसनेयि-संहिता है और कृष्णयजुर्वेद की संहिता तैत्तिरीय संहिता है। इन दोनों संहिताओं के नामकरण के सम्बन्ध में एक आख्यान मिलता है। व्यास ने अपने शिष्यों को वेद के प्रचार-प्रसार के लिए उपदेश दिया। व्यासशिष्य वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य आदि अनेक शिष्यों को वेद का अध्ययन कराया। एक दिन किसी कारणवश वैशम्पायन याज्ञवल्क्य से असन्तुष्ट हो गये। उन्होंने क्रोधावेश में याज्ञवल्क्य से यजुषों को वमन करने के लिए कहा। तब याज्ञवल्क्य ने यजुषों का वमन कर दिया। तब वैशम्पायन के शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उस वान्त यजुषों का संग्रह किया। इसी कारण इस संहिता का नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा। यतश्च यह वान्त (उच्छिष्ट) यजुषों का संग्रह है। अतः उच्छिष्ट होने के कारण ही इस संहिता का नाम कृष्णयजुर्वेद हो गया।

याज्ञवल्क्य ने भी सूर्य की आराधना करके उनके अनुग्रह से यजुषों को प्राप्त किया। सूर्य ने वाजि (घोड़े) का रूप धारण कर दिन के मध्य में याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया था, इसी कारण उसका नाम वाजसनेयि-संहिता पड़ा। और दिन के मध्य में उपदेश देने के कारण इसका अपर नाम माध्यन्दिनीय संहिता पड़ा। यतश्च दिन के प्रकाश में इसका उपदेश दिया गया था अतः प्रकाश का वर्ण शुक्ल (श्वेत) होने के कारण इसका नाम शुक्लयजुर्वेद पड़ा।

श्री मैकडानल महोदय का कथन है कि वाजसनेयि-संहिता में केवल वे ही मन्त्र एवं प्रयोग सङ्कलित हैं जो शुद्ध यज्ञ से सम्बन्धित हैं इसी कारण इसे शुक्लयजुर्वेद कहते हैं। तैत्तिरीय संहिता में मन्त्र समुदाय विनियोगकल्प एवं ब्राह्मणभाग का एकत्र संग्रह है अतः इसी सङ्कीर्ण रूप के कारण इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं"।[१] इस प्रकार "शुक्ल एवं कृष्ण संहिताओं के बीच मुख्य अन्तर इस बात का है कि कृष्णसंहिता में मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का मेल है जो शुक्लसंहिता में नहीं पाया जाता है।"[२]

विण्टरनिट्ज का कथन है कि शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेद में भेद केवल इतना है कि जहाँ "शुक्लयजुर्वेद में केवल मन्त्र है वहाँ कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ

१. संस्कृतसाहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० १६४
२. वही पृ० १६७

यज्ञ प्रक्रिया तथा उन पर विवेचन भी है अर्थात् कृष्णयजुर्वेद में वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मण भाग भी प्रत्येक प्रसङ्ग में यथावसर संगृहीत है। क्योंकि अध्वर्यु के लिए संगृहीत प्रार्थना-पुस्तिकाओं में यज्ञीय कर्मकाण्डों पर विस्तृत विचार करना आवश्यक था। तदनुसार यजुर्वेद की प्रार्थना-पुस्तकों में निर्देश बाहुल्य असंगत नहीं ठहराया जा सकता और इस बात में संदेह के लिए अवकाश नहीं रहा कि कृष्णयजुर्वेद की संहिताएँ शुक्लयजुर्वेद से प्राचीनतर हैं जिसका पुनः सम्पादन आगे चलकर मन्त्र भाग को पृथक् करके शुक्लयजुर्वेद के रूप में कर दिया गया।"[1]

वस्तुतः शुक्लयजुर्वेद एवं कृष्णयजुर्वेद के विभाजन का आधार निम्न बातों पर निर्भर करता है। जहाँ तक कृष्णयजुर्वेद का सम्बन्ध है उसमें छन्दोमय मन्त्रभाग और गद्यात्मक ब्राह्मणभाग दोनों सम्मिलित हैं। उसका स्वरूप शुक्लयजुर्वेद की अपेक्षा अस्पष्ट, अव्यवस्थित है, उसमें यज्ञीय कर्म-काण्ड के साथ-साथ एवं उसके व्याख्यान ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं। कहीं-कहीं दोनों भाग अलग-अलग रूप में दिये गये हैं तो कहीं-कहीं ब्राह्मणभाग में मन्त्र और मन्त्रभाग में ब्राह्मणं भी सम्मिलित है। यही अव्यवस्थित रूप ही इसे शुक्लयजुर्वेद से पृथक् करता है। क्योंकि शुक्लयजुर्वेद में मन्त्र भाग एवं ब्राह्मण-भाग का एक साथ मिश्रण न होकर अलग-अलग विवेचन है। इसमें अति परिशुद्ध मन्त्रभाग ही वर्णित है जो अधिक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित है। इसका ब्राह्मणभाग विशुद्ध एवं अलग है जिसमें मन्त्रों की रचना, उसकी विनियोग विधि एवं व्याख्याएँ अलग-अलग वर्णित है। इस प्रकार इसका परिशुद्ध एवं व्यवस्थित रूप ही कृष्णयजुर्वेद के अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित रूप से इसे पृथक् करता है और यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कृष्णयजुर्वेद शुक्लयजुर्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

शुक्लयजुर्वेद का वर्ण्य-विषय

शुक्लयजुर्वेद की मुख्य शाखा वाजसनेयि-संहिता है। वाजसनेयि-संहिता में वे ही मन्त्र एवं प्रयोग सङ्कलित हैं जिनका यज्ञों में विनियोग विहित है। इस संहिता में कुल चालीस अध्याय हैं। प्रथम पचीस अध्याय अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एवं प्राचीन हैं। अन्तिम पन्द्रह अध्याय खिल होने के कारण परवर्तीकाल के माने जाते हैं। प्रथम दो अध्यायों में दर्श एवं पौर्णमास यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र एवं चातुर्मास्य के यज्ञों के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (विन्टरनित्ज़) पृ० १२६

है। सोमयाग एकाह भी होते हैं और कई दिनों तक चलने वाले भी होते हैं। एकाह सोमयागों में वाजपेय-याग विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त राजसूय-याग भी है जो राज्याभिषेक के अवसर पर होता था। इसमें द्यूतक्रीड़ा, अस्त्रक्रीड़ा और बृहद् प्रीतिभोज का भी विधान होता था। इन दोनों प्रकार के यागों से सम्बद्ध मन्त्र नवम तथा दशम अध्यायों में वर्णित हैं। एकादश से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन का विस्तृत वर्णन है। अग्नि-वेदि निर्माण में १०८०० ईंटें लगती हैं। वेदि का आकार पंख फैलाये हुए पक्षी-जैसा होता है। ब्राह्मणों में ईंटों का प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक महत्त्व बताया गया है। एकोनविंश अध्याय से एकविंश अध्याय तक सौत्रामणि यज्ञ का विधान है। सौत्रामणि यज्ञ में सोम के साथ सुरापान का भी विधान पाया जाता है (सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्)। द्वाविंश अध्याय से पञ्चविंश अध्याय (२२-२५ अ०) तक अश्वमेध यज्ञ का विधान वर्णित है। यह यज्ञ सार्वभौम साम्राज्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। राजा को सर्वाधिक गौरव अश्वमेध यज्ञ से ही प्राप्त होता था।

वाजसनेयि-संहिता के अन्तिम पन्द्रह अध्याय खिल होने से परवर्ती काल के माने जाते हैं। षड्विंश अध्याय से एकोनत्रिंश अध्याय तक (२६-२९ अ०) खिल मन्त्रों में पूर्ववर्ती अध्यायों के परिशिष्टमात्र है। त्रिंशत् अध्याय (३०वें अ०) में पुरुषमेध का वर्णन है जिसमें १८४ पुरुषों के बलि का निर्देश है। जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—"ब्रह्मन् के लिए ब्राह्मण की, क्षात्र-शक्ति के लिए क्षत्रिय की, मरुतों के लिए वैश्य की, तप के लिए शूद्र की, अन्धकार के लिए चोर की, नरक के लिए हत्यारे की, पाप के लिए नपुंसक की, काम के लिए वेश्या की, कोलाहल के लिए गायक की, नृत्य के लिए भाट की, गीत के लिए अभिनेता की, मृत्यु के लिए शिकारी की, द्यूत के लिए जुआरी की, नींद के लिए अन्धे की, अन्याय के लिए बहरे की, यज्ञ के लिए धोबिन की, कामना के लिए रंगरेजिन की, यम के लिए बन्ध्या की, उत्सव के लिए वीणावादक की, क्रोशन (चिल्लाहट) के लिए वंशीवादक की, पृथ्वी के लिए पंगु की, स्वर्ग के लिए गंजे की बलि दी जाती थी।"[1] वस्तुतः पुरुषमेध-यज्ञ एक काल्पनिक यज्ञ था, उस समय इस प्रकार के यज्ञ नहीं होते थे। विण्टरनिट्ज के अनुसार यह एक प्रतीकात्मक याग था जो पुरुषमेध का प्रतिनिधित्व करता था। कीथ का कथन है "यह पुरोहितों की एक कल्पना है कि यज्ञीय प्रणाली में मनुष्य का समावेश हो जाय।"[2] किन्तु हिलब्रांड का

---

१. शुक्लयजुर्वेद ३०।५-२१

२. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १२९।

मत है कि "पुरुषमेध एक वास्तविक यज्ञ है, परन्तु ब्राह्मण संस्कृति में इसके लिए स्थान नहीं था। अतिप्राचीन काल में पुरुषवलि की प्रथा थी, जैसा कि शुनःशेप के आख्यान से ज्ञात होता है।"[१]

वाजसनेयि-संहिता के ३१वें अध्याय में पुरुषसूक्त है। जिसमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की अपेक्षा छः मन्त्र अधिक हैं। ३२वें एवं ३३वें अध्याय में सर्वमेध-यज्ञ वर्णित है। यह सर्वश्रेष्ठ यज्ञ माना जाता है। इसमें यजमान अपनी सारी सम्पत्ति को ब्राह्मणों को दान दे देता है और स्वयं वन में जाकर शेष जीवन तपस्या में व्यतीत करता है। ३४वें अध्याय में शिवसंकल्प सूक्त है। ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है। ३६वें अध्याय से ३९वें अध्याय तक प्रवर्ग्य याग का वर्णन है। इस यज्ञ से यज्ञीय अग्नि पर एक पतेली या कड़ाही को गर्म करके लाल किया जाता है जिससे वह सूर्य का प्रतीक हो जाता है। पुनः उसमें दूध उबालकर उसे आश्विन को अर्पित किया जाता है। अन्त में, यज्ञपात्रों को इस प्रकार रखा जाता है कि वह मानव की आकृति बन जाती है। ४०वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् है। उपनिषदों में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

काण्वसंहिता—शुक्ल यजुर्वेद की दूसरी संहिता काण्व है। काण्वशाखा का प्रचार मुख्यतः महाराष्ट्र प्रान्त में है। इस संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक् और २०८६ मन्त्र हैं। काण्वशाखा माध्यन्दिनीय शाखा के समान ही है। माध्यन्दिनीय शाखा की अपेक्षा इसमें केवल १११ मन्त्र अधिक हैं।

कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्य-विषय

तैत्तिरीय संहिता—कृष्ण यजुर्वेद की मुख्य शाखा तैत्तिरीय संहिता है। इस शाखा का प्रचारक्षेत्र नर्मदा का दक्षिण भाग रहा है। तैत्तिरीय संहिता में सात काण्ड, चौवालीस प्रपाठक, छः सौ इकतीस अनुवाक् और २१९८ मन्त्र हैं। इस संहिता का सम्पादन वेवर ने १८७१-७२ में किया था। इसमें शुक्ल यजुर्वेद के समान ही पौरोडाश, राजसूय, वाजपेय, याजमान आदि यज्ञों का विशद विवेचन है। सायण ने इस पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है। क्योंकि यह सायण की अपनी शाखा रही है। इस शाखा के अधिकांश देवता ऋग्वेद के हैं। रुद्र देवता इनके प्रधान हैं। रुद्र देवता पर एक रुद्राध्याय ही है। तैत्तिरीय संहिता में गद्य और पद्य, दोनों का मिश्रण है। इस संहिता के सातवें काण्ड में वसिष्ठ और राजा सुदास का आख्यान वर्णित है। इसकी एक शाखा आपस्तम्ब संहिता है। इसमें तैंत्तीस देवों का वर्णन है।

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १२९

मैत्रायणी संहिता—कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा मैत्रायणी संहिता है। इसमें गद्य और पद्य अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग दोनों का सम्मिश्रण है। इसका सम्पादन श्रोडर ने १८८१-८६ ई० में किया है। इसमें कुल चार काण्ड, चौवन प्रपाठक, २१४४ मन्त्र हैं। मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों में उच्चारण चिह्न नहीं हैं। इस शाखा का एक अपर नाम कलाप-शाखा भी है। इस संहिता के प्रथम काण्ड में ग्यारह प्रपाठक हैं। इनमें प्रथम तीन प्रपाठकों में दर्श, पौर्णमास एवं सोमयाग का विवेचन है। शेष आठ प्रपाठकों में अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य और वाजपेय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में तेरह प्रपाठक हैं जिनमें काम्य इष्टि, राजसूय एवं अग्निचिति का विस्तृत विवेचन है। तृतीय काण्ड में सोलह प्रपाठक हैं जिनमें अग्निचिति, अध्वरविधि और सौत्रामणि याग के वर्णन के अनन्तर अन्तिम पाँच प्रपाठकों में अश्वमेघ यज्ञ का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ काण्ड खिल के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें चौदह प्रपाठक हैं। इसमें राजसूय आदि यज्ञों के सम्बन्ध में विविध सामग्री संगृहीत है। इस संहिता में १७०१ ऋचाएँ ऋग्वेद से उद्धृत हैं।

कठसंहिता—कृष्ण यजुर्वेद की एक अन्यतम शाखा कठसंहिता है। पतञ्जलि के अनुसार इस शाखा का प्रचार गाँव-गाँव में था, किन्तु आज इसका पठन-पाठन नगण्य है। इसमें पाँच खण्ड हैं जिन्हें क्रमशः इठिमिका, माध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या और अश्वमेधाद्यनुवचन कहते हैं। इसमें कुल चालीस स्थानक, तेरह अनुवचन, ८४३ अनुवाक्, ३०९१ मन्त्र और मन्त्र एवं ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या १८००० है। इठमिका खण्ड में अठारह स्थानक हैं जिसमें पुरोडाश, अध्वर, राजसूय, वाजपेय आदि भागों का विस्तृत वर्णन है। मध्यमिका खण्ड में बारह स्थानक हैं जिनमें सावित्री, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य, पञ्चचूड़ आदि का विवेचन है। ओरिमिका खण्ड में दस स्थानक हैं जिनमें चातुर्मास्य, सौत्रामणि सत्र, प्रायश्चित्ति, पुरोड़ाश ब्राह्मण, यजमान ब्राह्मण आदि का विवेचन है। याज्यानुवाक्यां काण्ड का ओरिमिका खण्ड में समावेश समझना चाहिए। अन्तिम काण्ड में तेरह अनुवचन हैं (जिसमें अश्वमेध याग का विवेचन है)। इस संहिता में मन्त्र भाग एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण है। मैत्रायणी संहिता और कठसंहिता में बहुत कम अन्तर है। दोनों में ही अनुवाक् एवं मन्त्रों की संख्या समान है और दोनों में ही अन्त में अश्वमेध याग का वर्णन है, किन्तु कठसंहिता में उच्चारण के चिह्न हैं जबकि मैत्रायणी संहिता में उच्चारण चिह्न नहीं हैं।

कठ-कपिष्ठल शाखा—कृष्णयजुर्वेद की कठ-कपिष्ठल शाखा अपूर्ण प्राप्त है। इसकी केवल एक ही प्रति सरस्वती भवन, पुस्तकालय में सुरक्षित है।

इसका विभाजन ऋग्वेद के समान अष्टक और अध्यायों में है। इसमें कुल छः अष्टक और अड़तालीस अध्याय हैं। इसका अधिकांश भाग त्रुटिपूर्ण है।

यजुर्वेदकालीन धर्म एवं समाज

यजुर्वेद का मुख्य विषय याग-प्रधान है। इस संहिता में जो धर्म का स्वरूप निहित है वह वैदिक धर्म से भिन्न नहीं प्रतीत होता। दोनों में ही देव-समुदाय वही है, किन्तु कुछ देवताओं के स्वरूप में अवान्तर परिवर्तन हो गया है। जैसे ऋग्वेद में प्रजापति का केवल आभासमात्र है किन्तु यजुर्वेद में वह प्रमुख देवता हो गया है। ऋग्वेद का रुद्र देवता यजुर्वेद काल में शिव के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। ऋग्वेद में विष्णु का जो स्वरूप प्रतिपादित है, यजुर्वेद में उसका महत्त्व अधिक बढ़ गया है। वहाँ उन्हें यज्ञस्वरूप माना गया है। 'असुर' शब्द जो ऋग्वेद-काल में शक्तिशाली देव के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, वह यजुर्वेद काल में दानवों के लिए प्रयुक्त होने लगा था।

यजुर्वेद-काल में अनेक नूतन धार्मिक मान्यताओं का विकास हुआ है और पुरानी मान्यताएँ परिवर्तित हो गई हैं। यजुर्वेद-काल में देवताओं का महत्त्व अधिक बढ़ गया था। यहाँ तक कि यज्ञीय पात्रों एवं कर्मकाण्डों का भी देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा था। नागपूजा उस समय भारतीय धर्म का एक अङ्ग हो गया था। ऋग्वेद में नागपूजा का उल्लेख तक नहीं है। ऋग्वेदकाल में जो मान्यताएँ प्रधान थीं, यजुर्वेदकाल में वे गौण हो गई थीं। उस समय यागानुष्ठान की मान्यताएँ बढ़ गई थीं। यज्ञ ही सर्वोपरि कर्मकाण्ड था, उसके द्वारा लोग अभीष्ट सिद्धि की कामना करते थे। यजुर्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें झाड़-फूंक एवं अभिशाप के मन्त्र हैं। देवताओं का अनेक नामों से स्तुति करना यजुर्वेदकाल की मुख्य विशेषता थी। वाजसनेयि-संहिता और तैत्तिरीय संहिता में रुद्र के सौ नामों की चर्चा है। जो 'शतरुद्रिय' के नाम से प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में कुछ एकाक्षर मन्त्र हैं जिनका अर्थ आजतक ज्ञात नहीं हो सका है, किन्तु उनका पवित्र मन्त्रों के रूप में प्रयोग होता रहा है। इनमें स्वाहा, स्वधा, वषट्, फट्, ओम् आदि हैं। ओ३म् के साथ तीन महाव्याहृतियाँ हैं—'भूर्भुवः स्वः। मैत्रायणी संहिता में इनके सम्बन्ध में कहा है कि "ये महाव्याहृतियाँ ही ब्रह्म हैं, ये ही सत्य हैं, ये ही ऋत हैं, इनके बिना कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता।"[१] स्वाहा और स्वधा शब्द क्रमशः देवों एवं पितरों को दी जाने वाली आहुतियों के लिए प्रयुक्त होता है।

---

१. मैत्रायणी संहिता १।८।५

यजुर्वेद में अचेतन वस्तुओं में चेतना का आरोप किया गया है। यज्ञ के अवसर पर यज्ञीय पात्रों के साथ देवताओं का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अध्यात्मवादी विचारधारा के अनुसार प्रत्येक जड़वस्तु में चेतनता रहती है, वे प्रत्येक वस्तु को चैतन्यरूप देखते हैं। यही कारण है कि यज्ञ के अवसर पर पुरोहित अचेतन पात्रादि में चेतन-सा व्यवहार करता है। यजुर्वेद में पुरोहित राज्याभिषेक के समय पृथ्वी से कहता है कि "हे मातः! तू मेरी हिंसा मत कर, मैं तुम्हारी हिंसा न करूँ।" यज्ञ में दीक्षित यजमान की दाढ़ी बनाने के छुरे से कहता है कि "हे क्षुर! इसकी हिंसा मत कर"। इसी प्रकार यूप को सम्बोधित करते हुए कहता है कि "तू साँप मत बनो, नाग मत बनो।"[१] इसी प्रकार अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ सर्वत्र अचेतन में चेतन का व्यवहार परिलक्षित होता है। यजुर्वेद में कुछ प्रहेलिकाएँ भी हैं जिनमें अध्यात्मतत्त्व का वर्णन है। वाजसनेयि-संहिता में होता कहता है कि "अकेला कौन चलता है? बार-बार कौन जन्म लेता है? हिम की औषधि क्या है? और कौन स्थिर है?" अध्वर्यु इसका उत्तर देता है कि "सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा बार-बार जन्म लेता है, हिम की औषधि अग्नि है, और पृथ्वी स्थिर है।"[२] एक अन्य स्थल पर उद्‌गाता प्रश्न करता है कि "पुरुष किस-किस वस्तु में प्रविष्ट है? और पुरुष में क्या-क्या वस्तु प्रविष्ट हैं?" ब्रह्मा उत्तर देता है कि पाँच वस्तुओं में पुरुष प्रविष्ट है और वे पाँच वस्तुएँ पुरुष में प्रविष्ट हैं।"[३] इस प्रकार यजुर्वेद में अनेक आध्यात्मिक विचारधाराएँ प्राप्त हैं, जिनके अध्ययन की आज महती आवश्यकता है। विश्व-बन्धुत्व की भावना है—कि हम सभी को मित्र की दृष्टि से देखें।[४] इस मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है। इस ससार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करें। आत्मा का विकास हमारे जीवन का लक्ष्य है। इस प्रकार वैदिक धर्म एवं दर्शन के समझने के लिए यजुर्वेद का अध्ययन आवश्यक है।

अथर्ववेद

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद को परवर्ती काल में गौरव प्राप्त हुआ है। ऋग्वेदादि संहिताएँ आमुष्मिक फल देने वाली हैं और अथर्ववेद का उद्देश्य ऐच्छिक फल की प्राप्ति भी है। यही कारण है कि इस वेदत्रयी में स्थान नहीं मिल सका, ऋक्, यजुः और साम को ही त्रयी के अन्तर्गत परिगणित किया गया

---

१. वाजसनेयि-संहिता १।१; २।१४; ३।९; ४।१; ६।१२;
२. वही, २३।४५-४६
३. वही, २३, ५१
४. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे (३६।१८)

है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ब्रह्मा नामक ऋत्विज से है। ब्रह्मा यज्ञाध्यक्ष एवं वेदत्रय का ज्ञाता होता था। यज्ञ का विधिवत् निरीक्षण करना उसका प्रमुख कार्य था। अथर्ववेद में उसके अनेक अभिधान उपलब्ध होते हैं–ब्रह्मवेद, अङ्गिरा-वेद, अथर्वाङ्गिरस और अथर्ववेद। अथर्व शब्द 'थर्व् कौटिल्ये' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है–अकुटिलता और हिंसावृत्ति से रहित मन वाला। मूल रूप से अथर्वन् शब्द का अर्थ है—अग्नि को उद्‌बोधन करने वाला पुरोहित। प्राचीनकाल में सम्भवतः पुरोहित के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता रहा है। अवेस्ता का 'अप्रवन्' शब्द अथर्वन् (अग्निपूजक) का ही प्रतिनिधित्व करता है। अथर्वन् का एक अर्थ 'जादू-टोना' भी होता है। इस प्रकार 'अथर्वन्' शब्द जादू-टोने के मन्त्र या जादूगर पुरोहित के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

अथर्ववेद का एक प्राचीनतम नाम अथर्वाङ्गिरस है। यह शब्द अथर्व और अङ्गिरा के योग से निष्पन्न है—जो दो प्राचीन ऋषिकुल हैं। अंगिरावंशीय अथर्वा ऋषि के द्वारा आविष्कृत होने के कारण इसका नाम अथर्ववेद पड़ा और अङ्गिरस् ऋषि का वंशज होने के कारण अथर्व को आंगिरस की संज्ञा प्रदान की गई और इसका एक नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पड़ गया। प्रागैतिहासिक काल में अङ्गिरस् शब्द अग्निपुरोहित के लिए प्रयुक्त होता था, ब्लूमफील्ड के अनुसार अथर्वन् और अंगिरस् दोनों शब्द दो प्रकार के जादूमन्त्रों के बोधक हैं। अथर्वन् शब्द पवित्र (सात्त्विक) मन्त्र का बोधक है और अङ्गिरस् शब्द अपवित्र अभिचारादि का प्रतीक है।

अथर्ववेद का एक नाम 'भृग्वाङ्गिरस वेद' भी है। गोपथब्राह्मण मे इसे 'भृग्वाङ्गिरो वेद' कहा गया है। भृगु अङ्गिरा के शिष्य थे। अथर्ववेद के प्रचार में भृगु का विशेष हाथ है। इसीलिए इस वेद का नाम भृग्वङ्गिरस पड़ा। अथर्ववेद का संहितीकरण भले ही बाद में हुआ हो किन्तु उसमें निहित अनेक तथ्य प्राचीन हैं। जयन्तभट्ट ने तो अथर्ववेद को प्रथम वेद माना है। तत्रवेदाश्चत्वारः प्रथमोऽथर्ववेदः।[1] नागरखण्ड में भी अथर्ववेद को प्रथम वेद बताया गया है। अथर्ववेद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जादू-टोना का वर्णन अधिक मात्रा में हुआ है।

अथर्ववेद की शाखाएँ

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है (नवधाऽथर्वणो वेदः)। सायणभाष्य, प्रपञ्चहृदय और चरणव्यूह में भी नौ शाखाओं का उल्लेख है किन्तु इनके अभिधान में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। शाखाओं के नाम हैं—पिप्पलाद, स्तौद, मौद, शौनकीय, जाजल,

१ न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २३७-२३८।

जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श तथा चारणवैद्य। किन्तु आज केवल दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं—शौनक और पिप्पलाद। विष्णु-पुराण के अनुसार महर्षि व्यास ने अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्व का अध्ययन कराया। सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया, कवन्ध के दो शिष्य थे --पथ्य और देवदर्श। पथ्य के तीन शिष्य थे—जांजलि, कुमुद और शौनक तथा देवदर्श के चार शिष्य थे—मोद, ब्रह्मवलि, पिप्पलाद और शौक्लायनि। शौनक के दो शिष्य थे—वभ्रु और सैन्धवायन। भागवत में कवन्ध का नामनिर्देश नहीं है। तदनुसार सुमन्तु के दो शिष्य बताये गये हैं—पथ्य और वेददर्श। विष्णुपुराण में वेददर्श के स्थान पर देवदर्श का उल्लेख है। इन्हीं ऋषियों द्वारा अथर्ववेद का प्रचार-प्रसार हुआ, किन्तु सम्प्रति अथर्ववेद की केवल दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं-पिप्पलाद और शौनक।

१. पिप्पलाद शाखा—अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा के आविष्कर्ता पिप्पलाद ऋषि हैं। प्रपञ्चहृदय के अनुसार पिप्पलाद शाखा की मन्त्र-संहिता २० काण्डों की है। पिप्पलाद शाखा की एक पाण्डुलिपि शारदालिपि में ब्लूमफील्ड को काश्मीर में मिली थी। ब्लूमफील्ड एवं गार्वे ने भोजपत्र पर लिखी हुई इस प्रति के फोटो तैयार कराकर १९०१ ई० में 'द काश्मीरियन अथर्ववेद' के नाम से प्रकाशित कराया था। इस शाखा का प्रथम मन्त्र "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु प्रीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः" है। यह मन्त्र आजकल प्रचलित शौनक शाखा में उपलब्ध नहीं है।

२. शौनक शाखा—आजकल प्रचलित अथर्ववेद शौनक शाखा का है। राट् और ह्विटनी ने १८५६ ई० में इसका प्रकाशन किया था। इसमें कुल २० काण्ड, ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। विण्टरनिट्ज के अनुसार अथर्ववेद में २० काण्ड, ७३१ सूक्त और ५९८७ मन्त्र हैं। इनमें लगभग १२०० मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम, अष्टम, एवं दशम मण्डल से ज्यों-के-त्यों लिए गये हैं। बीसवें काण्ड में बारह सूक्तों को छोड़कर शेष १४३ सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल से मिलते-जुलते हैं। बीसवाँ काण्ड बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद का लगभग षष्ठ भाग (पचास सूक्त से अधिक भाग) गद्यात्मक है।

अथर्ववेद का रचनाक्रम एवं वर्ण्यविषय

रचनाक्रम—यज्ञ के विधिवत् सम्पादन के लिए जिन चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है उनमें ब्रह्मा नामक ऋत्विज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह तीनों वेदों का ज्ञाता होता था और यज्ञ का विधिवत् निरीक्षण तथा यज्ञ में उत्पन्न विघ्नों का निराकरण करता था। उसका प्रधान वेद अथर्ववेद है। रचना की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद के समान है किन्तु वर्ण्यविषय की दृष्टि से

दोनों में पर्याप्त अन्तर है। अथर्ववेद में कुल २० काण्ड, ७३० सूक्त (अन्य मत से ७३१ सूक्त) तथा ५९८७ मन्त्र संकलित हैं। इनमें १२०० मन्त्र ऋग्वेद संहिता के प्रथम, अष्टम एवं दशम मण्डलों से संगृहीत हैं। इसका पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ काण्ड तथा तीस फुटकर सूक्त गद्यात्मक हैं।

अथर्ववेद के मन्त्रों के संकलन में एक विशिष्ट उद्देश्य एवं क्रम को ध्यान में रखा गया है। रचनाक्रम की दृष्टि से इसके चार भाग किये जा सकते हैं—(१) प्रथम भाग १-७ काण्ड तक। जिसमे छोटे-छोटे सूक्त हैं और मन्त्रों की संख्या पर ध्यान रखा गया है। प्रथम काण्ड में प्रतिसूक्त में चार-चार मन्त्र हैं। द्वितीय काण्ड में प्रत्येक सूक्त में पाँच-पाँच मन्त्र, तृतीय काण्ड में छः-छः मन्त्र, चतुर्थ काण्ड में सात-सात मन्त्र हैं। पञ्चम काण्ड में आठ से अठारह तक मन्त्र पाये जाते हैं। षष्ठ काण्ड में १४२ सूक्त हैं जिनमें प्रत्येक सूक्त में तीन-तीन मन्त्र हैं। सप्तम काण्ड में ११८ सूक्त हैं जिनमें अधिकांशतः एक या दो मन्त्र हैं। (२) द्वितीय भाग ८-१२ काण्ड तक। जिसमें बड़े-बड़े सूक्त हैं किन्तु विषयों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। बारहवें काण्ड के प्रारम्भ में ६३ मन्त्रों वाला पृथ्वीसूक्त है जिसमें भौगोलिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। (३) तृतीय भाग १३-१८ काण्ड तक। जिनमें विषय की एकता दृष्टिगोचर होती है। तेरहवें काण्ड में अध्यात्म-विषयक चिन्तन है। चौदहवें काण्ड में दो बड़े-बड़े सूक्त हैं जिनमें विवाह-संस्कार से सम्बन्धित विषय हैं। इसमें १३९ मन्त्र हैं। पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्यों के यज्ञ-सम्पादन का आध्यात्मिक विवरण है। सोलहवें काण्ड में दुःखस्वप्ननाशक मन्त्र हैं। सत्रहवें काण्ड में तीस श्लोकों का एक ही सूक्त है जिसमें सम्मोहन मन्त्र हैं। अठारहवें काण्ड में अन्त्येष्टि एवं पितृमेध से सम्बन्धित मन्त्र संकलित हैं। (४) चतुर्थ भाग १९-२० काण्ड। ये दोनों काण्ड परिशिष्ट के रूप में हैं जो बाद में जोड़ दिये गये हैं। उन्नीसवें काण्ड में ७२ सूक्त और ४५३ मन्त्र हैं। जिसमें भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि एवं अध्यात्म-विषयक मन्त्र संगृहीत हैं। बीसवें काण्ड में सोमयाग से सम्बन्धित मन्त्र हैं जो अधिकांशतः ऋग्वेद से लिये गये हैं। सम्भवतः यह प्रसङ्ग अथर्ववेद को चतुर्थवेद का दर्जा देने की दृष्टि से ही संकलित किया गया है और इसी आधार पर वेदचतुष्टय के अन्तर्गत अथर्ववेद की गणना होने लगी।

अथर्ववेद का वर्ण्य-विषय—

अथर्ववेद मन्त्र-तन्त्रों तथा जादू-टोनों का प्रकीर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इसमें विशेषकर यातु-विद्या (जादू-टोने) का विवेचन प्राप्त होता है। यातु-विद्याएँ दो प्रकार की होती हैं—पवित्र (शोभन) और अपवित्र (अशोभन)। पवित्र विद्या में राज्य-प्राप्ति, कष्टनिवारण आदि से सम्बन्धित सूक्त हैं। अपवित्र विद्या में

मारण-मोहन आदि अभिचार-विद्या से सम्बन्धित मन्त्र आते हैं। अथर्ववेद में कुछ ऐसे जादू-टोने के मन्त्र हैं जो अभिशाप एवं झाड़-फूंक से सम्बन्धित हैं जिन्हें अपवित्र या अशोभन जादू कहा जाता है। इन्हीं जादू-टोने एवं झाड़-फूंक से सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन के कारण ही यह वेद पवित्र साहित्य के अन्तर्गत नहीं गिना जाता था।

अथर्ववेद के वर्ण्यविषय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत। अध्यात्म के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा एवं चार आश्रमों का निर्देश है, अधिभूत के अन्तर्गत राजा, राज्य, संग्राम आदि विषयों का वर्णन है। अधिदैवत के अन्तर्गत देवता, यज्ञ एवं काल से सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त प्रतिपाद्य विषय का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है—

अथर्ववेद में रोग-निवारक अनेक मन्त्र संकलित हैं जिन्हें 'भैषज्यानि' कहते हैं। यहाँ पर रोगों की दानवों के रूप में कल्पना की गई है जिन्हें रोगों की उत्पत्ति का कारण माना गया है। अन्य देशों की भाँति भारतीय जनता में भी यह अन्धविश्वास है कि ये ही मानव-शरीर में रोगों को उत्पन्न करते हैं, उन्हें पीड़ित करते हैं या शरीर में संक्रान्त हो जाते हैं। अथर्ववेद में रोगों को दूर करने तथा उनके प्रवर्तक असुरों के विनाशक उपाय बताये गये हैं। ज्वर, खाँसी, मूर्च्छा, गण्डमाला, कुष्ठ, क्षय आदि रोगों एवं उनके उपचार के अनेक मन्त्र एवं जादू-टोने वर्णित हैं। अथर्ववेद में तक्मन् ज्वर (शीत-ज्वर) का नाम आया है जो शरीर को पीला बना देता है और गर्मी से रोगी को झुलसा देता है। क्षयरोग तक्मन् का भाई, खाँसी बहन और चर्मरोग भतीजी है। अथर्ववेद में इसे दूर प्रदेश में भगाने के लिए अनेक स्तुतियाँ वर्णित हैं। इसी प्रकार खाँसी को भी सुदूर प्रदेश में भगाने के लिए प्रार्थना की गयी है—

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत समुद्रस्यानु विक्षरम्॥

अथर्ववेद में कुष्ठरोग एवं पलित रोग की चिकित्सा के लिए श्यामलता के प्रति यह कहा गया है कि 'हे वनस्पति! तुम्हारा प्रादुर्भाव रात को हुआ है, तुम्हारा रंग काला, भूरा एवं नीला है, तू अपने पक्के रंग से कुष्ठ एवं पलित को भी रंग दे।

नक्तं जातस्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥'[1]

---

१. अथर्ववेद १।२३।१

अथर्ववेद में ९९ रोगों का वर्णन है। रोग कृमियों से उत्पन्न होते हैं। ये कृमि नर और मांदा दोनों होते हैं। इसमें सरदार या राजा भी होता है। अथर्ववेद में कृमियों को दूर भगाने के लिए अनेक मन्त्र हैं। कृमियों को दूर करने की प्रार्थना देखिये--'आँतों में, सिर में, पसिलयों में, जहाँ कहीं भी ये कीड़े छिपे हों, उन्हें इस मन्त्र के द्वारा चकनाचूर कर दो'।[1] अथर्ववेद में समस्त रोगों की जड़ भूत-प्रेत वताये गये हैं। नदी, वन उनके निवास-स्थान हैं। वे मनुष्यों में संक्रान्त होकर हानि पहुँचाते हैं, उन्हें भगाने लिए अजाश्रृंगी औषधि का प्रयोग किया जाता था।

अथर्ववेद में स्वास्थ्य एवं दीर्घ आयुष्य के लिए अनेक प्रार्थना-मन्त्र हैं जिन्हें 'आयुष्य सूक्त' कहते हैं। ये प्रार्थना-मन्त्र मुण्डन, उपनयन आदि पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर प्रयुक्त होते थे इन सूक्तों में दीर्घायुष्य के लिए 'जीवेम शरदः शतम्' इस प्रकार की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद का सत्तरहवाँ काण्ड इसी प्रकार के मन्त्रों से भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं जिनके द्वारा अजरत्व एवं अमरत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

अथर्ववेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें अनिष्ट-निवारण, पशु-रक्षा, हल प्रवहण, बीज-वपन, अन्न-वृद्धि, व्यवसाय-वृद्धि आदि विविध विषयों के प्रार्थना-मन्त्र हैं, जिन्हें 'पौष्टिकानि' कहते हैं। इनमें सर्वाधिक सुन्दर 'वृष्टि-सूक्ति' है। वृष्टि का देवता पर्जन्य है। कृषक सुवृष्टि के लिए पर्जन्य का आवाहन करते हैं। यह सूक्त साहित्यिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। अथर्ववेद चतुर्थ काण्ड में अनिष्ट निवारण के लिए जो सूक्त हैं उन्हें 'मृगारसूक्तानि' कहते हैं।[2] इनके सात सूक्तों में प्रत्येक सूक्त में सात-सात मन्त्र हैं जिनमें क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावापृथिवी; मरुत्, भव-शर्व एवं मित्रावरुण से अनिष्टनिवारण तथा आशीर्वाद के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। इनमें सभी मन्त्रों के अन्त में 'स नो मुञ्चन्त्वंहसः' (वह हमें कष्ट से दूर करें) की टेक है।

अथर्ववेद में कुछ ऐसे सूक्त हैं जिनमें यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों में हुई त्रुटियों के परिमार्जन एवं पाप-मोचन के लिए प्रायश्चित्तों का विधान है। इन प्रायश्चित्त सूक्तों को 'प्रायश्चित्तानि' कहते हैं। ये प्रायश्चित्त मन्त्र केवल पाप-मोचन तथा यागादि की त्रुटियों के परिमार्जन के लिए नहीं हैं, बल्कि इनका क्षेत्र इतना व्यापक है कि ज्ञाताज्ञात अपराधों, ऋणादान, नियमविरुद्ध विवाह, विधि-हीन आचरण, शारीरिक एवं मानसिक दौर्बल्य, दुःस्वप्न, दुर्भाग्य आदि के निवारणार्थ भी इनका विधान है। इनके अतिरिक्त अपशकुनों एवं अशुभ स्वप्नों के अपसारण के लिए भी उपाय विहित हैं। अपराध-मोचन का मन्त्र इस प्रकार है—मैंने

---

१. वही २।३१।४   २. वही ४।२३-२९ सूक्त

सोते, जागते जो कुछ भी पाप या अपराध किया है अथवा पाप की ओर प्रवृत्ति रखी हो, उन सब भूत भविष्य कर्मों से खूंटे में बधे हुए पशु के समान मुझे मुक्त कर दीजिये।"

"यदि जाग्रत् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥"[1]

अथर्ववेद में विवाह एवं प्रेम से सम्बन्धित कुछ मन्त्र मिलते हैं जिन्हें 'स्त्रीकर्माणि' कहते हैं। इस वर्ग में दो प्रकार के मन्त्र प्राप्त होते हैं। एक प्रकार के मन्त्र वे हैं जिनको हम पवित्र मन्त्रों की श्रेणी में रख सकते हैं। क्योंकि इनके द्वारा किसी व्यक्ति की किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती। इस श्रेणी के मन्त्रों में विवाह नवविवाहित दम्पति के लिए आशीर्वाद, सन्तानोत्पत्ति, गर्भवती स्त्री तथा नवजात शिशु की रक्षा के लिए प्रार्थनाएँ हैं। इन मन्त्रों के द्वारा वर-वधू को तथा कुमारी वर को प्राप्त कर सकती है तथा वर-वधू के पारस्परिक प्रेम एवं विश्वास की वृद्धि होती है।

दूसरे प्रकार के मन्त्रों में इन्द्रजाल, अभिशाप और वशीकरण के मंत्र हैं जिनका सम्बन्ध प्रेम के षड्यन्त्रों एवं वैवाहिक-जीवन के विघ्नों से है। इनमें कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके द्वारा पति पत्नी को, पत्नी पति को तथा सपत्नी को वश में किया जा सकता है। इसमें निद्रा लाने में सहायक कुछ मन्त्र हैं—एक प्रेमी चोरी-चोरी जब अपनी प्रेमिका के पास जाता है तो उस समय प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन्! इसके माता, पिता, कुत्ता, घर के वृद्ध पुरुष, प्रेमिका के सम्बन्धी और आस-पास के सभी लोग सो जाँय"।

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्यस्ये ज्ञातयः स्वप्त्यमभितो जनः॥

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं। जिनके द्वारा किसी स्त्री या पुरुष को वश में किया जा सकता है। किसी स्त्री को वश में करने के लिए पहले उसकी मिट्टी की मूर्ति बनानी पड़ती थी, तब सन की डोरी वाले धनुष पर एक विशेष प्रकार का वाण चढ़ाया जाता था जिसके अग्रभाग पर एक कांटा होता था और वाण में उल्लू का पंख लगा होता था वह काली लकड़ी का बना होता था। नायक इस वाण से नायिका के हृदय को बार-बार बींधता था और कहता था कि प्रेम के देवता कामदेव का वाण मेरी प्रियतमा के हृदय को बेधे। इसी प्रकार नायिका भी अपने प्रेमी को वश में करने के लिए उसकी मूर्ति बनाकर अग्नि में तपाये हुए बाणों से बेधती हुई यह

---

१. अथर्ववेद ६।११५।२

मन्त्र पढ़ती थी कि हे मरुत ! मेरे प्रियतम को पागल बना दो, हे अन्तरिक्ष ! हे अग्नि ! मेरे प्रेमी को पागल बना दे जिससे वह मेरे प्रेम में जलने लगे—

"उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्षमादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ।।"[1]

इसी प्रकार किसी स्त्री को वन्ध्या बनाने के लिए तथा पुरुष को नपुंसक बनाने के लिए भी कुछ मन्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें प्राचीनकाल में 'आङ्गिरस' कहा जाता था। दैत्यों ऐन्द्रजालिकों और शत्रुओं के विरुद्ध अभिशाप तथा भूतापनयन की विधियों के प्राचुर्य के कारण इसे 'अभिचारिक' भी कहते हैं।

अथर्ववेद में कुछ ऐसे सूक्तों का संग्रह है जो तत्कालीन राजनीतिक दशा का चित्र उपस्थित करते हैं जिन्हें 'राजकर्माणि' कहते हैं। इन सूक्तों में राजा के राज्याभिषेक, विजयप्राप्ति, नष्टराज्य का पुनर्लाभ, युद्धयात्रा आदि के सम्बन्धित अनेक मन्त्र हैं। दुन्दुभि से सम्बन्धित दो सूक्त हैं जिनमें शत्रु-पराजय तथा स्व-विजय के लिए प्रार्थना की गयी है। शत्रु को संत्रस्त करने के लिए कहा जाता है कि 'हे भूतो ! उठो और अपना आयुध उठाओ तथा धूमकेतु के समान ज्वाला लेकर दौड़ो ! हे पातालवासी नागो ! और राक्षसो ! तुम भी मेरे शत्रु पर झपटो और उसका पीछा करो'—

उत्तिष्ठत सन्नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यामित्रानु धावतः ।।

राजकर्मणि सूक्तों में कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध पुरोहितों से था। ये पुरोहित राजाओं के लिए आवश्यक होते थे। जो राज्यभिषेक के समय, रथारोहण के समय, कवचधारण करने के समय तथा अन्य अवसरों पर राजा के अभ्युदय के लिए प्रार्थनापरक मन्त्रों का उच्चारण करते थे। इस प्रकार अथर्ववेद में हमें इन्द्रजाल से सम्बन्ध रखने वाले विविध मन्त्र मिलते हैं।

अथर्ववेद के अन्तिम भाग में कुछ मन्त्र ऐसे सङ्कलित किये गये हैं जो याज्ञिक उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। अथर्ववेद में यज्ञीय विधि का समावेश सम्भवतः उसे वेद का दर्जा दिलाने के लिए ही किया गया है। अथर्ववेद के सोलहवें काण्ड में यज्ञीय-विधि का वर्णन है। यह सोमयज्ञ से सम्बन्धित है। कुछ मन्त्रों को छोड़कर ये समस्त सूक्त ऋग्वेद से लिये गये हैं। इस काण्ड में कुन्तापसूक्त हैं। इनमें राजाओं की उदारता की प्रशंसा की गई है इसके अतिरिक्त इसमें कुछ पहेलियाँ एवं उनके हल भी हैं। कुछ ऐसे यज्ञ भी वर्णित हैं जो अनेक दिनों तक चलते थे।

---

१. अथर्ववेद ६।१३०।४

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्त (अध्यात्मवाद)

अथर्ववेद में आध्यात्मिक तथा सृष्टि-रचना विषयक कुछ सूक्त संकलित हैं जो काल की दृष्टि से अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। इन दार्शनिक सूक्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय आध्यात्मिक चिन्तन पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका था। अथर्ववेद में दार्शनिक-विचारधारा का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद[1] में परब्रह्म को सत्-असत् दोनों का कारण बताया गया है। वह ऊपर, नीचे, आकाश में सब जगह व्याप्त है तथा उसने ही पृथ्वी व आकाश को उत्पन्न किया है। अथर्ववेद में यह भी बताया गया है कि वह परब्रह्म अनेक अभिधानों से अभिहित किया जाता है। कहीं वह काल नाम से विश्व के समस्त वस्तु का आविष्कर्त्ता माना गया है। उसने ही स्वर्लोक की रचना की और भूलोक की रचना की और उसने ही परमव्योम को बनाया है। वह सबका ईश्वर और प्रजापति का पिता है।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येस्वरो य पितासीत् प्रजापतेः ॥

अथर्ववेद का त्रयोदश काण्ड रोहित सूक्त है। इसके प्रथम सूक्त में उगते हुए सूर्य की लालिमा को सृष्टि का मूलतत्त्व उद्घोषित किया है, रोहित द्यावापृथिवी का स्रष्टा है, पृथ्वी का राजा है, उसमें ही द्यावापृथिवी को दृढ़ किया है। एक अन्य स्थान पर वृषभरूप में उसकी स्तुति की गई है, वह विश्व का कर्त्ता एवं धर्त्ता रूप है। वह वृषभ दूध देता है, यज्ञ ही दूध रूप है। अथर्ववेद में गाय का रहस्यमय वर्णन है—यह द्यावापृथिवी तथा आपः गाय के द्वारा ही रक्षित हैं। गाय ही अमृत है, ये लोक-लोकान्तर, देवी-देवता, मनुष्य-असुर, राक्षस आदि सभी गाय के रूपान्तर हैं। इस प्रकार रोहित वृषभ एवं गाय की सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रशंसित हुआ है अथर्ववेद में कथित 'स्कम्भ' और 'उच्छिष्ट' शब्द प्रकारान्तर से ब्रह्म का अभिधान प्रतीत होता है। वहाँ बताया गया है कि 'स्कम्भ समस्त ईश्वर का कारण है, वह ब्रह्म का भी कारण है इसीलिए उसे 'ज्येष्ठब्रह्म' कहा गया है।'[2] इसी प्रकार 'उच्छिष्ट' से भी समस्त विश्व की उत्पत्ति बताई गई है।[3]

राथ का कथन है कि 'सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में इतना दिव्य और कोई सूक्त नहीं है जहाँ दैवी सर्वज्ञता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित किया गया हो, किन्तु इतनी सुन्दर कलात्मक कृति का प्रयोग अभिशाप के लिए करके उसे

---

१. ४।१।१, ५।६।१, १०।२।२५
२. अथर्ववेद १०।७।१२
३. वही ११।७।२३

विकृत कर दिया है। अथर्ववेद के अन्यान्य स्थलों की भाँति यहाँ भी अनुमान यही निकलता है कि प्राचीन सूक्तों में कुछ ही अंश ऐसे अवशिष्ट रह गये हैं जिनकी उपयोगिता इन जादूभरे विनियोगों के अतिरिक्त और कुछ न रह गई थी।" ब्लूमफील्ड का भी कथन है कि "यह सारा सूक्त जादू-टोने की दृष्टि से रचा गया था"। किन्तु यह कथन तर्कसंगत या उचित नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि यह ग्राह्य न हो सका।

अथर्ववेद में विज्ञान—वैदिकयुग में विज्ञान के विभिन्न अङ्गों का विकास प्रारम्भ हो गया था। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषय के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि उस समय विज्ञान विकसित अवस्था में था। अथर्ववेद के पञ्चमकाण्ड में लाक्षा (लाख) का वर्णन आया है। वहाँ यह बताया गया है कि "लाख किसी वृक्ष का निष्यन्द नहीं है बल्कि वह कीट-विशेष है। कीट अश्वत्थ, न्यग्रोध, धव, खदिर आदि वृक्षों पर रहते थे और लाख को उत्पन्न करते थे।" यह कीट बड़ा होने पर अण्डा देने के पहिले पीला हो जाता था इसीलिए इसे वहाँ 'हिरण्यवर्णा' कहा गया है।[1] इसके शरीर पर लोम अधिक होते थे अतः इसे 'लोमशवक्षणा' कहा गया है। ये कीट दो प्रकार के होते थे—(१) सरा-रेंगने वाले तथा (२) पतत्रिणी-उड़ने वाले। नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति कृमियों के द्वारा ही होती थी। अथर्ववेद में नाना प्रकार के कृमियों का वर्णन है जो नानाविध रोगों को उत्पन्न करते थे। अथर्ववेद में इन कृमियों के विनाश के वैज्ञानिक उपाय बताये गये हैं।[2] इसके अतिरिक्त शल्यचिकित्सा का भी मिलता है। जैसे, सुख-प्रसव के लिए योनिभेदन[3] मूत्र-रोध के लिए शरशलाका[4]। इस प्रकार अथर्ववेद में अनेक वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय भारतीयों को कीटाणु-शास्त्र का ज्ञान हो चुका था। वे यह भी जानते थे कि ये रोग-कीटाणु वायु के द्वारा शरीर में पहुँच कर नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। इसीलिए वायुशुद्धि के लिए यज्ञ का विधान विहित है। यज्ञ से वायु भी शुद्ध होता था और मेघ को धारण करने की शक्ति में वृद्धि भी होती थी।[5] अथर्ववेद में यक्ष्मा का वर्णन करते हुए शरीर के अवयवों का भी वर्णन है।[6] इससे ज्ञात होता है कि उस समय शरीर-विज्ञान का पर्याप्त विकास हो चुका था।

---

१. अथर्ववेद ५।५।५–६
२. वही ४।३७।१–१२
३. वही १।११।१–६
४. वही १।३।१९
५. अथर्ववेद २।३१–३३; ५।२३
६. वही २।३३।१–७

ऋग्वेद और अथर्ववेद का तुलनात्मक अध्ययन—

ऋग्वेद का अर्थ है कि ऋचाओं का वेद। ऋचा का अर्थ है गेय पद्य। अर्थात् देवताओं की स्तुति के रूप में गाये गये मन्त्रों (ऋचाओं) का संग्रह 'ऋग्वेद' है। इस प्रकार ऋग्वेद में देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों का संग्रह है जब कि अथर्ववेद में रोगनाशक एवं जादू-टोने से सम्बन्धित मन्त्र हैं। अथर्ववेद का एक नाम 'अथर्वाङ्गिरस' भी है। इसमें दो शब्द हैं—अथर्वा और अङ्गिरस्। इस प्रकार अथर्वों आङ्गिरसों के वेद को 'अथर्वाङ्गिरस' कहते हैं। अथर्वन् का अर्थ है रोगनाशक अर्थात् अथर्वन् ऋषियों द्वारा संकलित मन्त्र रोगनाशक हैं और अङ्गिरस् ऋषियों द्वारा संकलित मन्त्र शत्रुओं और विद्रोहियों के प्रति अभिशाप मन्त्र हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में दोनों प्रकार के अभिचार मन्त्रों का संग्रह होने के कारण इसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पड़ा।

अथर्ववेद का अधिकांश भाग ऋग्वेद से संकलित है अतः उसकी भाषा ऋग्वेद के समान ही है। तथापि अथर्ववेद में कुछ ऐसे जनप्रचलित शब्द मिलते हैं जो उसे परवर्त्ती काल का सिद्ध करते हैं। किन्तु भाषा के आधार पर किसी भी वेद का पूर्वापरत्व निश्चित नहीं किया जा सकता। क्योंकि दोनों की शैली में अन्तर है। ऋग्वेद की शैली काव्यमय है जबकि अथर्ववेद में अभिचारपरक मन्त्रों का संकलन होने से उसमें काव्य का अभाव है। दूसरे ऋग्वेद के मन्त्र पुरोहितों द्वारा रचित हैं और अथर्ववेद अधिकांशतः सामान्यजन की रचना है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में देवताओं की प्रशंसा में गाये गये स्तुतिपरक मन्त्र हैं और अथर्ववेद में जनप्रचलित जादू-टोने से सम्बन्धित मन्त्र भरे पड़े हैं। अतः ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद को परवर्त्ती रचना मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र अथर्ववेद में संगृहीत हैं किन्तु ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में वर्णित मन्त्रों का वातावरण उससे सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न अनेक देवी-देवताओं का वर्णन है जिनके भव्य मानवीय रूप का दर्शन कर उनसे सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए कामना करते हैं। ये देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक एवं प्रतिनिधि माने जाते हैं, स्तोता इनकी स्तुति करता है और अपने अभ्युदय की कामना करता है तथा वे शक्तिमान् देवता उनकी सहायता करते हैं और मनोऽभिलषित फल देते हैं। ऋग्वेदकालीन अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि कुछ प्रमुख देवता अथर्ववेद में भी वर्णित है वहाँ उनका मूलस्वरूप अधिकांशतः क्षीण हो गया है। क्योंकि अथर्ववेद काल में ये देवता केवल भूत-प्रेत एवं राक्षसों के विनाश के लिए आहूत किये जाते थे और इन पैशाचिक शक्तियों के विनाश के लिए अभिचारों का प्रयोग किया जाता था।

ऋग्वेद में यज्ञों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है किन्तु अथर्ववेद में यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों को महत्त्व दिया गया है। मन्त्र स्वयं शक्तिमान् हैं और आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावक हैं। अथर्ववेद की यह एक मौलिक विशेषता है कि इन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञों के बिना भी किया जा सकता है। अथर्ववेद में यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार से जोड़कर ऋग्वेदीय यज्ञ के अलौकिक महत्त्व के साथ-साथ लौकिक विशेषता का भी सन्निवेश कर लिया गया है। इन दोनों में एक अन्तर यह है कि ऋग्वैदिक यज्ञ बहुव्ययसाध्य और उच्चवर्ग द्वारा सम्पाद्य हैं तथा अथर्ववेद में वर्णित यज्ञ अल्पव्ययसाध्य और सामान्यजनों द्वारा सम्पादनीय हैं।

कुछ विद्वानों की यह धारणा रही है कि अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ऋग्वेद में आध्यात्मिक एवं आधिवैदिक तत्त्वों की प्रधानता है जब कि अथर्ववेद में भौतिक तत्त्वों का प्राधान्य है। अथर्ववेद में मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए विधानों का वर्णन है। ऋग्वेद का उद्देश्य विशिष्ट जन-जीवन है जबकि अथर्ववेद सामान्य जन-जीवन से सम्बन्ध है। जो प्राकृतजन के विश्वासों, आचार-विचारों, रहन-सहन, भूत-प्रेतादि अदृश्य शक्तियों में आस्था, अलौकिक शक्ति में दृढ़-विश्वास आदि का प्रतिनिधि है जो हमारा सामान्य जन-जीवन के सम्बन्ध में जानकारी का महत्त्वपूर्ण साधन है। ऋग्वेद विशिष्ट जन-जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। जिनके आचार-विचारों का धरातल अत्यन्त उच्चस्तरीय, संस्कृत एवं शिष्ट है। एक में संस्कृत जन हैं तो दूसरे में प्राकृतजन का निरूपण है। दोनों का विचार-धरातल इनमें स्पष्टतः दिखाई देता है। अतः दोनों को ही एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है।

ऋग्वेद को प्राचीनतम काव्य का एक निदर्शन माना जाता है किन्तु यह गौरव अथर्ववेद को प्राप्त होना चाहिए। ऋग्वेद में अधिकांशतः आध्यात्मिक एवं आधिदैविक मन्त्रों का सुन्दर समन्वय है और अथर्ववेद आधिभौतिक मन्त्रों का प्रशंसनीय संग्रह है। काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि से दोनों में उदात्त भावना से मण्डित, जन-मानस को संस्पर्श करने वाले मनोरम गीतिकाव्यों का वृहद् संग्रह है। दोनों मिलकर आर्यों के प्राचीनतम काव्य-कला का सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद को ऋग्वेद का पूरक माना जा सकता है।[1] जैसा कि बताया जा चुका है कि अथर्ववेद आभिचारिक मन्त्रों का संग्रह है। इसी कारण इसे चिरकाल तक वेद के रूप में मान्यता नहीं मिली थी, किन्तु कालान्तर में इसे चतुर्थ वेद का दर्जा मिल गया और ऋग्वेद के समान

१. वैदिक साहित्य (उपाध्याय) पृ० १६३

ही इसे महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। मैकडानल का कथन है कि अथर्ववेद ऋग्वेद की अपेक्षा मूढ़ ग्रहों से अधिक अनुप्राणित है। इसमें ब्राह्मणधर्म के विशेष उन्नत विचार नहीं पाये जाते, जन सामान्य में प्रचलित साधारण मंत्र-तंत्र एवं जादू-टोने का प्रयोग ही अधिकतर वर्णित है।[1]

एड्वर्ड कुहन का कथन है कि "अथर्ववेद में शारीरिक कष्ट के निवारण के लिए कुछ ऐसे मन्त्र-तन्त्र हैं जिनका स्वरूप एवं उद्देश्य प्राचीन जर्मन, लैटिन एवं रूसी जादू-टोने से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ तक देवता सम्बन्धी उच्चतर धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भारतीय धार्मिक विचारों के अर्वाचीन एवं प्रगतिशील युग का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक विचार उपलब्ध होते हैं। अतः एक सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है।"[2]

ऋग्वेदकाल में लोग देवताओं के प्रति श्रद्धा, प्रेम एवं विश्वास का भाव रखते थे और ये देवता भय के कारण-भूत राक्षसों का विनाश करते थे और अथर्ववेदकाल में वे देवताओं की चाटुकारिता करके उनकी कृपा प्राप्त करते थे तथा पिशाचों एवं राक्षसों को अलग-अलग वर्ग में विभाजित कर नतमस्तक हो उनके सामने प्रार्थना करते थे कि वह कोई क्षति न पहुँचाये। ऋग्वेदकाल में उपासक मन्त्रों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर अपना अभीष्ट साधन करता था और अथर्ववेदकाल में साधक या ओझा मन्त्रों का उच्चारण कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता था।

इस प्रकार जहाँ ऋग्वेद में देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्र हैं जिन्हें स्तोता यथासमय उच्चारण कर देवताओं को प्रसन्न करता था और उनसे मनोऽभिलषित कामना की पूर्ति करता था वहाँ अथर्ववेद में नाना प्रकार के आभिचारिक प्रयोग एवं जादू-टोने का प्रयोग होने लगा और लोग अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए नाना के प्रकार तन्त्र-मन्त्र एवं जादू-टोने का प्रयोग करने लगे थे।

अथर्ववेद का रचनाकाल

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद के बाद अथर्ववेद का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अथर्ववेद के रचनाकाल या संकलनकाल के सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। मैक्समूलर ने वैदिक वाङ्मय को चार कालों में विभाजित किया है—

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० १७१

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० १७२

१—छन्दःकाल	१०००—१२०० ईसापूर्व
२—मन्त्रकाल	८००—१००० ईसापूर्व
३—ब्राह्मणकाल	६००— ८०० ईसापूर्व
४—सूत्र काल	२००— ६०० ईसापूर्व

मैक्समूलर ने वैदिक वाङ्मय के पर्याप्त अनुशीलन के पश्चात् सूत्रकाल ६०० ई० पू० माना है। उन्होंने प्रत्येक काल के साहित्य-निर्माण में दो सौ वर्षों का अन्तर मानकर ब्राह्मणकाल ६०० ई० पू० से ८०० ई० पू०, मन्त्रकाल ८०० ई० पू० से १००० ई० पू० और छन्दःकाल १००० ई० पू० से १२०० ई० पू० स्वीकार किया है। तदनुसार चारों वेदों का रचना या संकलनकाल यही रहा होगा, किन्तु बाद में तर्क-वितर्क के बाद मैक्समूलर ने स्वयं अपने इस सिद्धान्त को शिथिल कर दिया।

प्राचीनकाल में ऋग् यजुः साम ये तीन संहिताएँ ही भारतीय-समाज में आदृत थी। जिन्हें 'त्रयी' के नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद बहुत काल के पर्याप्त संघर्ष के अनन्तर संहिताओं में स्थान पा सका। भाषा-शैली और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्ती काल की रचना प्रतीत होती है। रचना की दृष्टि से अथर्ववेद का बहुत कुछ ऋग्वेद जैसा है किन्तु प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से दोनों में बहुत कुछ भिन्नता है। ऋग्वेद में उच्चस्तरीय देवताओं की स्तुतियाँ हैं, जिनकी कल्पना उच्चकोटि के सुसंस्कृत विद्वान् पुरोहित द्वारा की गयी है, किन्तु अथर्ववेद में निम्नस्तरीय सामान्य-जन को सन्तुष्ट करने वाले मन्त्र-तन्त्र तथा भूत-प्रेतों को वश में करने वाले जादू-टोने विशेषकर पाये जाते हैं।

अथर्ववेद में वर्णित भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में चित्रित सामाजिक दशा ऋग्वेद में चित्रित समाज की अपेक्षा परवर्तीकाल की है क्योंकि अथर्वकाल में आर्य लोग दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़कर गाङ्गेय प्रदेश में रहने लगे थे। यही कारण है कि बङ्गाल के जङ्गलों में पाया जाने वाला व्याघ्र अथर्ववेद में सर्वाधिक शक्तिशाली और हिंसक पशु के रूप में वर्णित है। जिसका ऋग्वेद में जिक्र तक नहीं है। अथर्ववेद में ऋग्वेद के समान ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है किन्तु समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व और अधिकार अधिक बढ़ गया था।

अथर्ववेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि ऋग्वैदिक देवताओं का तो वर्णन है किन्तु उनके स्वरूप और कार्यों में पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद-काल में उनका मूलस्वरूप विस्मृत हो चुका था और वे असुर-संहारक, रोगनाशक एवं शत्रु-विध्वंसक हो गये थे। अतः अथर्ववेद ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्ती काल की रचना सिद्ध होता है।

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद में कुछ ऐसे सूक्त मिलते हैं जो ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्तीकाल के प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद के ऐन्द्रजालिक सूक्त ऋग्वेद के यज्ञीय सूक्तों की अपेक्षा बाद के काल के हैं, किन्तु इतने बाद के नहीं कि उन में शताब्दियों का अन्तर रहा हो। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जो उतने ही प्रागैतिहासिक काल के हैं जितने कि ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश। वस्तुतः अथर्ववेद किसी एक काल की रचना नहीं है इसमें विभिन्न काल के अंश सम्मिलित हैं जैसा कि अथर्ववेद के कुछ भागों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये ऋग्वेद से उद्धृत किये गये हैं। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि यद्यपि अथर्ववेद के कुछ अंश प्रागैतिहाहिक काल के हैं तथापि उसे वेद के रूप में मान्यता वेदत्रयी के अनन्तर ही मिली है। अतः उसका रचनाकाल या संकलनकाल वेदत्रयी के अनन्तर ही माना जा सकता है।

४

ब्राह्मण-साहित्य

वैदिक वाङ्मय में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपस्तम्ब ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को 'वेद' कहा है।[1] मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है अर्थात् जिसमें स्तुति, यज्ञ, गेय एवं रक्षा विषयक मन्त्रों का संकलन होता है ऐसे मन्त्र-समूह को 'संहिता' कहते हैं। संहिताएँ अधिकांशत: पद्यात्मक एवं स्तुति-प्रधान हैं। मन्त्र का पर्याय ब्रह्म है (ब्रह्म वै मन्त्रः)[2] और ब्रह्म या मन्त्रों के व्याख्यान भूत-ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मण' हैं अर्थात् जिसमें मन्त्रों एवं उनके विनियोगों की व्याख्या विहित होती है उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं।[3] 'ब्रह्म' का एक अर्थ यज्ञ भी होता है तदनुसार यज्ञ (ब्रह्म) का प्रतिपादन करने के कारण इसे 'ब्राह्मण' नाम से अभिहित किया जाता है। ये ब्राह्मण गद्यात्मक तथा विवरणात्मक हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में यज्ञों की विस्तृत विवेचना, कर्मकाण्डीय विधि-विधानों की व्याख्या तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया गया है। मैकडानल का कथन है कि विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक ग्रन्थों में सबसे प्राचीन होने के कारण ये ब्राह्मण ग्रन्थ विश्व-धर्म के अध्येता के लिए अत्यन्त उपादेय हैं तथा इनमें प्राचीन भारत की परिस्थिति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।[4] इस प्रकार भारतीयों के प्राचीन धर्म एवं दर्शन का इतिहास समझने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ आवश्यक हैं।

ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य-विषय

ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य विषय तीन वर्गों में विभाजित है—विधि, अर्थवाद और उपनिषद्। इनमें विधिभाग यज्ञ-विषयक प्रयोगात्मक नियमों का प्रतिपादन करता है। अर्थवाद में उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं द्वारा प्रयोग-विधान

---

१. मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः (आपस्तम्बपरिभाषा, ३१)।

२. शतपथब्राह्मण ७।१।१।५

३. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः (भट्टभास्कर १।५।१ तैत्तिरीयसंहिताभाष्य)।

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० २७

का सूक्ष्म रहस्य समझाया गया है। उपनिषद्भाग में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों का विवेचन है। वाचस्पति मिश्र ने मन्त्रों का विनियोग-निर्वचन (निरुक्ति), प्रयोजन, अर्थवाद (प्रतिष्ठान) तथा विधि को ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य बताया है।[1] इनमें विधि की ही प्रधानता है। शबरस्वामी ने शाबरभाष्य में हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परिक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण-कल्पना तथा उपमान इन दस विधियों का उल्लेख किया है।[2] इनमें निन्दा और प्रशंसा का अर्थवाद में सन्निवेश है। परिक्रिया और पुराकल्प दोनों का सन्निवेश आख्यान के अन्तर्गत है। शेष विषयों का विधि में समावेश है। इस प्रकार ब्राह्मणों के तीन विषय ही मुख्य हैं—विधि, अर्थवाद और आख्यान।

विधि—विधि के अन्तर्गत यज्ञीय विधियों एवं अनुष्ठानों का निरूपण है। जैसे ताण्ड्यब्राह्मण में 'बहिष् पवमान' के लिए अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्‌गाता, प्रतिहर्त्ता और ब्रह्मा इन पाँच ऋत्विज़ों के प्रसर्पण का विधान है। इनमें क्रमशः एक को दूसरे के पीछे पंक्ति में चलने का नियम है और नियम के टूट जाने पर हानि होने की सम्भावना बनी रहती है। शतपथब्राह्मण में यज्ञीय विधि-विधानों का भण्डार है।

विनियोग—ब्राह्मणों में मन्त्रों के विनियोग का भी विधान बताया गया है। विनियोग में 'किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाय' इसका सयुक्तिक विवेचन होता है। जैसे 'आ नो मित्रावरुणा' इस मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घरोगी की रोगनिवृत्ति के लिए है। क्योंकि मित्र दिन का देवता होने से प्राण के प्रतीक माने गये हैं और वरुण रात्रि का देवता होने से अपान के प्रतीक माने गये हैं। अतः दीर्घ रोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना शरीर में प्राणापान वायु के धारण का संकेत है। अतः यह विनियोग सयुक्तिक है।[3]

---

१. नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥
[वाचस्पतिमिश्र, वैदिक साहित्य (उपाध्याय) पृ० १७५]

२. हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परिक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥
(शाबर-भाष्य २।१।३३)

३. ताड्यब्राह्मण ६।१०।४-५

हेतु—कर्मकाण्ड की विशेष विधियों के लिए जो कारण बताये जाते हैं उन्हें 'हेतु' कहते हैं। ब्राह्मणों में यज्ञीय विधि-विधान के लिए समुचित एवं योग्य कारणों का निर्देश है। जैसे अग्निष्टोम याग में उद्‌गाता मण्डप में उदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है। इसका कारण है कि 'प्रजापति ने देवों के लिए ऊर्ज का विभाग किया, उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई, अतः उदुम्बर का देवता प्रजापति माना गया है और उद्‌गाता का सम्बन्ध प्रजापति से है अतः उद्‌गाता उदुम्बर की शाखा का उच्छ्रयण करता है।'[१] इसी प्रकार द्रोणकलश रथ के नीचे रखने के कारण का निर्देश किया है कि "प्रजापति के प्रजा-सृष्टि के कामना करते ही उनके मस्तिष्क से आदित्य की उत्पत्ति हुई, उसने प्रजापति का शिर काट डाला, उसी से द्रोण-कलश की उत्पत्ति हुई। उसी में देदीप्यमान सोमरस का पान कर देवताओं ने दीर्घायुष्य को प्राप्त किया।'[२] इसी प्रकार और भी बहुत सी विधियों के कारणों का निर्देश ब्राह्मणों में पाया जाता है।

अर्थवाद—अर्थवाद में उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं के द्वारा यज्ञीय प्रयोगों का महत्व प्रतिपादित किया जाता है। किस यज्ञ-विशेष के लिए किन-किन विधियों की आवश्यकता होती है और उससे किस फल की प्राप्ति होती है? इन विषयों का निर्देश अर्थवाद के अन्तर्गत आता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा तथा विधियों, अनुष्ठानों एवं देवों की प्रशंसा-परक वाक्य भी अर्थवाद की परिधि में आते हैं। जैसे यज्ञ में माष का प्रयोग वर्जित है अतः उसकी निन्दा की गई है (अमेध्या वै माषा)।[३] इसी प्रकार ताण्ड्यब्राह्मण में अग्निष्टोम को सब यज्ञों में श्रेष्ठ एवं उपादेय बताया गया है।[४] इस प्रकार के अनेक प्रशंसावचन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

निर्वचन—ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर शब्दों के निर्वचन का भी निर्देश दिया गया है जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। जैसे 'उदक' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—"उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदक-मुच्यते"।[५] "इसी प्रकार 'रथन्तर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"रथं मर्या क्षेप्लाऽतारीत् इति तद् रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्"[६] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रकार की निरुक्तियों का निर्देश है।

१. ताण्ड्यब्राह्मण ६।४।१
२. वही ६।५।१
३. वही ५।१।८।१
४. वही ६।३।८-९
५. अथर्ववेद ३।१३।१
६. ताण्ड्य ब्राह्मण ७।६।४

आख्यान—ब्राह्मण में अनेक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण आख्यान मिलते हैं जिनका उद्देश्य विधि-विधानों के स्वरूप की व्याख्या करना है। ये आख्यान यज्ञीय कर्मकाण्डों के हेतु आदि विधियों की स्पष्ट व्याख्या करते हैं किन्तु कभी-कभी इन आख्यानों में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें भी मिल जाती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों को सरस एवं सुरुचिपूर्ण बनाने में इन आख्यानों का विशेष योगदान है।

ब्राह्मणों का रचनाकाल

ब्राह्मण-ग्रन्थों का काल-निर्धारण का प्रश्न उतना ही कठिन है जितना कि संहिताओं के काल-निर्धारण का प्रश्न। अतः निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना कब हुई? किन्तु अनुमान किया जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना उस समय हुई होगी, जबकि ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हुए सुदीर्घ काल बीत चुका था। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में आर्यों का निवास-स्थान सिन्धु प्रदेश था और अथर्ववेद के काल में आर्य गङ्गा-यमुना के प्रदेश में पहुँच चुके थे। यजुर्वेद एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुरु-पाञ्चाल देश का उल्लेख है। कुरुदेश गङ्गा-यमुना के क्षेत्र के पश्चिम तथा सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के मध्य में अवस्थित है और इसी से मिला हुआ पाञ्चाल प्रदेश है। ताण्ड्यब्राह्मण में कुरुक्षेत्र को प्रजापति (यज्ञ) की वेदि माना गया है।[१] मनुस्मृति में इसी प्रदेश को 'ब्रह्मावर्त्त' कहा गया है।[२] इसी प्रदेश में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई होगी और यहीं से ब्राह्मण-संस्कृति समस्त भारत में फैली होगी।

शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण समस्त देवों का प्रतिनिधि है क्योंकि उनमें समस्त देवों का निवास है।[३] इस प्रकार ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणों का महत्त्व सर्वोपरि था। मनु ने तो ब्राह्मणों को सबसे महान् देवता कहा है।[४] रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं कि ब्राह्मण तप के द्वारा वह उच्च स्थान प्राप्त कर लेता था कि उनके सामने देव भी कांपने लगते थे किन्तु बुद्ध-युग में देवताओं और ब्राह्मणों का यह महत्त्व कम हो गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म का कोई भी संकेत नहीं मिलता जबकि बौद्ध-साहित्य ब्राह्मण-साहित्य के पूर्व अस्तित्व को संकेतित करता है। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्गम व विकास ऋग्वेद काल के बाद तथा बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हुआ है।

---

१. एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति (ताण्ड्यब्राह्मण २५।१३।३)
२. मनुस्मृति २।२२
३. शतपथब्राह्मण १२।४।४६
४. मनुस्मृति ९।३१७,३९।

मैक्समूलर ने समस्त वैदिक वाङ्मय को चार भागों में विभाजित कर प्रत्येक के साहित्य-निर्माण एवं विकास के लिए दो सौ वर्षों का अन्तराल माना है—

१—छन्दःकाल	१०००–१२०० ई० पू०
२—मन्त्र काल	८००–१००० ई० पू०
३—ब्राह्मण काल	६००– ८०० ई० पू०
४—सूत्र काल	२००– ६०० ई० पू०

इस प्रकार सूत्र-काल ब्राह्मण-काल के पश्चात् एवं बौद्ध धर्म के उत्थान के प्रभातकाल में माना गाया है और सूत्रकाल से दो सौ वर्ष पूर्व (अर्थात् ६००–८०० ई० पू०) ब्राह्मणग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था, क्योंकि दो सौ वर्षों के अन्तराल में विचार, साहित्य और यज्ञ परम्पराओं में पर्याप्त विकास हो गया था। अतः मैक्समूलर के मतानुसार ब्राह्मण-ग्रन्थ का रचनाकाल ६००–८०० ई० पू० माना जाता है किन्तु ओल्डनवर्ग का कथन है कि बौद्ध धर्म के उदय एवं प्राचीन उपनिषदों के अन्तराल में कई शताब्दियाँ बीत चुकी थी और वेदाङ्ग साहित्य बौद्ध धर्म के उदय के कई शताब्दी पूर्व ग्रथित हो चुका था तथा ब्राह्मण-साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था।

हाग महोदय ने वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल ११८६ ई० पू० निर्धारित किया है और यह सिद्ध किया है कि १२०० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था। शङ्करबालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष-शास्त्र' नामक ग्रन्थ में शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि पहले कृत्तिका नक्षत्र पूर्व की ओर दिखाई देता था और आज कुछ उत्तर की ओर दिखाई देता है। यह स्थिति लगभग २५०० ई० पू० में थी, और यही समय ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचना का था। इस आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रणयन का समय २५०० ई० पू० में सिद्ध होता है।

याकोवी तथा बालगङ्गाधर तिलक ज्योतिष गणना के आधार पर यह निश्चित करते हैं कि ब्राह्मण-काल में बसन्त-सम्पात कृत्तिका नक्षत्र पर होता था और कृत्तिका से ही नक्षत्रों की गणना होती थी। तिलक के अनुसार यह स्थिति २५०० ई० पू० में थी जबकि वासन्तिक विषुव कृत्तिका नक्षत्र में होता था। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई होगी। याकोवी का कथन है कि विवाह के अवसर पर वर-वधू को ध्रुवतारा दिखाने की प्रथा थी। उस समय ध्रुवतारा अधिक चमकीला और अधिक स्थिर था। यह स्थिति लगभग २५०० ई० पू० में थी। इसी समय सूत्र-साहित्य की रचना हुई होगी और ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इसके पूर्व में होनी चाहिए। इस प्रकार

ज्योतिष गणना के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना काल ३००० ई० पू० मानना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण-साहित्य का निर्माण किसी एक समय में नहीं हुआ है। इसके विकास में कई शताब्दियाँ लगी होंगी; क्योंकि ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणों एवं पुरोहितों का महत्त्व बढ़ गया था, सारे देश में ब्राह्मण-संस्कृति फैली और यज्ञ-प्रक्रिया में पूर्ण विकास हुआ इन सब के लिए कई शताब्दियाँ लगी होंगी। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण संहिताओं के पूर्ण ग्रथन के बाद ३००० ई० पू० से १००० ई० पू० के मध्य माना जा सकता है। बूलर का कथन है "कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व भी भारत में ऐसे सम्प्रदाय थे जो वैदिक वाङ्मय की पवित्रता को चुनौती देते थे उनमें एक है जैन सम्प्रदाय"।[१] जैन-धर्म का उदय ईसा के लगभग ८०० वर्ष पूर्व में हुआ था। इस प्रकार ब्राह्मण-साहित्य जैन-धर्म के उदय के पूर्व प्रतिष्ठित हो चुका था। अतः यह निश्चित है कि ८०० ई० पू० में ब्राह्मण-साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था।

ब्राह्मणकालीन समाज

ब्राह्मणयुगीन समाज में चारों वर्णों का प्रमुख स्थान था किन्तु वैदिक-याग का सम्पादक होने के कारण उनमें ब्राह्मण का सर्वातिशायी महत्त्व था। ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ को ब्राह्मणों का शस्त्र बताया गया है।[२] शतपथब्राह्मण में दो प्रकार के देव बताये गये हैं—एक तो अग्नि आदि देव हैं और दूसरे मानवीय देव। उनमें ब्राह्मण मानवीय देव हैं। यज्ञीय पुरोडाश आदि देवों के लिए और दक्षिणा मानवीय देवों के लिए है।[३] शतपथब्राह्मण में तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्राह्मण केवल मानवीय देव ही नहीं, बल्कि वह देवों से भी ऊपर सर्वदेव हैं।[४] मनु ने भी कहा है कि ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, वह महान् देवता है और सबसे ऊँचा देवता है।[५] ब्राह्मण को ब्रह्मवर्चसी अर्थात् वेदाध्ययन के लिए तेजस्वी होना चाहिए। वेदज्ञाता ब्राह्मण को महान् प्रतापी माना जाता है।[६] ब्राह्मण-ग्रन्थों में क्षत्रिय को राष्ट्र का रक्षक तथा वैश्य को

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २२३

२. एतानि वै ब्रह्मण आयुधानि, यद्यज्ञायुधानि (ऐतरेय ब्राह्मण ७।१९)

३. शतपथ ब्राह्मण २।२।२।६

४. वही १२।४।४।६

५. मनुस्मृति ९।३१७, ३१९

६. शतपथ ब्राह्मण ४।६।६।५

उसका वर्धक कहा गया है। क्षत्रिय का बल युद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य को साक्षात् राष्ट्र ही कहा है क्योंकि वैश्य के धन अर्जन करने पर ही राष्ट्र का कार्य चल सकता है।[१] शतपथ ब्राह्मण में शूद्र को श्रम का रूप कहा गया है।[२] क्योंकि पाद से उत्पन्न होने के कारण सेवाधर्म ही उसका प्रधान धर्म था।

ब्राह्मण संस्कृति का आधार यज्ञ है और ब्राह्मणों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म बताया गया है।[३] समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम होने के कारण यज्ञ ही सर्वोत्तम धर्म है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञरूप है और आकाश में देदीप्यमान आदित्य भी यज्ञरूप है।[४] समस्त विश्व को तथा मानव-जाति को उन्नत तथा पावन बनाने वाला यज्ञ ही है। यज्ञ के द्वारा समस्त पापों से मुक्ति मिलती है। शतपथ-ब्राह्मण में तो यहाँ तक बताया गया है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाला व्यक्ति समस्त पापों और ब्रह्महत्या को भी विनष्ट कर देता है।[५] यज्ञ ही समस्त प्राणियों और समस्त देवों की आत्मा है। यज्ञ के द्वारा ही देवताओं ने असुरों को पराजित कर स्वर्ग को प्राप्त किया था। इस प्रकार ब्राह्मणकाल में यज्ञ की सर्वाधिक मान्यता थी, उस समय सभी लोग यज्ञ को अपना परम धर्म समझते थे। यज्ञ के द्वारा ही समस्त विश्व का कल्याण होता था। यज्ञ ही भारतीय संस्कृति का प्रधान अङ्ग था।

नैतिकता—ब्राह्मण ग्रन्थों में नैतिकता का अभाव नहीं है जैसा कि पश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में नैतिकता के विषय स्वल्प स्थानों पर ही चर्चित हैं। उस समय का समाज आचारनिष्ठ एवं पूर्ण नैतिक था। सत्य बोलना, सत्य विचार और सत्कर्म आदि ब्राह्मणयुग के प्रमुख धर्म थे। उस समय मिथ्या भाषण करना तथा मिथ्या आचरण करना महान् पाप समझा जाता था।[६] वहाँ यह बताया गया है कि असत्यवादियों का तेज धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और वह नित्य पापी होता जाता है अतः मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए।[७] शतपथ ब्राह्मण में यह बताया गया है कि असत्यवादियों को यद्यपि थोड़े समय के लिए सफलता मिल सकती है किन्तु अन्त में उसका सर्वनाश हो जायगा। इसके विपरीत सत्यवादियों को प्रारम्भ में भले ही कुछ कष्ट भोगना पड़े किन्तु अन्त

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२६।
२. शतपथ ब्राह्मण १३।६।२।१०
३. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शतपथ ब्राह्मण १।७।१।५)
४. सः यः यज्ञोऽसौ स आदित्यः (वही १४।१।१।१६)
५. शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।१
६ अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति (शतपथ ब्राह्मण) ३।१।३।१८
७. तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति—श्वः-श्वः पापीयान् भवति, तस्माद् सत्यमेव वदेत्। (शतपथ ब्राह्मण २।२।२।१९)

में उसे पूर्ण सफलता मिलती है।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि सत्य के द्वारा ही स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[2] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। क्योंकि सत्य को मानव अभ्युदय का श्रेयस्कर साधन माना गया है। यही कारण है कि सत्यवादी सदा अजेय रहता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य को सदा श्रमशील होने का उपदेश है, क्योंकि श्रमशील मनुष्य मधु एवं स्वादु फलों को प्राप्त करता है। देखिये सूर्य निरन्तर गतिशील रहने के कारण ही विश्ववन्द्य है।[3] ब्राह्मणों में अभिमान को अधःपतन का कारण बताया गया है। अतः वह निरभिमान होकर निरन्तर आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहे। उस समय चोरी करना, डाका डालना तथा किसी को गाली देना पाप समझा जाता था।[4] मद्यपान करना, किसी से द्वेष करना भी समाज में हेय माना जाता था। दान करना, अतिथियों की सेवा करना आदि समाज में श्रेष्ठ कर्म माना जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में तो यहाँ तक बताया गया है कि सायंकाल घर पर आये हुए अतिथि का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति अतिथि का सत्कार करता था वह सदा प्रसन्न रहता था।[5] इस प्रकार ब्राह्मणकालीन समाज में आतिथ्य तथा सत्य का विशेष महत्त्व था। धर्माचरण मानव का परम कर्त्तव्य था और यज्ञ ही परम धर्म माना जाता था। इन्द्रिय-लोलुपता अत्यन्त घृणित कार्य समझा जाता था। इस प्रकार के पापों के लिए प्रायश्चित करना पड़ता था। नारी के लिए पातिव्रत का पालन करना मङ्गलमय माना जाता था।

पुरुष और नारी—ब्राह्मण युग में नारी और पुरुष का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुरुष शतायु होता था। (शतायुर्वै पुरुषः)। नारी पुरुष की अर्धाङ्गिनी मानी जाती थी। यज्ञ में तो वह सहधर्मिणी होती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष बिना पत्नी के यज्ञ का अधिकारी ही नहीं होता था।[6] स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी कही जाती थी। घर में पति के साथ रहना स्त्रियों की प्रतिष्ठा मानी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि रूपवती स्त्री पति के लिए प्रिया होती थी। सुन्दरी नारी वह है जिसका नितम्ब भाग पृथु, जघनभाग

१. शतपथ ब्राह्मण ९।५।१।१६
२. ऋतेनैव स्वर्गं लोकं गमयति (ताण्डच ब्राह्मण १८।२।१९)
३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३।१५
४. वही ७।२७; ८।११
५. वही ११९७; ५।३०
६. अयज्ञो वा एषो योऽपत्नीकः (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।२।६)

चौड़ा, स्कन्धों का मध्यभाग कुछ संकुचित यथा कटि भाग कृश हो।[१] उस समय स्त्रियाँ अपने केशपाशों को सजाती थीं, सुन्दर पट्टों को धारण करती थीं और अलङ्कारों से अपने को सुसज्जित करती थी; जिससे उसका सौन्दर्य निखर जाता था।[२] इस प्रकार की सुन्दरी के साथ विवाह कर पुरुष पुत्रोत्पत्ति की कामना करता था, क्योंकि पुत्र के विना मनुष्य का कल्याण नहीं है (नापुत्रस्य लोकोऽस्ति)।[३] वृद्धावस्था में पुत्र ही पिता का आधार होता था। पुत्र के द्वारा ही पिता संसार-सागर को पार करने में समर्थ होता था। इसलिए समाज में पुत्र-प्राप्ति की आवश्यकता है।

पातिव्रत्य का पालन करना नारी के लिए मङ्गलमय माना जाता था। पातिव्रत्य का पालन करते हुए पति के साथ रहने में नारी की प्रतिष्ठा थी। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि जो नारी एक की पत्नी होते हुए दूसरे पुरुष के साथ रमण करती थी वह पाप करती है।[४] किन्तु स्त्रियों को मारना समाज में निन्दित समझा जाता था। स्त्रियों में कुछ अवगुण भी होते थे। जैसे स्त्रियाँ निरर्थक बातों की ओर विशेष ध्यान देती थी, जो पुरुष नाचता है, गाता है उसकी ओर शीघ्र आकृष्ट हो जाती थी।[५] वस्तुतः स्त्री और पुरुष ये दोनों ही एक दूसरे पूरक हैं। इसीलिए नारी को पुरुष का अर्धाङ्गिनी कहा गया है। वह जीवन की सहचरी है, पारिवारिक-जीवन में वह आदर्श गृहिणी है। इस प्रकार समाज में नारी का महत्त्व समझा गया है।

ब्राह्मणों का संक्षिप्त परिचय

ऋग्वेद के ब्राह्मण—

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय ब्राह्मण और कौषितकि (शांखायन) ब्राह्मण। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम मार्टिन हाग ने १८६३ ई० में अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन किया था। तदनन्तर १८७९ में आफ्रेच्ट (Aufrecht) ने सायण भाष्य के उद्धरण के साथ एक संस्करण प्रकाशित किया। इसके पश्चात् १९२० ई० में

---

१. शतपथ ब्राह्मण १।२।५।१६

२. एतद्वै योषायै समृद्धं रूपं यत् सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा (शतपथब्राह्मण ६।५।१।१०)

३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३

४. वरुण्य वा एतत् स्त्रीकरोति. यदन्यस्य सती अन्येन चरति (शतपथ ब्राह्मण २।५।२।२०)

५. मोघसंहिता एव योषा। तस्माद्य एव नृत्यति, यो गायति, तस्मिन्नेवेता निमिदलतमा इव। (शतपथ ब्राह्मण ३।२।४।६)

ए० बी० कीथ ने सायणभाष्य और अंग्रेजी अनुवाद के साथ एक संस्करण प्रकाशित किया।[1]

ऐतरेयब्राह्मण में चालिस अध्याय हैं और प्रत्येक पांच अध्यायों की एक पञ्चिका और प्रत्येक अध्याय में कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल आठ पञ्चिका, चालिस अध्याय और दो सौ पचासी कण्डिकाएँ हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य भाग सोमयाग से सम्बन्ध रखता है। इसके प्रथम और द्वितीय पञ्चिका में एक दिन में सम्पन्न होने वाले 'अग्निष्टोम' नामक सोमयाग में होतृ के विधि-विधानों एवं कर्त्तव्यों का वर्णन है। तृतीय एवं चतुर्थ पञ्चिका में प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन विधि के साथ अग्निहोत्र का प्रयोग बताया गया है। साथ ही अग्नि-ष्टोम की विकृतियों—उक्थ, अतिरात्र और षोडशी नामक यागों का संक्षिप्त विवेचन है। पञ्चम में द्वादशाह यागों तथा षष्ठ पञ्चिका में सप्ताहों तक चलने वाले सोमयागों एवं उनके होता तथा सहायक ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन है। सप्तम पञ्चिका में राजसूय यज्ञ तथा शुनःशेप का आख्यान वर्णित है। अष्टम पञ्चिका में ऐतिहासिक विवरण है। इसमें प्रथम 'ऐन्द्र महाभिषेक' तदनन्तर चक्रवर्त्ती नरेशों के अभिषेक का चित्रण है।

ऐतरेय ब्राह्मण में जिन भारतीय जातियो का उल्लेख है उससे ज्ञात होता है कि भारतवर्ष की पूर्वी सीमा में विदेह, दक्षिण में भोज, पश्चिम में नीच्य और अपाच्य, उत्तर में उत्तर कुरु तथा मध्य देश में कुरु-पञ्चाल लोग राज्य करते थे। सीमान्त प्रदेश में रहने वाली पौण्ड्र, आन्ध्र, पुलिन्द, शबर आदि जातियों से आर्यों का सम्पर्क था। इनके अतिरिक्त मत्स्य, कुरु, काशी, खाण्डव आदि देशों का भी उल्लेख है।

ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र को सब देवों में श्रेष्ठ बताया गया है। वह सबसे अधिक शक्तिशाली और साहसी है और दूर तक पार लगाने वाला है।[2] जन्म से ही ब्राह्मण पर तीन ऋण होते हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण। इन तीन ऋणों का परिशोधन यज्ञ या पुत्रोत्पत्ति के द्वारा होता है। अतः ब्राह्मण को विविध ऋण-मोचन के लिए सुन्दरी कन्या से विवाह करना चाहिए, क्योंकि नारी ही पुरुष की सखा है। विवाह के अवसर पर जब वर और वधू सात पग एक साथ चलते थे तब सप्तम पग रखने पर वर वधू से कहता था कि इस सप्तम पग पर तू मेरी सखा बन। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि अन्न ही प्राण है, वस्त्र ही परिरक्षा है, सुवर्ण ही सौन्दर्य है, पशुप्राप्ति का साधन विवाह

१. भारतीय साहित्य का इतिहास (पृष्ठ १५२)
२. स वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः (ऐतरेय ब्राह्मण ७।१६)

है, पत्नी मित्र है, दुहिता ही दरिद्रता है और पुत्र ही आकाश की ज्योति है।[1] पति ही जाया में प्रवेश कर दशम मास में पुत्र के रूप में प्रकट होता है। नारी का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि नारी ही पुरुष की अर्धाङ्गिनी है जिसकी स्त्री मर गयी है उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय नारी का सम्मान अधिक था किन्तु पुत्री का जन्म विपत्ति का कारण माना जाता था।

एतेरेय ब्राह्मण में शुनःशेप का आख्यान अनेक दृष्टियों से पठनीय है। शुनःशेप ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों के द्रष्टा ऋषि है। इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्र के कोई सन्तान नहीं थी। नारद के उपदेश से उन्होंने वरुण के पास जाकर व्रत लिया कि 'यदि मेरे पुत्र होगा तो उसे वरुणदेव को अर्पित कर दूंगा'। तब राजा के घर एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'रोहित' था। किन्तु राजा बलि देने के लिए उसे उपयुक्त न समझ टालता गया और रोहित प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो गया। अन्त में राजा पुत्र को बलि देने के लिए तैयार हो गया किन्तु अवसर पाकर रोहित घर से भाग निकला और जंगलों में इधर-उधर घूमता रहा। इसी बीच राजा को वरुण के अभिशाप से जलोदर रोग हो गया। यह समाचार सुनकर रोहित घर लौट आया और अजीगर्त ब्राह्मण के पास जाकर उसके मध्यम पुत्र शुनःशेप को सौ गायें देकर खरीद लेता है। शुनःशेप का पिता अपने पुत्र की बलि देने के लिए तैयार हो जाता है और शुनःशेप को यूप में बांध दिया जाता था। किन्तु शुनःशेप ऐसे अवसर पर देवताओं की स्तुति करता है। जैसे-जैसे वह स्तुति करता गया वैसे, वैसे वरुण का पाश टूटता गया और महाराज हरिश्चन्द्र का रोग भी घटता गया। अन्त में शुनःशेप पाशमुक्त हो गया और राजा भी रोगमुक्त हो गया।"[3] अन्त में शुनःशेप ने अपने लोभी पिता को छोड़ दिया और विश्वामित्र ने उसे दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया।

ऐतरेय ब्राह्मण में 'सोम-हरण' का भी एक आख्यान है। इस उपाख्यान में सोम का अपहरण करने के लिए वाणी से अनुरोध किया जाता है जो स्वर्ग में प्रतिष्ठित था। गायत्री ने श्येन पक्षी का रूप धारण कर पैरों से पकड़कर सोम

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३।४-६,८

अन्नं हि प्राणाः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥

२. अपत्नीकः कथमग्निहोत्रं जुहोति ? (ऐतरेय ब्राह्मण ७।९-१०)

३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।९।१३-१८

को देवताओं के पास लाती है किन्तु रास्ते में ही गन्धर्व उसे चुरा लेते हैं। तब देवताओं ने विचार किया कि गन्धर्व स्त्रियों के प्रेमी होते हैं अतः वाणी को भेजकर उसके माध्यम से सोम को मंगाया जाय। तदनन्तर वाणी गन्धर्वों के पास जाकर सोम को लाती है। इस आख्यान में वाणी को एक आदर्श नारी का प्रतिनिधि बताया गया है।

कौषीतकि ब्राह्मण—ऋग्वेद से सम्बद्ध दूसरा ब्राह्मण कौषीतकि अथवा शाङ्खायन है। यह शाङ्खायन शाखा का ब्राह्मण है इसलिए इसे शाङ्खायन ब्राह्मण कहते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण का प्रथम सम्पादन १८८७ ई० में लिण्डनर ने किया था। तदनन्तर १९२० ई० में ए० बी० कीथ ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन किया था।[1]

कौषीतकि ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में पांच से लेकर सत्तरह तक खण्ड हैं। कुल खण्डों की संख्या २२६ है। प्रथम छः अध्यायों में पाकयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, अग्न्याधान, दर्शपौर्णमास और ऋतुयज्ञ का वर्णन है। सात से तीस अध्याय में सोमयाग का वर्णन है। अन्तिम अध्याय में चातुर्मास्य का वर्णन है किन्तु सोमयाग प्रधान विषय है। इसका प्रतिपाद्य विषय ऐतरेय ब्राह्मण के समान है। ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य भाग सोमयाग से सम्बन्ध रखता है अतः इस ग्रन्थ में भी सोमयाग ही प्रधान विषय है। कौषीतकि ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण से परवर्ती प्रतीत होता है किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण किसी एक काल की तथा किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है जबकि कौषीतकि ब्राह्मण एक व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है। सप्तम अध्याय में विष्णु को उच्चकोटि का देवता माना गया है। इसके षष्ठ अध्याय में शिव के ईशान, महादेव, रुद्र, पशुपति, भव आदि नामों का उल्लेख है। इसके तृतीय अध्याय में शुनःशेप का आख्यान वर्णित है। इसका प्रधान प्रवक्ता कौषीतकि ऋषि था।

यजुर्वेद के ब्राह्मण

यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। कृष्णयजुर्वेद में गद्यात्मक विनियोगों के साथ पद्यात्मक मन्त्रों का संकलन है और शुक्लयजुर्वेद में केवल पद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह है। कृष्णयजुर्वेद की काठक एवं मैत्रायणी संहिताओं के ब्राह्मण तो संहिताओं में सम्मिलित हैं। मैत्रायणी संहिता का तो कोई ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं है किन्तु उसका चौथा अध्याय एक प्रकार से ब्राह्मण ही है। केवल तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय ब्राह्मण ही स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है।

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास पृ० १४०

तैत्तिरीय ब्राह्मण—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रथम संस्करण १८९० में कलकत्ता में प्रकाशित हुआ था, तदनन्तर द्वितीय संस्करण १८९९ ई० में पूना में प्रकाशित हुआ। इस पर सायणभाष्य उपलब्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कुल तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सोमयाग तथा नक्षत्रेष्टि का वर्णन है। द्वितीयकाण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि, वृहस्पति सव आदि नानाविध सत्रों का वर्णन है। इनमें अनेक ऋचाएं ऋग्वेद से संगृहीत हैं। तृतीय काण्ड में नक्षत्रेष्टि का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन है जो कृष्णयजुर्वेद की सहिता में उपलब्ध नहीं होती है। किन्तु माध्यन्दिन संहिता में यह उपलब्ध होता है। सम्भवतः वहीं से उद्धृत किया गया होगा? इस काण्ड के अन्तिम तीन प्रपाठक कठ शाखा से सम्बद्ध हैं, सम्भवतः कठशाखा की परम्परा में ये सुरक्षित न रखे गये हों और किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत कर दिये गये हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रपाठक आठ एवं नौ में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। यह अश्वमेध यज्ञ केवल क्षत्रियों के लिए विहित था। यह वर्णन शतपथ ब्राह्मण के विवरण से साम्य रखता है। शूद्र को यज्ञकार्य में अपवित्र माना जाता था, क्योंकि उसके द्वारा दुहे हुए दूध को यज्ञ में अग्राह्य माना गया है।[1] समाज में स्त्री का विशेष सम्मान था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा है कि 'प्रजापति की दो कन्याएँ थी-श्रद्धा और सीता-सावित्री। सोम श्रद्धा से विवाह करना चाहता था और सीता-सावित्री सोम से विवाह करना चाहती थी। प्रजापति ने सीता-सावित्री के ललाट पर वशीकरण औषधि का लेप कर दिया। तब सोम ने उसे देखकर वश में हो गया और सीता-सावित्री से विवाह कर लिया।"[2] यहाँ पर सीता सावित्री एक ही नाम है। इस ब्राह्मण में मूर्ति और वैश्य की उत्पत्ति ऋक् से, गति और क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुष् से तथा ज्योति और ब्राह्मण की उत्पत्ति साम से वतलाकर साम को सब वेदों में श्रेष्ठ माना गया है।

मैत्रायणी ब्राह्मण—कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता का कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण नहीं है किन्तु उसका चतुर्थ अध्याय ही ब्राह्मण माना जाता है। मैत्रायणी ब्राह्मण में तीन अध्याय हैं। इस ब्राह्मण में रात्रि की उत्पत्ति का आख्यान इस प्रकार है—'यम के मृत्यु हो जाने पर देवों ने यमी को समझाने का प्रयत्न किया कि वह उसे भूल जाय, किन्तु यमी कहती थी कि वह आज ही तो मरा है,

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।३
२. वही २।३।११

उसे कैसे भूल जाऊँ ? तब देवों ने उसके दुःख-निवारण के लिए रात्रि की सृष्टि की; क्योंकि उस समय केवल दिन ही होता था, रात्रि नहीं होती थी। रात्रि के बाद प्रातः होने पर यमी यम को भूल जाती है। इस प्रकार दिन-रात का चक्र चलता रहता है कि मानव रात्रि के बाद प्रातः अपने दुःखों को भूल जाय।[1] मैत्रायणी संहिता में एक अन्य उपाख्यान पर्वतोपाख्यान है। "पर्वत प्रजापति के अपत्य थे और उनके पंख होते थे। वे जहाँ चाहें उड़कर बैठ जाते थे और धन-जन की क्षति पहुँचाते थे। उस समय पृथ्वी भी स्थिर नहीं थी। इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट दिये और पृथ्वी को स्थिर कर दिया। पर्वतों के वे कटे हुए पंख ही मेघ बनकर पर्वतों की ओर परिभ्रमण करते हैं।"[2]

शतपथ ब्राह्मण—शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण का नाम शतपथब्राह्मण है। इसमें सौ अध्याय होने के कारण इसका नाम शतपथ पड़ा है। शुक्लयजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—काण्व और माध्यन्दिन और दोनों के ब्राह्मणों का नाम 'शतपथ' है। इनमें काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण का सम्पादन आचार्य जे० एगलिंग ने किया है। माध्यन्दिन शाखीय शतपथब्राह्मण का प्रथम प्रकाशन आचार्य वेबर ने १८५५ ई० में किया है। तदनन्तर द्वितीय संस्करण १९१२ ई० में सत्यव्रत सामश्रमी जी ने सायणभाष्य के साथ प्रकाशित किया है।

वर्ण्य-विषय—काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण में सत्रह काण्ड १०४ अध्याय ४३५ ब्राह्मण और ६८०६ कण्डिकाएँ हैं। माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में चौदह काण्ड १०० अध्याय ६८ प्रपाठक ४३८ ब्राह्मण और ७६२४ कण्डिकाएँ हैं। विषय की एकता होने पर भी दोनों के वर्णनक्रम और अध्यायों, ब्राह्मणों और कण्डिकाओं में पर्याप्त अन्तर है। काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण में प्रपाठक नामक उपखण्ड नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों में एक अन्तर और भी दृष्टिगोचर होता है। वह यह कि माध्यन्दिनशाखीय शतपथ के प्रथमकाण्ड में जो विषय प्रतिपादित है काण्वशाखीय शतपथब्राह्मण में वह द्वितीय काण्ड में है और माध्यन्दिन के द्वितीय काण्ड का विषय काण्व के प्रथम काण्ड में है। शेष विषय दोनों में समान हैं किन्तु दोनों के वर्णन क्रम में अन्तर है।

शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास इष्टियों का वर्णन है। दर्श इष्टि प्रत्येक अमावस्या के अनन्तर प्रतिपद् में सम्पन्न होती थी और पूर्णमास इष्टि पूर्णिमा के द्वितीय दिन प्रतिपद् में सम्पन्न होती थी। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायण और चातुर्मास्य का वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थ को अग्नि का आधान करके उसमें प्रातः एवं सायं हवन करना 'अग्निहोत्र'

---

१. मैत्रायणी ब्राह्मण १।५।११
२. वही १।१०।१३

है। पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से जो श्राद्ध, तर्पण आदि किया जाता है वह 'पिण्डपितृयज्ञ' है। मार्गशीर्ष मास में नवोत्पन्न अन्न से हवन करना 'आग्रायण' है। चातुर्मास्य एक विशिष्ट याग है जो चार मास में सम्पन्न होता था।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड में सोमयाग का विधान वर्णित है। सोमयाग में सोमलता को कूट-कूट कर रस निकाला जाता था और उसमें गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उसे देवताओं को चढ़ाया जाता था और अग्नि में हवन किया जाता था। अग्निष्टोम सोमयाग का प्रकृतिभूत याग है और ज्योतिष्टोम आदि विकृतियाग है। प्रकृतियाग का वर्णन तृतीय काण्ड में और विकृतियाग का वर्णन चतुर्थ काण्ड में हुआ है। पञ्चम काण्ड में राजसूय और सोमयाग का वर्णन है। राजसूय याग एक महत्त्वपूर्ण याग माना जाता था जिसका सम्पादन अभिषिक्त राजा ही करता था।

षष्ठ काण्ड से लेकर दशम काण्ड तक अग्निचयन का वर्णन है। इन काण्डों में शाण्डिल्य का प्रामाण्य स्वीकृत है, याज्ञवल्क्य का तो नामोल्लेख तक नहीं है। इन काण्डों में गान्धार, केकय, शाल्व आदि जनपदों का उल्लेख है। शेष काण्डों में कुरुपाञ्चाल, कौशल, विदेह आदि का उल्लेख है। एकादश से चतुर्दश काण्ड तक परिशिष्ट के रूप में वर्णन है। एकादश काण्ड में दर्शपूर्णमास, पञ्चमहायज्ञ तथा पशुबन्ध के अवशिष्ट विधानों का वर्णन है। द्वादशकाण्ड में द्वादशसत्र, सम्वत्सरसत्र, सौत्रामणि, अन्त्येष्टि आदि का विस्तृत विवेचन है। त्रयोदशकाण्ड में अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध और पितृमेध का वर्णन है। अभिषिक्त राजा ही अश्वमेध यज्ञ कर सकता था। चतुर्दश काण्ड में 'प्रवर्ग्य' अनुष्ठान का वर्णन है। अन्तिम पांच अध्याय बृहदारण्यकोपनिषद् है जिसका वर्णन उपनिषदों के वर्णन के प्रसङ्ग में किया जायगा।

शतपथब्राह्मण की प्राचीनता एवं महत्त्व—प्राचीनतम ब्राह्मण-साहित्य में शतपथ ब्राह्मण का प्रमुख स्थान है। इसमें तत्कालीन आर्यों के जीवन विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है। विशालता एवं विषय की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शतपथब्राह्मणकाल में यज्ञीय विधि-विधानों का पूर्ण विकास हो चुका था। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानो में मतभेद पाया जाता है। डा० वाकरनागेल का मत है कि 'भाषा की दृष्टि से ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण परवर्ती काल के ब्राह्मण हैं और तैत्तिरीय एवं पञ्चविंश ब्राह्मण प्राचीनतम काल के ब्राह्मण हैं।' डा० ओल्डनवर्ग इसी मत का समर्थन करते हैं। उन्होंने संस्कृत गद्य के विकास में प्राचीन गद्य का उदाहरण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से तथा अर्वाचीन गद्य का उदाहरण 'शतपथ-

ब्राह्मण' से दिया है।[1] किन्तु डा० कीथ का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके मत में शतपथ ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीनतर है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण स्वराङ्कित रूप में उपलब्ध होता है जबकि तैत्तिरीय को छोड़कर अन्य कोई भी ब्राह्मण-ग्रन्थ स्वराङ्कित रूप में उपलब्ध नहीं होता।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक वर्णनों से ज्ञात होता है कि शतपथ ब्राह्मण काल में ब्राह्मण-संस्कृति का प्रमुख केन्द्र 'कुरु-पाञ्चाल' था। कुरुदेश का राजा जनमेजय था और पाञ्चालवासी आरुणि उनकें कुलगुरु थे। ब्राह्मण संस्कृति उस समय मध्यदेश, कोशल, विदेह तक फैल चुकी थी। क्योंकि विदेहराज जनक की सभा में कुरु-पाञ्चाल से आये हुए अनेक ब्राह्मण थे। इन ब्राह्मणों में परस्पर शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद होता था जो शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों में वर्णित है। ब्राह्मणों के नेता उद्दालक आरुणि के शिष्य याज्ञवल्क्य थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक विदेह ब्राह्मण धर्म से पूर्णतः प्रभावित नहीं हो सका था। क्योंकि विदेहराज माधव, जिनके कुलगुरु गौतम राहुगण थे, किसी समय सरस्वती नदी के तट पर रहते थे। वहाँ से अग्निवैश्वानर पृथ्वी को जलाता हुआ पूर्व की ओर बढ़ता गया और 'सदानीरा' नदी के तट पर पहुँचकर वहीं रुक गया। इधर विदेहराज माधव अपने कुलगुरु के साथ उसके पीछे-पीछे वहाँ तक गये और अग्निवैश्वानर से अपने निवास के लिए पूछा तब अग्निवैश्वानर ने उन्हें उस नदी के पूर्व प्रदेश में रहने की आज्ञा दी। आज भी यह नदी कोशल और विदेह की सीमा समझी जाती है, प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते थे; क्योंकि इस प्रदेश को ब्राह्मणों के लिए अयोग्य बतलाया गया है।[2] किन्तु इस घटना के पश्चात् ही ब्राह्मण लोग यहाँ पर निवास करने लगे।

शतपथब्राह्मण का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन के आचार्य आसुरि का शतपथ ब्राह्मण में कई बार उल्लेख है। आसुरि सांख्य प्रवर्त्तक कपिल के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त कुरुदेश के राजा जनमेजय का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में ही पाया जाता है।

शतपथब्राह्मण के आख्यान—शतपथब्राह्मण में अनेक प्रकार के आख्यान-उपाख्यान मिलते हैं। ये आख्यान प्रायः यज्ञीय विधियों के व्याख्यान-परक, उपदेशात्मक एवं नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित होते हैं। उर्वशी-पुरुरवा का आख्यान मरुभूमि के शाद्वल के समान रम्य है। इस आख्यान का मूल स्रोत

१. भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १४१

२. शतपथब्राह्मण १।४।१।१०-१७)

ऋग्वेद का उर्वशी-पुरुरवा-सम्वाद है जिसका विकास शतपथब्राह्मण में हुआ है। इस आख्यान में पुरुरवा का उर्वशी के प्रति प्रेम, उर्वशी की शर्तें तथा गन्धर्वों द्वारा किया गया षड्यन्त्र आदि कवित्वमय भाषा में वर्णित हैं।

पुरुरवा उर्वशी नामक अप्सरा से प्रेम करता है। प्रेम हो जाने के बाद उर्वशी पत्नी बनने के लिए कुछ शर्तें रखती है। उनमें एक शर्त का अतिक्रमण हो जाने पर गन्धर्वों द्वारा उर्वशी को राजा का परित्याग करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। इस पर उर्वशी राजा का परित्याग कर चली जाती है। तब पुरुरवा उर्वशी के वियोग में विलाप करता हुआ कुरुप्रदेश में इधर-उधर भटकता है। अन्त में राजा कमलसरोवर में हंसिनी के रूप में तैरते हुए उसे देखता है। इसी प्रकार का आख्यान ऋग्वेद में प्राप्त होता है। उसके बाद उर्वशी का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। तब वह राजा से कहती है कि एक वर्ष के बाद अन्तिम रात्रि में तुम यहाँ आना। उस समय तुम एक रात्रि में मेरे साथ शयन करोगे तब तुम्हारे एक पुत्र होगा।

तदनन्तर एक वर्ष के पश्चात् दोनों का मिलन होता है। तब उर्वशी राजा से कहती है कि प्रातःकाल गन्धर्व तुझे एक वरदान देंगे। तब तुम अपना अभीष्ट वर माँग लेना। तब राजा उर्वशी से कहता है कि तुम्हीं बताओ कि मैं क्या मांगूं? तब उर्वशी बताती है कि तुम यह मांगना कि मुझे भी अपने जैसा बनालो। प्रातःकाल राजा गन्धर्वों से वही वर मांगता है। तब गन्धर्व राजा को एक विशिष्ट अग्निहोत्र सम्पादन की शिक्षा देते हैं जिससे मनुष्य गन्धर्व का रूप प्राप्त कर सकता है। यह आख्यान परवर्त्ती साहित्य में अधिक व्यापक हो गया है।

जलप्लावन की कथा---शतपथब्राह्मण में सबसे रोचक उपाख्यान जलप्लावन की कथा है। विन्टरनिट्ज के अनुसार इस कथा का मूल स्रोत सेमेटिक परम्परा है। अवेस्ता में भी यह कथा पायी जाती है। महाराज मनु को एक छोटी-सी मछली मिलती है। वह राजा से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करती है और वचन देती है कि एक जलप्लावन आयेगा जिससे मैं तुझे बचा लूंगी। मनु मत्स्य की रक्षा करते हैं और उसके बड़ा होने पर उसे समुद्र में प्लावित कर देते हैं। मत्स्य के निर्देशानुसार मनु ने एक जलयान (नौका) का निर्माण करवाया और जलप्लावन आने पर उसमें बैठ लिया। उस समय मत्स्य तैरकर वहाँ आ गया और जलयान को उत्तरीय पर्वत की ओर बहाकर एक सुरक्षित स्थान पर ले जाकर एक शिखर पर बँधवा दिया और कहा कि जब जल नीचे उतर जाय तब तुम धीरे-धीरे नीचे उतरना। मनु के नौका बांधने का यह स्थान 'मनोरवसर्पण' के के नाम से विख्यात है।

वाणी का आख्यान—शतपथब्राह्मण में वाणी का आख्यान अत्यन्त रोचक है। 'एक बार मन और वाणी में झगड़ा हुआ। मन ने कहा मैं बड़ा हूँ और वाणी ने कहा कि मैं। दोनों ही निर्णय के लिए प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया और कहा कि मन वाणी से श्रेष्ठ है क्योंकि वाणी मन के कार्यों का अनुसरण करती है। इस पर वाणी ने रुष्ट होकर प्रजापति से कहा कि मैं तुम्हारे लिए कभी भी हविष् का वहन नहीं करूँगी। इसीलिए प्रजापति को दी जाने वाली आहुति के समय मन्त्र मन्द-स्वर से बोले जाते हैं यह आख्यान यज्ञीय विधि की व्याख्या की दृष्टि से वर्णित है।

शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान में वाणी को नारी का प्रतिनिधि बताया गया है। 'सोम की चोरी' नामक उपाख्यान में वाणी का इसी रूप में वर्णन किया गया है। सोम स्वर्ग में प्रतिष्ठित था। गायत्री एक पक्षी का रूप धारण कर सोम को स्वर्ग से नीचे लाती है किन्तु रास्ते में ही गन्धर्व उसे चुरा लेते हैं। इस पर देवताओं ने विचार किया कि गन्धर्व स्त्रियों के प्रेमी होते हैं अतः वाणी को उनके पास भेजकर सोम मँगाया जाय। तब वे वाणी से सोम को लाने के लिए अनुरोध करते हैं और वाणी गन्धर्वों के पास जाकर सोम का अपहरण कर लाती है। तब गन्धर्व भी उसके पीछे-पीछे आते हैं और देवताओं से कहते हैं कि सोम तुम्हारा है किन्तु वाणी हमारी है। इस पर देवताओं ने कहा कि जिसके पास वाणी स्वतः जाय, उसी की है। तब गन्धर्वों ने वेदगान कर उसे अपने अनुकूल करने का प्रयास किया और इधर देवों ने वीणा बजाकर नाचना-गाना आरम्भ किया। तब वाणी गन्धर्वों को छोड़कर देवों के पास चली गयी। आज भी स्त्रियाँ जो नाचता, गाता है उसकी ओर तुरन्त आकृष्ट हो जाती हैं।' ऐसा प्रतीत होता है कि यह अख्यान स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति की व्याख्या के लिए रचा गया होगा।

सृष्टि-सम्बन्धी उपाख्यान—शतपथब्राह्मण में सृष्टि-विषयक अनेक आख्यान हैं। सभी आख्यान प्रायः प्रजापति से सम्बन्धित हैं। प्रजापति ही समस्त सृष्टि का विधाता है। प्रायः सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी कथाएँ इस प्रकार प्रारम्भ होती हैं प्रजापति सृष्टि के लिए अपने को कष्ट देता है और तपस्या करता है। इसीलिए सृष्टि के बाद वह दुर्बल, क्षीण एवं शक्तिहीन हो जाता है। सृष्टि-कर्त्ता प्रजापति ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ देव माना गया है। "प्रजापति प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए अपने को कष्ट देता है और तपस्या करता है। उसने सबसे पहले पक्षियों को उत्पन्न किया, फिर छोटे-छोटे रेंगने वाले जीवों को तथा फिर साँपों को उत्पन्न किया; किन्तु उत्पन्न होते ही वे सब नष्ट हो गये।

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३।२।४।२–६

केवल प्रजापति ही अकेला बचा रहा। उसने सोचा कि ये सब भोजन के अभाव में मर गये हैं। अतः उसने स्तन्य पायी जीवों को उत्पन्न किया और वे जीवित रहे।"[१] पुनः "उसने अपने अङ्गों से पशुओं को उत्पन्न किया, मन या मस्तिष्क से मनुष्यों को, आँख से अश्व को, श्वास से गाय को, कर्ण से भेड़ को और वाणी से बकरे को उत्पन्न किया। मस्तिष्क से उत्पन्न होने के कारण मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली माना गया है।"[२]

ब्राह्मणों में प्रजापति को अधिकतर विश्व का एक मात्र स्रष्टा माना गया है। उसी से संसार के समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं किन्तु ब्राह्मणों में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रजापति को ही उत्पन्न हुआ माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक उपाख्यान में बताया गया है कि "प्रारम्भ में जल ही जल था, जलों का एक सागर। उसने अपने को कष्ट दिया और घोर तपस्या की अर्थात् उष्मा अर्जित किया। तब उनसे एक सोने का अण्डा उत्पन्न हुआ। वह अण्डा एक सम्वत्सर तक जल में तैरता रहा। एक संवत्सर के पश्चात् उस अण्ड से एक मनुष्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति ही था। तब उसने अण्डे के दो टुकड़े कर दिये। एंक संवत्सर कें वाद प्रजापति ने बोलने का प्रयास किया। तब उसके मुख से 'भूः' यह शब्द निकला जो पृथ्वी बन गया। पुनः 'भुवः' यह शब्द कहा जो अन्तरिक्षलोक बन गया। पुनः 'स्वः' कहा, यह शब्द स्वर्लोक बन गया। प्रजापति एक वर्ष के बाद बोला था अतः नवजात शिशु एक वर्ष बाद ही बोलने का प्रयास करता है।[३]

सृष्टि-उत्पत्ति विषयक एक कथा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार "प्रारम्भ में केवल 'असत्' था। वह असत् वस्तुतः एक ऋषि था, उसने तपस्या करके प्रत्येक वस्तु की सर्जना की। सर्व प्रथम उसने सात पुरुषों को उत्पन्न किया। उन सब को मिलाकर एक पुरुष प्रजापति बना दिया। तब प्रजापति ने कामना की कि मैं सन्तान उत्पन्न करूँ जिससे मेरा वंश चले। उसने तपस्या करके ब्रह्मन् को उत्पन्न किया। यही ब्रह्मन् समस्त वस्तुओं की आधार-भित्ति है। इस आधार-भित्ति पर अवस्थित होकर प्रजापति ने तप किया और सबसे पहले जल उत्पन्न किया। वेद की सहायता से उन्होंने एक अण्ड भी उत्पन्न किया, अण्ड से अग्नि उत्पन्न हुई और अण्ड का कोष पृथ्वी बन गया।"[४] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में वर्णित ये आख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. शतपथ ब्राह्मण २।५।१।१–३
२. वही ७।५।२।६
३. वही
४. वही ६।१।१

सामवेद के ब्राह्मण—

सामवेद से सम्बद्ध आठ ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख सायण ने इस प्रकार किया है—१-प्रौढ़ ब्राह्मण (ताड्य या पञ्चविंश ब्राह्मण), २-षड्विंशब्राह्मण, ३-सामविधान ब्राह्मण, ४-आर्षेय ब्राह्मण, ५-देवताध्याय, ६-उपनिषद् ब्राह्मण ७-संहितोपनिषद् ब्राह्मण और (८) वंश ब्राह्मण।[1] सामवेद की दो शाखाएँ हैं—एक ताण्डिशाखा और दूसरी तवल्कार या जैमिनि शाखा।

ताण्ड्य ब्राह्मण—ताण्डि शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसका नाम 'ताण्ड्यब्राह्मण' है। पचीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसे 'पञ्चविंश ब्राह्मण' भी कहते हैं। सामवेद के ब्राह्मणों में प्रधान तथा विशाल काय होने के कारण इसे 'प्रौढ़-ब्राह्मण' तथा 'महाब्राह्मण' भी कहते हैं। इसका सम्पादन ए० सी० वेदान्त वागीश ने सायणभाष्य के साथ १८७४ ई० में किया था। इसमें एक दिन से लेकर शतदिवसीय तथा अनेक वर्षों तक चलने वाले यागों का प्रतिपादन है। यह विशेषतः सोमयाग से सम्बद्ध है। किन्तु इसमें सरस्वती और दृषद्वती नदियों के तट पर हुए अनेक यागों का सविस्तार वर्णन है।

वर्ण्य-विषय—ताण्ड्यब्राह्मण पचीस अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोमों की विष्टुतियाँ विशदरूप में वर्णित हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में 'गवामयन' का वर्णन है। यह सांवत्सरिक याग एवं समष्टि समे षष्ठ अध्याय में ज्योतिष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्र का वर्णन है। ये 'एकाह' और 'अहीन' यज्ञों की प्रकृति हैं। सप्तम से नवम अध्याय तक प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन और रात्रिकालीन पूजा की विधान वर्णित है। दशम से पञ्चदश अध्याय तक द्वादशाह यागों का विधान तथा एक दिन से प्रारम्भ कर दशम दिन तक के विधानों तथा सामों का वर्णन है। षोडश अध्याय से एकोनविंश अध्याय तक विविध प्रकार के 'एकाह' यागों का विवेचन है। बीस से बाइसवें अध्याय तक 'अहीन' यागों का विस्तृत वर्णन है। अहीन याग में तीन वर्षों का अधिकार रहता है, दक्षिणा होती है और अन्त में अतिराश्र संस्था होती है। तेइसवें से पचीसवें अध्याय तक सत्रों का वर्णन है। इसमें त्रयोदशाह याग से लेकर सहस्र संवत्सर सत्र का सविस्तार वर्णन है।

---

(१) अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्।
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत्॥
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः॥ (सायण भाष्य)

ताण्ड्यब्राह्मण में मुख्यतः सोमयाग का वर्णन है किन्तु व्रात्य-स्तोम में व्रात्यों का विवरण प्राप्त है। प्रवास करने वाले आचार से हीन आर्य 'व्रात्य' कहलाते थे। इन व्रात्यों को आर्यों की समकक्षता-प्राप्त कराने के लिए इसमें व्रात्य यज्ञ का विधान वर्णित है। व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम साम का विधान किस मन्त्र पर हो ? कुछ आचार्यों का कथन है कि 'देवो वा द्रविणोदा' पर साम का विधान होना चाहिए। अन्य आचार्यों का मत है कि 'अदर्शि गातु वित्तम सतो वृहती' पर साम का विधान होना चाहिए। ताण्ड्य में इस मत का खण्डन कर पूर्वमत का समर्थन किया गया है।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण के सत्रहवें अध्याय में व्रात्यों के वेष-भूषा, आचार-विचार के सम्बन्ध में बहुत सा विषय निर्दिष्ट है। व्रात्य सिर पर पगड़ी धारण करते थे और काली धारी की धोती पहनते थे। गले में चाँदी का कंठहार तथा हाथ में धनुर्दण्ड धारण करते थे। स्त्रियाँ वेणी बाँधती थी।[2]

भौगोलिक दृष्टि से पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि उस समय आर्य केवल कुरुक्षेत्र तक ही नहीं, बल्कि सुदूर पूर्व के अनेक स्थानों तक पहुँच चुके थे। कुरुक्षेत्र से लेकर नैमिषारण्य तक का प्रदेश यज्ञभूमि के रूप में प्रसिद्ध था। सरस्वती और दृषद्वती के तटवर्त्ती प्रदेशों में अनेक यज्ञ हुए थे। कोशल तथा विदेह के राजाओं का उल्लेख इस बात को द्योतित करता है कि उस समय आर्य यहाँ से पूर्ण परिचित हो चुके थे। आचार-हीन आर्य व्रात्य कहलाते थे। उन्हें आर्यवर्ग में प्राप्त करवाने के लिए नानाविध यागों का वर्णन है। ताण्ड्य ब्राह्मण में रोहित नदी का उल्लेख है जिसके तटवर्त्ती प्रदेश को विश्वामित्र ने भरतों की सहायता से अपने अधिकार में कर लिया था।[3]

सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण इसमें साम के विशिष्ट प्रकारों तथा उनके नामकरण के औचित्य का विवेचन है। साम का नामकरण उनके द्रष्टा ऋषियों के नाम पर होता था। जैसे, वत्स ऋषि के द्वारा दृष्ट साम 'वात्स साम' मेधातिथि ऋषि के द्वारा दृष्ट साम 'मेधातिथ्य साम' और वैखानस ऋषि से दृष्ट साम 'वैखानस साम' कहलाते थे। इसमें सामों के महत्त्व प्रतिपादन के लिए कई आख्यान दिये गये हैं। जैसे, मेधातिथि ने किसी समय वत्स को शूद्रपुत्र एवं अब्राह्मण कह दिया। इस पर दोनों अग्नि के पास पहुँचे और वत्स ने अपने को अग्नि में डाल दिया किन्तु उसका एक रोम भी नहीं जला (तस्य लोम च नौषत्)। तब से वात्स साम 'कामसनि' (इच्छाओं का पूरक)

---

१. ताण्ड्यब्राह्मण १७।१।११–१२
२. वही १३।४।३; ४।१।१
३. वही १४।३।१३

नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] इसी प्रकार 'वीङ्क साम' में च्यवन ऋषि के यौवन-प्राप्ति का आख्यान वर्णित है।[2]

षड्विंशब्राह्मण—षड्विंश ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का ही एक परिशिष्ट भाग है। इसका षड्विंश नाम छब्बीसवाँ अध्याय का बोधक होने से प्रतीत कराता है कि इसका विषय पञ्चविंश ब्राह्मण का पूरक है। इसका प्रथम संस्करण जीवानन्द विद्यासागर ने १८८१ ई० में सायण भाष्य के साथ प्रकाशित किया था और द्वितीय संस्करण १८९४ ई० में के० क्लेम ने प्रकाशित किया था। तदनन्तर १९०८ ई० में एच० एफ० एलसिंग ने तृतीय संस्करण प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त इसका एक संस्करण १९६७ ई० में केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित हुआ है। तिरुपति वाले संस्करण में कुल छः अध्याय हैं। इनमें प्रारम्भ के पाँच अध्याय यज्ञ के विषय से सम्बन्धित हैं और अन्तिम षष्ठ अध्याय का विषय नितान्त भिन्न है। जीवानन्द विद्यासागर वाले संस्करण में पाँच प्रपाठक हैं। अन्तिम पाचवाँ प्रपाठक 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है।

षड्विंश ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में 'सुब्रह्मण्या' ऋचा की विशिष्ट व्याख्या है। ऋत्विजों की वेश-भूषा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि श्येनयाग में ऋत्विजों को लाल पगड़ी तथा लाल किनारी वाली धोती पहनने का विधान है।[3] इसी प्रकार इस ब्राह्मण में ब्राह्मणों के सन्ध्या करने का समय अहोरात्र का सन्धिकाल बताया गया है।[4]

अद्भुत ब्राह्मण—षड्विंश ब्राह्मण का पञ्चम प्रपाठक ही 'अद्भुत ब्राह्मण' है। अलौकिक अद्भुत घटनाओं के वर्णन के कारण इसका नाम 'अद्भुत ब्राह्मण' पड़ा। इसका प्रकाशन प्रो० वेबर ने १८५८ ई० में बर्लिन में किया था। यह अत्यन्त लघुकाय ब्राह्मण है। इसमें भूकम्प, अकाल आदि उत्पातों एवं अपशकुनों के दुष्प्रभाव को शान्त करने की विधियाँ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें देवताओं के हास्य, नृत्य, गायन, रोदन आदि विविध अलौकिक घटनाओं का वर्णन भी प्राप्त होता है।

सामविधान ब्राह्मण—सामविधान ब्राह्मण सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है। इसकी विषय-सामग्री अन्य-ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित विषय-सामग्री से सर्वथा

---

१. ताण्ड्य ब्राह्मण १४।६।६

२. वही १४।६।१०

३. लोहितोष्णीषाः लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति (षड्विंश ब्राह्मण ४।२।२२

४. तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासते (वही ५।५।४)।

भिन्न है। इसका प्रथम प्रकाशन वर्नेल ने सायणभाष्य के साथ १८७३ में किया था। तदनन्तर प्रो० कोनो ने १८९३ ई० में एक संस्करण निकाला था। १९६५ ई० में एक संस्करण सायणभाष्य के साथ केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से प्रकासित हुआ है।

सामविधान ब्राह्मण में कुल तीन प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि व्रतों का वर्णन है। इसमें काम्य प्रयोग तथा प्रायश्चित्तों का विधान विशेष रूप से वर्णित है। द्वितीय प्रकरण में पुत्र-प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के प्रयोगों का वर्णन है। तृतीय प्रकरण में ऐश्वर्य, नवगृह प्रवेश तथा आयुष्य प्राप्ति के लिए अनेकविध अनुष्ठानों का वर्णन है। इस ब्राह्मण में किसी भी व्यक्ति को गाँव से भगाने, शत्रु का विनाश करने, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए तथा नाना उपद्रवों को शान्त करने के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानों का विधान वर्णित है।

सामविधान ब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय समाज चार वर्णों में विभाजित था। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण आदि चार वर्णों की हत्या, गोहत्या, ब्राह्मण का पशु तथा दुग्ध आदि पदार्थों का विक्रय करना, शूद्रों को वेद पढ़ाना, शूद्रा के साथ विवाह करना, ज्येष्ठ भाई से पहले विवाह करना, मद्यपान, गाली देना आदि अपराध प्रचलित थे। इन पापाचरणों से छुटकारा पाने के लिए इस ब्राह्मण में अनेक विधान वर्णित हैं। यहाँ तक कि मारण, मोहन, रोगापनयन आदि की विधियाँ भी वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त रुद्र एवं विष्णु की शान्ति दो सामों के द्वारा तथा विनायक एवं स्कन्द की शान्ति अन्य दो सामों द्वारा विहित है।[1] इस प्रकार ऐन्द्रजालिक एवं आभिचारिक विधि-विधानों के परिचय के लिए इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है।

आर्षेय ब्राह्मण—आर्षेय ब्राह्मण सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन वर्नेल द्वारा १८७६ ई० में किया गया। इसमें कुल तीन प्रपाठक तथा बयासी खण्ड हैं। इस ब्राह्मण में विशेष रूप से साम के उद्भावक ऋषियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त साम गायन के प्रचारक ऋषियों का भी वर्णन किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

दैवत ब्राह्मण—सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में दैवत ब्राह्मण सबसे छोटा ब्राह्मण है। वर्नेल ने इसका प्रथम सम्पादन १८७३ ई० में किया था। तदनन्तर १८८१ में जीवानन्द विद्यासागर ने सायण भाष्य के साथ प्रकाशित किया और १९६५ ई० में केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से एक संस्करण प्रकाशित हुआ। 'इस ब्राह्मण में कुल तीन खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में कई कण्डिकाएँ

---

१. सामविधान ब्राह्मण १।४।६-१९

हैं। प्रथम खण्ड में छब्बीस कण्डिकाएँ हैं। इसमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, प्रजापति, त्वष्टा, पूषा, आङ्गिरस, सरस्वती, तथा इन्द्राग्नी आदि देवताओं की प्रशंसापरक अनेक गेय सामों का निर्देश है। द्वितीय खण्ड में ग्यारह कण्डिकाएँ हैं। इनमें छन्दों के देवता तथा वर्णों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। तृतीय खण्ड में पचीस कण्डिकाएँ हैं। इनमें छन्दों की निरुक्तियाँ वर्णित हैं। भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसमें छन्दों निरुक्तियाँ दी हुई हैं।

उपनिषद् ब्राह्मण—उपनिषद् ब्राह्मण भी सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण है। इसमें दस प्रपाठक हैं। इस ब्राह्मण के दो ग्रन्थ हैं—(१) मन्त्र ब्राह्मण और (२) छान्दोग्योपनिषद्।

(१) मन्त्र ब्राह्मण—मन्त्रब्राह्मण का ही दूसरा नाम छान्दोग्य ब्राह्मण है। इसके अनेक संस्करण निकले हैं। सर्वप्रथम सत्यव्रत सामश्रमी ने १८९० ई० में कलकत्ता से टीका के साथ इसे प्रकाशित किया था। इस ब्राह्मण में केवल दो प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड हैं। कुल २५७ मन्त्र हैं। गुण-विष्णु ने गृह्यसूत्रों से ग्यारह मन्त्र लेकर इसमें और जोड़ दिये हैं। इस ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक में विवाह, गर्भाधान, मुण्डन, उपनयन आदि गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह है। द्वितीय प्रपाठक में दर्शपूर्णमास, अग्राह्मणी कर्म, भूतवलि, देववलि, पिण्डदान, होम, नवगृह प्रवेश आदि से सम्बद्ध अनेक मन्त्र दिये गये हैं। मन्त्रों की भाषा सरल, सुबोध, एवं प्रसाद पूर्ण है। इसके दो भाष्य हैं—गुणविष्णु और सायणभाष्य।

(२)छान्दोग्योपनिषद्—उपनिषद् ब्राह्मण का द्वितीयग्रन्थ छान्दोग्योपनिषद् है। उपनिषद् ब्राह्मण के शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् हैं। इस उपनिषद् का वर्णन उपनिषद् खण्ड में किया जायगा।

संहितोपनिषद्—सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में संहितोपनिषद् ब्राह्मण का अपना अलग महत्त्व है। इसका प्रकाशन बर्नेल ने १८७७ ई० में कराया था। इस ब्राह्मण में कुल पांच खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड सूत्रों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में तीन प्रकार की गान संहिताओं का स्वरूप तथा फल वर्णित हैं। तीनों संहिताएँ हैं—देवहू संहिता, वांक्श्वहूसंहिता और अमित्रहूसंहिता। इनमें प्रथम संहिता मङ्गलमय और अन्तिम दो अमङ्गलकारिणी हैं। द्वितीय और तृतीय खण्डों में गान संहिता की विधि, स्तोम, अनुलोम-विलोम स्वर और अन्यविध स्वरों का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ और पञ्चम खण्ड में पूर्वोक्त विषयों के पूरक तथ्य प्रस्तुत हैं। इस प्रकार सामगायन का रहस्य समझने के लिए यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण है।

वंश ब्राह्मण—वंशब्राह्मण सामवेद से सम्बद्ध सबसे छोटा ब्राह्मण है। सर्वप्रथम वर्नेल ने सन् १८७३ ई० में इसे प्रकाशित किया था। तदनन्तर सत्यव्रत सामश्रमी ने १८९२ में प्रकाशित किया और १९६५ ई० में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से इसका प्रकाशन हुआ। इसमें तीन खण्ड हैं। इस ब्राह्मण में सामवेद के आचार्यों की वंश-परम्परा का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

जैमिनीय ब्राह्मण—सामवेद की जैमिनीय शाखा के इस ब्राह्मण का दूसरा नाम तवल्कार ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण का अंशतः सम्पादन वर्नेल ने १८७८ ई० में किया था और अंशतः डा० अर्टल ने १८९४ ई० में अमेरिका से प्रकाशित किया था। डा० कैलेण्ड ने कुछ अंश जर्मन अनुवाद के साथ भी प्रकाशित किया। तदनन्तर डा० रघुवीर ने १९५४ ई० में सम्पूर्ण अंश का एक विशुद्ध संस्करण निकाला। इस ब्राह्मण में कुल पांच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों में यज्ञीय विधि का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय 'उपनिषद् ब्राह्मण' है। पञ्चम अध्याय 'आर्षेय ब्राह्मण' है। जिसमें सामवेद के उद्भावक एवं सामगायन के प्रचारक ऋषियों का वर्णन है। शतपथब्राह्मण के समान यह विशालकाय ब्राह्मण है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण—

गोपथ ब्राह्मण—अथर्ववेद से सम्बद्ध केवल एक ब्राह्मण 'गोपथब्राह्मण' है। डा० राजेन्द्र लाल मित्र तथा एच० विद्याभूषण ने १८७२ ई० में इसका प्रकाशन किया था। तदनन्तर डा० गास्ट्रा ने १९१९ ई० में एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया था। इस ब्राह्मण के रचयिता 'गोपथ' ऋषि हैं क्योंकि अथर्ववेद के ऋषियों की नामावली में गोपथ ऋषि का नाम आया है। गोपथब्राह्मण को दो भाग हैं—पूर्व गोपथ और उत्तर गोपथ। पूर्व गोपथ में पाँच प्रपाठक या अध्याय हैं और उत्तरगोपथ में छः प्रपाठक या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठकों में कई कण्डिकाएँ हैं। कुल २५८ कण्डिकाएँ हैं।

गोपथब्राह्मण अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण होने से इसमें अथर्ववेद का महत्त्व वर्णित किया गया है। इसका महत्त्व इसलिए और बढ़ गया है कि इसमें अथर्ववेद से ही तीनों वेदों एवं ओ३म् की उत्पत्ति बतायी गयी है और ओ३म् से समस्त संसार की उत्पत्ति वर्णित है। पूर्व गोपथब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक में ओ३म् तथा गायत्री का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का प्रतिपादन है और यह बताया गया है कि प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष का समय होना चाहिए। किन्तु छात्र की सामर्थ्य के अनुसार इस अवधि की सीमा में कमी की जा सकती है। तृतीय एवं चतुर्थ प्रपाठकों में ऋत्विजों के कार्यकलाप एवं दीक्षा का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

पञ्चम प्रपाठक में संवत्सरसत्र, अश्वमेध, नरमेध, अग्निष्होम आदि प्रसिद्ध यज्ञों का विवेचन है। उत्तर गोपथ ब्राह्मण का विषय उतना सुव्यवस्थित नहीं है। फिर भी इसमें अनेकविध यज्ञों तथा सम्बद्ध आख्यानों के उल्लेख ने इसे अधिक रोचक बना दिया है। इस ब्राह्मण का उत्तरभाग अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वैतानसूत्रों में विवेचित यज्ञीय विधियों का इसमें सुव्यवस्थित प्रतिपादन है।

गोपथ ब्राह्मण के भौगोलिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण-संस्कृति कुरु-पाञ्चाल कौशल, साल्व, मत्स्य, वशी-उशीनर, अङ्ग-मगध आदि प्रदेशों में फैल चुकी थी।

गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। इन त्रिविध ऋणों के परिशोधन के लिए पुरुष को विवाह कर सन्तानोत्पादन करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर वह अनेक विवाह भी कर सकता है।[1] ब्राह्मणों का कर्त्तव्य बताते हुए लिखा है कि ब्राह्मण के लिए गाना एवं नाचना वर्जित है।[2] किसी भी अनुष्ठान के प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण कर तीन बार आचमन करना चाहिए।

गोपथ ब्राह्मण में शब्दों का निर्वचन भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसे—'दीक्षित' शब्द की व्युत्पत्ति 'धीक्षित' से की गई है। 'धीक्षित' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ (बुद्धि) वाला व्यक्ति है (श्रेष्ठां धियं क्षियतीति वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते)।[3] इसी प्रकार वरुण शब्द की व्युत्पत्ति 'वरण' शब्द से (राजा का वरण किये जाने के कारण) से की गयी है (तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते)।[4] इसी प्रकार इसमें अन्य भी बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति प्राप्त है जो भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

गोपथ ब्राह्मण वैदिक-साहित्य में सबसे परवर्त्ती रचना मानी गयी है। ब्लूमफील्ड इसे वैतानसूत्र से भी परवर्त्ती रचना मानते हैं किन्तु डा० कैलेण्ड तथा कीथ इसे पूर्ववर्त्ती रचना मानते हैं। यास्क ने निरुक्त में गोपथ ब्राह्मण के कुछ अंशों को उद्धृत किया हैं।[5] इससे इतना तो स्पष्ट है कि गोपथ ब्राह्मण यास्क के निरुक्त से पूर्ववर्त्ती रचना है। गोपथ ब्राह्मण में शिव का उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि यह ब्राह्मण, ब्राह्मण काल की अपेक्षा वेदोत्तर काल की रचना है।

---

१. गोपथ ब्राह्मण २।३।१९

२. तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत्''' (गोपथब्राह्मण २।२१)

३. गोपथ ब्राह्मण ३।१९

४. वही १।६

५. निरुक्त १।१६ तथा गोपथ ब्राह्मण २।२।६, २।४।२

५

आरण्यक और उपनिषद्

आरण्यक

एकान्त जनशून्य अरण्य में ब्रह्मचर्य में रत होकर ऋषियों ने जिस गम्भीर और चिन्तन-पूर्ण विद्या का अध्ययन किया, उसे 'आरण्यक' कहते हैं। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में लिखा है कि "एकान्त अरण्य में रहने वाले वानप्रस्थ लोग जिन यज्ञादिकों को करते थे, उनको बताने वाले ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहते हैं।" इसी प्रकार उन्होंने ऐतरेय-आरण्यक भाष्य में कहा है कि "अरण्य में पढ़ाये जाने के योग्य होने के कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं।"[१] तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में भी सायण ने कहा है कि "जिस विद्या को अरण्य में पढ़ा या पढ़ाया जाय, उसे 'आरण्यक' कहते हैं।"[२] इस प्रकार आरण्यकों के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के लिए अरण्य का एकान्त शान्त वातावरण ही उपयुक्त समझा जाता था। ग्राम्य का वातारण उसके लिए कथमपि उपयुक्त नहीं था। ओल्डनवर्ग का कथन है कि 'आरण्यक ग्रन्थ वे हैं, जिनका प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म अध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा अरण्य के एकान्त वातावरण में ही अधिकारी शिष्य को दिये जा सकते थे। नगर का वातावरण आरण्यकों में प्रतिपादित गूढ़ विद्या की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं समझा जाता था।"[३] आरण्यकों को रहस्य ग्रन्थ भी कहते हैं। क्योंकि आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्यों प्रतिपादन करते हैं, आध्यात्मिक तथ्यों की यथार्थ मीमांसा करते हैं, ब्रह्मविद्या का अभिधान करते हैं।

वर्ण्य-विषय

आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही परिशिष्ट भाग हैं। किन्तु ब्राह्मणों से वैशिष्ट्य दिखाने के लिए इसे 'रहस्य' भी कहते हैं क्योंकि इसका स्वरूप रहस्यमय है।

---

१. अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।
(ऐतरेय आरण्यक, सायणभाष्य)

२. अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते॥
(तैत्तिरीयाण्यक, सायणभाष्य, श्लोक ६)

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैक्डानल) पृ० १९०

इसका अध्ययन-अध्यापन अरण्य में ही होता था, इसलिए इसे 'आरण्यक' कहते हैं। आरण्यकों का मुख्य विषय ब्रह्म-विद्या का विवेचन तथा यज्ञों के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करना है। आरण्यकों में यज्ञों के आध्यात्मिक एवं तात्त्विक स्वरूप का विवेचन किया गया है। आरण्यकों के अनुसार यह जगत् यज्ञमय है और यज्ञ ही समस्त विश्व का नियन्ता है। प्राणविद्या का विवेचन ही आरण्यकों का विशिष्ट विषय है। इसके अध्ययन एवं उपासना के लिए अरण्य का एकान्त शान्त स्थान ही उपादेय समझा जाता था। आरण्यकों के अनुसार प्राण ही समस्त विश्व का आधार है। यह सारा जगत् प्राण से ही आवृत है। संसार के समस्त प्राणी प्राण के द्वारा ही विधृत हैं।[1] आरण्यकों में वर्णाश्रमधर्म का पूर्ण विकास देखा जाता है। डा० राधाकृष्णन् का कथन है कि 'गृहस्थों के लिए विहित कर्मकाण्डों का विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में है और वानप्रस्थों के लिए चिन्तन और मनन के विषय आरण्यकों में पाये जाते हैं।[2] मुख्यतः इनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है और आधिदैविक रूप का विवरण भी। इनमें ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय है जिनका विकास उपनिषदों में देखा जाता है।

ऐतरेय आरण्यक—ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है। सत्यव्रत सामश्रमी ने १८७६ ई० में सायण-भाष्य के साथ इसका प्रकाशन किया था। तदनन्तर १९०९ ई० में ए० बी० कीथ ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। षड्गुरुशिष्य ने इस पर 'मोक्षप्रदा' टीका लिखी थी, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

ऐतरेय आरण्यक में पांच भाग हैं जिन्हें आरण्यक कहा जाता है। प्रथम आरण्यक में पांच अध्याय, द्वितीय में सात, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक और पञ्चम आरण्यक में तीन अध्याय हैं। इस प्रकार कुल अठारह अध्याय हैं। इस आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत का विवेचन है जो ऐतरेय ब्राह्मण के 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ, प्राण, विद्या और पुरुष का वर्णन है। चार से लेकर छः अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक संहितोपनिषद् है जिसमें संहिता, क्रम एवं पद पाठों का वर्णन तथा स्वर-व्यञ्जन आदि के स्वरूप का विवेचन है। इसमें निर्भुज (संहिता), प्रतृण्ण (पद), सन्धि, संहिता आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। चतुर्थ आरण्यक अत्यन्त छोटा है। इसमें महाव्रत के पांचवें दिन में प्रयुक्त होने वाली कुछ महानाम्नी ऋचाएँ संकलित की गयी हैं। पञ्चम

---

१. ऐतरेय आरण्यक २।१।६

२. भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्)

आरण्यक में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन में पढ़े जाने वाले 'निष्कैवल्यशास्त्र' का विवेचन है। ऐतरेय आरण्यक के प्रथम तीन आरण्यकों के प्रणता महिदास ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वनायन और पञ्चम के शौनक हैं।

शांखायन आरण्यक—ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शांखायन आरण्यक है जिसे 'कौषीतकि आरण्यक' भी कहते हैं। १९२२ ई० में श्रीधार पाठक ने सम्पूर्ण शांखायन ब्राह्मण को प्रकाशित किया है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय और १३७ खण्ड हैं। इसके प्रथम दो अध्यायों को ब्राह्मण का भाग माना जाता है। तीन से लेकर छः अध्याय तक 'कौषीतकि उपनिषद्' कहा जाता है। इसका वर्ण्यविषय सामान्यतः ऐतरेय आरण्य के समान ही है। इसके षष्ठ अध्याय में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, उशीनर, काशी, पाञ्चाल, विदेह आदि प्रदेशों का उल्लेख है। त्रयोदश अध्याय में उपनिषदों से अनेक उद्धरण लिए गये हैं। इसमें महाव्रत आदि कृत्यों का विवेचन किया गया है।

बृहदारण्यक—शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के अन्तिम छः अध्यायों को 'बृहदारण्यक' कहते हैं। इसका प्रथम प्रकाशन १८८९ ई० में ओटो वोहट्लिङ्क ने किया था। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों का मिश्रण है। इसमें बीच-बीच में यज्ञों का रहस्य वर्णन किया गया है अतः इसे 'आरण्यक' कहते हैं किन्तु इसमें आत्मतत्त्व का विस्तृत उपदेश दिया गया है इस प्रकार उपनिषद् का अधिक वर्णन होने के कारण इसे 'उपनिषद्' भी कहते हैं। इस प्रकार इसका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' भी है।

माध्यन्दिन और काण्व दोनों ही शाखाओं के बृहदारण्यकों में याज्ञवल्क्य और जनक का सम्वाद तथा मैत्रेयी एवं गार्गी दोनों ब्रह्मवादिनी नारियों का आख्यान वर्णित है। प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ का रहस्य समझाया गया है।

तैत्तिरीय आरण्यक—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक 'तैत्तिरीय आरण्यक' है। राजेन्द्रलाल मिश्र ने १८७२ ई० में सायण भाष्य के साथ इसे प्रकाशित किया था। १८९८ ई० में एच्० एन्० आप्टे ने इसका दूसरा संस्करण निकाला। इसमें कुल दस प्रपाठक या परिच्छेद हैं प्रत्येक प्रपाठक में कई अनुवाक हैं। अनुवाकों की संख्या कुल १७० है। सप्तम से लेकर नवम प्रपाठक तक को 'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहते हैं और दशम प्रपाठक को 'महानारायणीयोपनिषद्' कहा जाता है। जिसे तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि की उपासना और इष्टकाचयन का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्च महायज्ञों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रपाठक में चतुर्होम चिति के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन है और इसी में अनेक

अभिचारपरक मन्त्र भी वर्णित हैं। पञ्चम प्रपाठक में यज्ञीय संकेत प्राप्त होते हैं। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन है। इसके अनेक मन्त्र ऋग्वेद से संगृहीत हैं। सप्तम से नवम तक 'तैत्तिरीयोपनिषद्' है। दशम प्रपाठक महानारायणीयोपनिषद् है जिसे खिल कहते हैं।

तैत्तिरीयारण्यक में कुरुक्षेत्र, खाण्डव, पाञ्चाल, मत्स्य, काशी आदि भौगोलिक नामों का उल्लेख है। इसमें 'श्रमण' शब्द का प्रयोग तपस्वी के अर्थ में किया गया है। बौद्ध भिक्षु के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं। इसमें यज्ञोपवीत का प्रथम उल्लेख मिलता है। यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति के द्वारा किया गया यज्ञ ही स्वीकार किया जाता है और यज्ञोपवीतधारी जो कुछ अध्ययन करता है वह सब यज्ञ ही है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक में जल के चार रूप बतलाये गये हैं— मेघ, विद्युत्, गर्जन और वृष्टि[2] तथा जल के छः प्रकार बताये गये हैं—वृष्टि का जल, कूपजल, तड़ागजल, नद्यादिजल, पात्रजल और झरने का जल।[3] इस आरण्यक में एक ऐसे रथ का वर्णन है कि जिसमें एक हजार धुरे और कई चक्र हैं। इस रथ में एक हजार घोड़े जुतते हैं।[4] इसमें कश्यप को सर्वदर्शक कहा गया है और व्यास पाराशर्य का उल्लेख मिलता है।

मैत्रायणी आरण्यक—कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का 'मैत्रायणी आरण्यक' है। इसे ही 'मैत्रायणी उपनिषद्' कहा जाता है। इसमें सात प्रपाठक हैं। पांचवें प्रपाठक से 'कैत्सायनी स्तोत्र' का प्रारम्भ होता है। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों के अंश मिश्रित हैं। इसमें परमात्मा को अग्नि और प्राण कहा गया है। इसमें अश्वपति, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, शर्याति, ययाति, युवनाश्व आदि राजाओं का उल्लेख है।

तवल्कार आरण्यक—सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध आरण्यक 'तवल्कार आरण्यक' है। इसी को जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं। उसका प्रथम प्रकाशन १९३१ ई० में एच्० अर्टल ने किया था। इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कई अनुवाक या खण्ड हैं। इसमें साम-मंत्रों की सुन्दर व्याख्या की गयी है। इस आरण्यक के चतुर्थ अध्याय को 'केनोपनिषद्' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'तवल्कार उपनिषद्' भी है।

---

१. प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञः। यत् किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत् (तैत्तिरीयारण्यक २।१।१)
२. चत्वारि वा अपां रूपाणि—मेघो विद्युत् स्तनायित्नुवृष्टिः। वही १।२४।१
३. वही १।२४।१-२
४. रथे सहस्रबन्धुरं पुरश्चक्रं सहस्राश्वम् (वही १।३१।१)

छान्दोग्यारण्यक—यह सामवेद के ताण्ड्यब्राह्मण से सम्बद्ध आरण्यक है। सत्यव्रत सामश्रमी ने १८७८ ई० में 'सामवेद आरण्यक-संहिता' नाम से इसको प्रकाशित किया था। छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम भाग छान्दोग्यारण्यक है। इसमें 'सामन्' और 'उद्गीथ' की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है।

उपनिषद्

वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक सूक्तों में जिस दार्शनिक विचारधारा का प्रारूप मिलता है उसका विकसित रूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् (सद्लृ) धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगकर बनता है जिसका अर्थ होता है 'समीप में बैठना' अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। धातुपाठ में सद् (सद्लृ) धातु के तीन अर्थ निर्दिष्ट हैं—विशरण, (विनाश होना), गति (प्रगति) अवसादन (शिथिल होना)। इस प्रकार जो विद्या समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है संसार के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं।[1]

आचार्य शङ्कर 'उपनिषद्' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'जो मनुष्य भक्ति एवं श्रद्धा के साथ आत्मभाव से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, यह विद्या उनके जन्म-मरण, रोग आदि अनर्थों को नष्ट करती है और परब्रह्म को प्राप्त कराती है तथा अविद्या आदि संसार के कारणों को समूल नष्ट करती है, वह उप+नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ स्मरण होने से 'उपनिषद्' है।'[2] आचार्य शंकर की इस व्याख्या के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द का प्रमुख अर्थ 'ब्रह्मविद्या' है और ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष गौण अर्थ है।[3]

प्राचीनकाल में इस उपनिषद् विद्या का अध्ययन-अध्यापन रहस् (एकान्त) स्थान में किया जाता था, अतः इसे 'रहस्य-विद्या' भी कहते हैं। उपनिषदों में

---

१. "उपनिषादति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।" (ईशावास्योपनिषद् की भूमिका, १)

२. "य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरः सन्तस्तेषां गर्भजन्म-जरारोगादिवर्गं विनाशयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यासंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयति, उपनिपूर्वस्य सादेरेवमर्थस्मरणात्।" (कठोपनिषद् की भूमिका)

३. तस्मात् विद्यायां मुख्यया वृत्या उपनिषद् शब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या (कठोपनिषद् भाष्य पृ० २)

अनेक स्थलों पर 'रहस्यविद्या' या 'ब्रह्मविद्या' के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में रहस्यात्मकज्ञान आत्मविद्या की चर्चा की जाती है उसे 'उपनिषद् कहते हैं और वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उसे 'वेदान्त' भी कहते हैं।

ओल्डनवर्ग ने उपनिषद् का अर्थ 'पूजा की एक पद्धति' किया है। डयूसन इस कथन का खण्डन करते हुए कहता है कि 'उपनिषद्' शब्द बार-बार 'रहस्यम्' के पर्याय के रूप में मिलता है, उपासना के अर्थ में नहीं। ई० सेनार्ट भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि उपनिषदों में 'उप-आस्' का अर्थ गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना है, पूजा करना नहीं। जें० डब्लू हौर के अनुसार उपनिषद् शब्द का अर्थ तपस् और ध्यान से प्राप्त किया गया रहस्यात्मक ज्ञान है।[1] इस प्रकार उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ 'रहस्य' है जो रहस्य ज्ञान (गुह्य-ज्ञान) सामान्य लोगों के लिए अभिप्रेत नहीं था वल्कि कुछ परखे हुए विशिष्ट व्यक्तियों को दिया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि पिता रहस्यज्ञान (ब्रह्मविद्या) का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र या अतिविश्वास पात्र शिष्य को ही दे, अन्य किसी को नहीं, चाहे वह उसे समुद्रों से घिरी एवं रत्नों से भरी समस्त पृथ्वी को ही क्यों न दे दे।"[2] उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कहा गया है कि गुरु शिष्य के बार-बार प्रार्थना करने पर कठोर परीक्षा के बाद ही उसे गुह्यज्ञान का उपदेश देता है। वनों में एकान्त आश्रमों के शान्त वातावरण में गुरुजन रहस्यज्ञान (गुह्यज्ञान) या अध्यात्मविद्या का चिन्तन किया करते थे और उस ज्ञान को निकटस्थ योग्य एवं विश्वासपात्र शिष्यों को सिखाया करते थे क्योंकि योग्य, सुपात्र एवं दीक्षित व्यक्ति ही उपनिषदों के रहस्यमय ज्ञान को समझ सकते हैं।

उपनिषदों का महत्त्व एवं अनुवाद—उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के हीरकमणि हैं जिनके प्रकाश में हम उस परब्रह्म परमतत्त्व का दर्शन कर सकते हैं जिसका साक्षात्कार महर्षियों ने वर्षों कठोर तप करके अपने ज्ञानचक्षु से किया है। भारतीय तत्त्व-ज्ञान एवं धार्मिक सिद्धान्तों के मूलस्रोत ये उपनिषद् ग्रन्थ ही हैं। उपनिषदों में अनेक ऐसे मौलिक विचार एवं उपदेश भरे पड़े हैं कि जो आज भी मानव की दार्शनिक जिज्ञासा जो शान्त करने एवं सत्य का दर्शन कराने में समर्थ हैं।

उपनिषदों के महत्त्व का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया है। अकबर और

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास पृ० १८१
२. छान्दोग्योपनिषद ३।११।५

उनके पौत्र दाराशिकोह ने सत्रहवीं शताब्दी में फारसी में इनका अनुवाद कराया था। उसने १६५६-५७ ई० में लगभग पचास उपनिषदों का फारसी अनुवाद 'सिर्र-ए-अकबर' (महारहस्य) के नाम से कराया था। इस फारसी अनुवाद को फ्रेञ्च यात्री बर्नियर अपने साथ फ्रान्स ले गया, जिसे एन्क्वेटिल ड्यूरेन ने १७७५ ई० में प्राप्त कर लिया और उसने उसके दो अनुवाद किये—एक फ्रेञ्च भाषा में और दूसरा लैटिन भाषा में। फ्रेञ्च अनुवाद तो प्रकाशित न हो सका, किन्तु लैटिन अनुवाद १८०१-१८०२ में 'औपनिखत' नाम से प्रकाशित किया गया। मैक्समूलर का कथन है कि यह अनुवाद अपूर्ण एवं अव्यवस्थित था, पर. शोपेन हॉवर जैसे विद्वान् ने इसी अनुवाद को पढ़कर औपनिषदिक ज्ञान को विश्व की दार्शनिक विचार-धारा का पथ-प्रदर्शक माना था और इसी अनुवाद के आधार पर अपने दार्शनिक ग्रन्थों में औपनिषदिक विचारधारा का समावेश किया था।

इसी फारसी अनुवाद के आधार पर १७२० ई० में एक हिन्दी अनुवाद हुआ, जिसका नाम 'उपनिषद् भाष्य' है। १८३२ ई० में राजा राममोहन राय ने कुछ उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था। १८७९-१८८४ ई० के मध्य मैक्समूलर ने 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट' ग्रन्थमाला में बारह उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। तदनन्तर एफ० मिशल तथा बोथालिक जर्मन विद्वानों ने १८८२ तथा १८८९ ई० में कुछ उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये, तत्पश्चात् पाल ड्यूसन ने १८९७ ई० में कुछ उपनिषदों का जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया और आर० ह्यूम ने १८२१ ई० में तेरह प्रमुख उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया।

भारतीय विद्वानों में सीतारामशास्त्री तथा गङ्गानाथ झा ने १८९८-१९०१ ई० के मध्य आठ उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों ने यूरोपीय भाषाओं में उपनिषदों का अनुवाद किया है जिसके द्वारा यूरोप में भी इसका महत्त्व फैल गया है और वे लोग इस पर अनेक ग्रन्थ भी लिख चुके हैं।

उपनिषदों की संख्या और रचनाकाल—

भारतीय परम्परा के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है। मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों का उल्लेख है जिनमें ऋग्वेद से सम्बद्ध १० उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की १९, कृष्णयजुर्वेद की ३२, सामवेद की १६ और अथर्ववेद से सम्बद्ध ३१ उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद् में यह कहा गया है कि ये १०८ उपनिषद् सभी उपनिषदों में सारभूत हैं, इनके अध्ययन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम् ।।
(मुक्तिकोपनिषद्, प्रथम अध्याय)

मुक्तिकोपनिषद् के इस कथन से ज्ञात होता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी अधिक थी और उनमें १०८ उपनिषदों की प्रमुखता स्वीकार की गयी है। 'उपनिषद्वाक्यमहाकोश' में २२३ उपनिषदों का उल्लेख है। अडचार लाइब्रेरी, मद्रास से लगभग दो सौ उपनिषदें प्रकाशित हो चुकी हैं। गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'उपनिषद् अङ्क' में २२० उपनिषदों का उल्लेख है और उनमें से ५४ उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन भी हुआ है। १६५६ ई० में दाराशिकोह ने उपनिषदों का एक संग्रह 'ओपनिखत' नाम से फारसी में अनुवाद कराया था जिसमें पचास उपनिषदें हैं। कोलब्रुक ने नारायणसूची के आधार पर ५२ उपनिषदों का संग्रह किया है। किन्तु इनमें दस उपनिषदें ही प्रमुख एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं क्योंकि आचार्य शङ्कर ने इन्हीं दश उपनिषदों पर अपना-भाष्य लिखा है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार दस उपनिषदें निम्नलिखित हैं—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ।।
(मुक्तिकोपनिषद् १।३०)

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, तथा बृहदारण्यक ये ही दस उपनिषदें प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं। इनके अतिरिक्त कौषीतकि तथा श्वेताश्वर उपनिषद् भी प्राचीन माने जाते हैं क्योंकि शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दश उपनिषदों के साथ इन दोनों को भी उद्धृत किया है किन्तु उन्होंने उन दोनों पर भाष्य नहीं लिखा है। आर० ह्यूम ने जिन तेरह उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है उनमें इन बारहों उपनिषदों के अतिरिक्त मैत्रायणी उपनिषद् भी है। कीथ ने इनमें महानारायण उपनिषद् को सम्मिलित कर चौदह उपनिषदों की सूची डयूसन को दी है और डयूसन ने इन चौदह उपनिषदों को मूल मानकर अंग्रेजी में अनुवाद किया है। विन्टरनिट्स का कथन है कि इन चौदह उपनिषदों के अतिरिक्त भी बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं जो उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु इनमें बहुत कम उपनिषदों का वेदों से वास्तविक सम्बन्ध है और इनमें अधिकांश दार्शनिक न होकर धार्मिक हैं और पौराणिक एवं तान्त्रिकयुग की रचनाएँ प्रतीत होती हैं।

संक्षेप में प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषदें इस प्रकार हैं—

१. ऋग्वेद के उपनिषद्–	(१) ऐतरेय उपनिषद्
	(२) कौषीतकि उपनिषद्
२. शुक्ल-यजुर्वेद के उपनिषद्–	(३) ईशोपनिषद्
	(४) बृहदारण्यकोपनिषद्
३. कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद्–	(५) तैत्तिरीयोपनिषद्
	(६) कठोपनिषद्
	(७) श्वेताश्वतरोपनिषद्
	(८) मैत्रायणी उपनिषद्
	(९) महानारायणोपनिषद्
४. सामवेद के उपनिषद्–	(१०) केनोपनिषद्
	(११) छान्दोग्योपनिषद्
५. अथर्ववेद के उपनिषद्–	(१२) मुण्डकोपनिषद्
	(१३) माण्डूक्योपनिषद्
	(१४) प्रश्नोपनिषद्

रचनाकाल—कालक्रम की दृष्टि से अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उपनिषद् चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथमवर्ग में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि रखे जा सकते हैं। जो सबसे प्राचीन हैं और जिनकी रचना ब्राह्मणों की शैली में गद्य में हुई है। केनोपनिषद् में शैलीगत परिवर्तन परिलक्षित होता है। यह अंशतः छान्दोबद्ध और अंशतः गद्यात्मक है और यह उपर्युक्त उपनिषदों से परवर्ती है। डचूसन का कथन है कि "इन सभी उपनिषदों में पूर्ववर्ती और परवर्ती पाठ्य मिले हुए हैं। इसलिए कालनिर्णय करते हुए प्रत्येक पर अलग से विचार करना होगा"[1] किन्तु यदि हम केवल भाषा के आधार पर विचार करते हैं तो इन उपनिषदों के परवर्ती भाग भी अत्यन्त प्राचीनकाल के सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसी बड़ी उपनिषदें ब्राह्मणों और आरण्यकों के काल से अधिक परवर्ती नहीं हैं, निश्चित ही है कि ये बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पूर्ववर्त्ती और पाणिनि से भी पूर्ववर्त्ती हैं।[2]

द्वितीय वर्ग में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और महानारायण उपनिषद् रखे जा सकते हैं। ये छन्दोबद्ध हैं और इनकी भाषा ओजस्वी एवं प्रवाहपूर्ण है। ये कुछ

१. भारतीय साहित्य का इतिहास पृ. १७५
२. प्राचीन भारतीय साहित्य पृ. १७५

परवर्त्ती काल की है किन्तु बुद्ध के पूर्ववर्त्ती हैं। तृतीयवर्ग में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्य रखे जा सकते हैं। ये गद्यात्मक हैं किन्तु प्रथमवर्ग के उपनिषदों के गद्य की अपेक्षा ये परवर्ती काल के प्रतीत होते हैं और शैली लौकिक संस्कृत के समीपवर्त्तिनी है जो बुद्ध के परवर्ती काल की है। चतुर्थ वर्ग में कुछ आथर्वण उपनिषद् रखे जा सकते हैं जिनमें गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है और जो पुराणों तथा तन्त्रों से अधिक सम्बद्ध हैं। इनमें कुछ उपनिषदें महाकाव्यीय शैली में श्लोकों में लिखी गयी हैं। ये निश्चय ही सबसे परवर्त्ती हैं। किन्तु इनमें कुछ ऐसी भी उपनिषदें हैं जो प्राचीनकाल की रचना हैं और जिन्हें वेदों से सम्बद्ध किया जा सकता है। जैसे—

जाबालि उपनिषद् एक प्रामाणिक उपनिषद् है जिसमें परमहंस नामक तपस्वी का सुन्दर वर्णन है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसे प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। 'सुबाल उपनिषद्' में सृष्टि-रचना शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्मशास्त्र के तत्त्व वर्णित हैं। रामानुज ने इससे बहुत से उद्धरण लिखे हैं। 'गर्भ उपनिषद्' में भ्रूणविज्ञान के साथ पुनर्जन्म प्राप्त न करने के सम्बन्ध में विधियाँ वर्णित हैं। 'अथर्वाङ्गिरस उपनिषद्' की धर्मसूत्रों में पवित्र ग्रन्थ के रूप में चर्चा है। 'वज्रसूचिका उपनिषद्' में ब्रह्म का निरूपण है। वहाँ यह बताया गया है कि जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखता है वही ब्राह्मण है।[1] ये अधिकांश दार्शनिक से बढ़कर धार्मिक हैं। ये निश्चय ही बौद्धधर्म के उदय के परवर्त्ती काल की हैं किन्तु प्राचीन उपनिषदें बुद्ध के पूर्व की हैं। बौद्धधर्म का आविर्भाव षष्ठ शतक में हुआ था, अतः प्राचीन उपनिषदों को ६०० ई० पू० से परवर्त्ती नहीं कहा जा सकता। कीथ ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्राचीनतम उपनिषद् ऐतरेय है और उसका काल लगभग ७०० ई० पू०–६०० ई० पू० है। अन्य विद्वान् बृहदारण्यकोपनिषद् को प्राचीन मानते हैं। डा० राधाकृष्णन् का मत है कि प्राचीन उपनिषदों का रचनाकाल ८०० ई० पू०–३०० ई० पू० के मध्य है।[2] किन्तु पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग किया है।[3] पाणिनि का समय ७०० ई० पू० माना जाता है। अतः इससे पूर्व उपनिषद् मान्य हो चुके थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ७०० ई० पू० में प्राचीन उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। तिलक ने ज्योतिष गणना के आधार पर उपनिषदों का रचनाकाल १६०० ई० पू० माना है।

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास १७८–१७९

२. वही पृ० १७७

३. जीविकोपनिषदावौपम्ये (अष्टाध्यायी १।४।७९)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त उपनिषदें किसी एक काल एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। विभिन्न काल के विभिन्न ऋषियों ने अपने जीवनकाल में संसार का जो कुछ अनुभव किया है, इनमें उनके अनुभवों का संग्रह है उनके विचारों का संग्रह है। इनमें कुछ ऋषि वैदिककालीन भी हैं। जैसे याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद का प्रणेता कहा गया है। उपनिषदों में इनके नाम की बार-बार चर्चा है। उनके अनुभव और विचार (जिनका उपनिषदों में संग्रह है) तो वैदिककालीन हैं किन्तु उनकी भाषा एवं शैली परवर्त्ती काल की प्रतीत होती है। कालक्रम की दृष्टि से ये वैदिककाल के अन्त की ओर ब्राह्मणयुग के समकालीन कृतियाँ हैं। ये उपनिषद् और आरण्यक ब्राह्मण ही हैं अतः इन्हें ब्राह्मणकालीन मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है। इससे इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन उपनिषदें जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वेदों से है और जो ब्राह्मणों के भाग हैं उनका रचनाकाल बौद्धधर्म के आविर्भाव के पूर्व का है और पाणिनि से भी पूर्ववर्त्ती है।

प्रमुख उपनिषदों का परिचय

प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास में चौदह उपनिषदों को ही आकर ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया जाता है, क्योंकि ये चौदह उपनिषद् ही वैदिक-परम्परा से सम्बद्ध एवं प्राचीन हैं। अतः इन चौदह उपनिषदों का ही संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

१. ऐतरेयोपनिषद्—

ऐतरेयोषनिषद् का सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से है। ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम भाग को ऐतरेय आरण्यक कहते हैं। ऐतरेय आरण्यक में द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को 'ऐतरेय-उपनिषद्' कहते हैं। यह सबसे लघुकाय उपनिषद् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में विश्व की उत्पत्ति का मार्मिक विवेचन है। इसमें विश्व का स्रष्टा आत्मा (ब्रह्म) बताया गया है। इस अध्याय का आधार ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। आत्मा (ब्रह्म) का व्यक्त रूप ही 'पुरुष है और यह आत्मा पुरुष के इन्द्रिय, मन और हृदय इन तीन स्थानों पर स्थित रहता है जो क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के समानान्तर हैं।[1] द्वितीय अध्याय में जन्म, जीवन और मरण इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप का विवेचन है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० २१२

इसमें 'प्रज्ञान' की महिमा वर्णित है और आत्मा को प्रज्ञान का स्वरूप बताया गया है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म) और इसी से समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है।

२. कौषीतकि उपनिषद्–

यह कौषीतकि ब्राह्मण से सम्बद्ध है। कौषीतकि ब्राह्मण से सम्बद्ध कौषीतकि आरण्यक है। कौषीतकि आरण्यक के तृतीय से षष्ठ अध्याय तक को कौषीतकि उपनिषद् कहते हैं। इसे ही कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् भी कहते हैं। इस उपनिषद् में कुल चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मृत्यु के बाद जीवात्मा के प्रयाण के देवयान और पितृयान नामक मार्गों का वर्णन है। इसमें चित्र नामक क्षत्रिय राजा ने उद्दालक आरुणि को परलोक की शिक्षा दी है। राजा चित्र यज्ञ में आरुणि को पुरोहित बनाता है। आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को भेजता है। वहाँ पहुँचने पर चित्र ने पूछा कि लोक में क्या ऐसा कोई गुप्त स्थान है जहाँ तुम मुझे रख सकोगे ? क्या लोक में दो मार्ग हैं जिनमें से एक में तुम मुझे लगा दोगे ? श्वेतकेतु ने कहा कि मुझे ज्ञात नहीं, आचार्य से प्रश्न पूछूँगा। यह कहकर उसने घर लौट कर पिता से प्रश्न पूछा। पिता ने कहा कि मुझे भी उत्तर ज्ञात नहीं है। तब दोनों चित्र के पास जाते हैं। चित्र ने उन्हें बताया कि कुछ लोग अच्छे कर्मों के बल से ब्रह्मलोक चले जाते हैं और ब्रह्ममय हो जाते हैं। कुछ लोग स्वर्ग एवं नरक में जाते हैं और कुछ मरने के बाद मृत्युलोक में जन्म लेते हैं।

द्वितीय अध्याय में आत्मा के प्रतीक प्राण के स्वरूप का विवेचन है। प्राण ही ब्रह्म है और मन प्राणरूपी ब्रह्म का दूत है, नेत्र रक्षक हैं, श्रोत्र द्वारपाल हैं और वाणी दासी है। जो इनके स्वरूप को जानता है वही इन्द्रियों पर अधिकार रख सकता है। तृतीय अध्याय में इन्द्र प्रतर्दन को प्राण और प्रज्ञा का उपदेश देते हैं। इसी प्रसङ्ग में प्राणतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में काशिराज अजातशत्रु बालाकि को परब्रह्म (ब्रह्मविद्या) का उपदेश देते हैं।

३. ईशोपनिषद्—

शुक्लयजुर्वेद की काण्व एवं वाजसनेयी संहिता का चालीसवाँ अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है, दोनों में अन्तर यह है कि काण्वसंहिता के चालीसवें अध्याय में अठारह मन्त्र हैं और वाजसनेयी संहिता में सत्रह मन्त्र हैं। इस अध्याय का प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यम्' से प्रारम्भ होता है अतः इसका नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। ईशावास्योपनिषद् को ही 'ईशोपनिषद्' भी कहते हैं। यह लघुकाय उपनिषद् है किन्तु महत्त्व की दृष्टि से सर्वोपरि है। इसमें वेद का सार एवं गूढ़तत्त्व का विवेचन हुआ है। आत्मा के स्वरूप का जितना स्पष्ट

विवेचन इस उपनिषद् हुआ है उतना किसी अन्य उपनिषद् में नहीं मिलता है। आत्मकल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के अनुष्ठान को आवश्यक बताया गया है। इसमें निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना व्यक्त की गयी है। इसमें विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति का विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

४. बृहदारण्यकोपनिषद्—

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्यायों को वृहदारण्यक कहते हैं। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों ही मिश्रित हैं। इसलिए इसका नाम 'वृहदारण्यकोपनिषद्' पड़ा। यह विशालकाय एवं प्राचीनतम उपनिषद् है। इस उपनिषद् में तीन भाग हैं और प्रत्येक भाग में दो-दो अध्याय हैं। इस प्रकार कुल छः अध्याय हैं। इनमें प्रथम भाग को मधुकाण्ड, द्वितीय भाग को याज्ञवल्क्यकाण्ड और तृतीय भाग को खिलकाण्ड कहते हैं। प्रत्येक अध्याय ब्राह्मणों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण, द्वितीय अध्याय में छः ब्राह्मण, तृतीय में नौ ब्राह्मण, चतुर्थ अध्याय में छः ब्राह्मण, पञ्चम में पन्द्रह ब्राह्मण और षष्ठ अध्याय में पाँच ब्राह्मण हैं।

प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ की रहस्यात्मकता की व्याख्या, प्राण को आत्मा का प्रतीक मानकर आत्मा (ब्रह्म) से जगत् की उत्पत्ति, प्राण की श्रेष्ठता विषयक रोचक आख्यान तथा आत्मा (ब्रह्म) की सर्वव्यापकता का वर्णन है जो प्रत्येक शरीर में जीवात्मा के रूप में दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय अध्याय में गार्ग्य एवं काशिराज अजातशत्रु के माध्यम से आत्मस्वरूप का विवेचन किया गया है। गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु से कहा कि मैं ब्रह्म की व्याख्या करूँगा। उन्होंने सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वायु, अग्नि, जल, आत्मा में समन्वित पुरुष को ब्रह्म बताया, किन्तु अजातशत्रु ने कहा कि ब्रह्म में ये सब तो समाहित हैं किन्तु इससे ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से सभी प्राण एवं प्राणी उद्भूत होते हैं। वह ब्रह्म ही सर्वोच्चसत्ता एवं परमसत्य है। असीम-ससीम, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष भेद से ब्रह्म के दो रूप हैं। द्वितीय सम्वाद याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का है। वानप्रस्थ ग्रहण करते समय मैत्रेयी ने धन की अभिलाषा न कर अमरत्व-प्राप्ति का उपाय पूछा।' याज्ञावल्क्य ने विविध उदाहरणों द्वारा ब्रह्म की सर्वमयता का उपदेश दिया। इसमें मधुविद्या का भी उपदेश है।

द्वितीय काण्ड के प्रथम अध्याय (तृतीय अध्याय) में राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के द्वारा सभी ब्रह्मवादियों के पराजित होने का वर्णन है। इसमें चार आध्यात्मिक वाद हैं। प्रथम में याज्ञवल्क्य के द्वारा समस्त ब्रह्मवादियों के पराजित होने का वर्णन है इस वाद में यह सिद्ध किया गया कि ब्रह्म यद्यपि अज्ञेय है तथापि उसका ज्ञान साध्य है। द्वितीय वाद में राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इस सम्वाद में याज्ञवल्क्य ऋषियों द्वारा प्रस्तुत 'प्राण ही ब्रह्म है' इस प्रकार के छः सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं और आत्मा (ब्रह्म) को अगोचर, अविनाशी एवं सर्वेश्वर बताते हैं। तृतीय सम्वाद में भी जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इसमें जीवात्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, मरण और मोक्ष इन छः अवस्थाओं का वर्णन है। चतुर्थ सम्वाद याज्ञवल्क्य और वचक्नु की कन्या गार्गी का सम्वाद है। द्वितीय काण्ड के द्वितीय अध्याय (चतुर्थ अध्याय) में याज्ञवल्क्य और जनक का सम्वाद है। जिसमें जनक महर्षि याज्ञवल्क्य से तत्त्वज्ञान की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसी अध्याय में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी कात्यायनी तथा मैत्रेयी का सम्वाद वर्णित है जिसमें याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।

तृतीय काण्ड (पञ्चम और षष्ठ अध्याय) परिशिष्ट भाग है। इसके (पञ्चम) अध्याय में पन्द्रह खण्ड हैं। जो एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अलग-अलग समय की रचनाएँ हैं। इसमें ब्रह्म, प्रजापति, गायत्री, प्राण परलोक आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। द्वितीय (षष्ठ) अध्याय में श्वेतकेतु एवं प्रवाह का दार्शनिक सम्वाद, प्राण की श्रेष्ठता, पञ्चाग्नि विद्या का महत्त्व, मन्त्रविद्या और उसकी परम्परा, सन्तानोत्पत्ति विज्ञान पुनर्जन्म के सिद्धान्त आदि विविध विषयों का विवेचन है। किन्तु इस अंश में प्रतिपादित विचार याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि ये किसी अन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं और बाद में जोड़ दिये गये हों। इस उपनिषद् के प्रमुख दार्शनिक महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। याज्ञवल्क्य उस युग के सबसे बड़े तत्त्वज्ञानी विद्वान् थे। उनकी ही विचार-धारा इस उपनिषद् में सर्वत्र प्रवाहित हो रही है।

५. तत्तिरीयोपनिषद्—

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण का अन्तिम भाग तैत्तिरीय आरण्यक है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस प्रपाठकों में सप्तम, अष्टम, एवं नवम प्रपाठकों को तैत्तिरीयोपनिषद् कहते हैं। इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं जिन्हें क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली कहते हैं। प्रथम शिक्षावल्ली में बारह अनुवाक हैं, ब्रह्मानन्दवल्ली में

नौ और भृगुवल्ली में दस अनुवाक हैं। शिक्षावल्ली में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि के विवेचन के साथ वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के नियम तथा स्नातक के लिए उपयोगी शिक्षाओं का निरूपण है। द्वितीय ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या का निरूपण है। इसमें ब्रह्म से स्वरूप का वर्णन है। ब्रह्म आनन्दरूप है, उसी से समस्त विश्व की सृष्टि हुई है। यह अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द रूप है। किन्तु इसका निवास आनन्दमय कोश है। जहाँ ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर मनुष्य परमानन्द का अनुभव करता है। ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने पर मनुष्य अपने ही समान सबको समझने लगता है। सारा भेद-भाव दूर हो जाता है और वह ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तृतीय अध्याय भृगुवल्ली है। इसमें भृगु और वरुण का सम्वाद वर्णित है। वरुण अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे जीते हैं, और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है। इसमें ब्रह्मप्राप्ति के साधन रूप तप का वर्णन है, और 'पञ्चकोशों' का विवेचन वरुण एवं भृगु के सम्वाद के रूप में हुआ है। इसमें अतिथि-सेवा का भी महत्त्व वर्णित है।

६. कठोपनिषद्—

कृष्णयजुर्वेद की कठखाखा को 'कठोपनिषद्' है। इसमें कुल दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रथम अध्याय ही मूल उपनिषद् है, दूसरा अध्याय बाद में जोड़ा गया है क्योंकि इसमें योग-सम्बन्धी विकसित विचारों एवं भौतिक पदार्थों की असत्यता सम्बन्धी विचारों के कारण परवर्त्ती सन्निवेश जान पड़ता है।[1] प्रथम अध्याय में नचिकेता और यम के उपाख्यान द्वारा आत्मा और ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। नचिकेता पिता की आज्ञा से यम के पास पहुँचता है। यमराज उससे तीन वर माँगने को कहता है। नचिकेता दो वर माँगने के पश्चात् "क्या आत्मा का अस्तित्व मृत्यु के बाद भी रहता है या नहीं ?" यह तीसरा वर मांगता है। यम कहता है कि 'वह एक सूक्ष्मतत्त्व है, दूसरा वर मांग लो' और उसे नाना प्रकार के सांसारिक प्रलोभन देता है किन्तु नचिकेता अपने प्रश्न पर दृढ़ रहता है और अन्त में उसके विशेष आग्रह पर यमराज आत्मस्वरूप का विवेचन करता हुआ उसे अद्वैततत्त्व का मार्मिक उपदेश देता है और नचिकेता वर प्राप्त कर अपने घर लौट आता है।

प्रथम अध्याय को द्वितीय वल्ली में श्रेय एवं प्रेय का विवेचन है। श्रेय एक वस्तु है प्रेय दूसरी वस्तु है। इनमें जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका कल्याण होता है और जो प्रेय को अपनाता है वह अपने लक्ष्य से पथभ्रष्ट हो जाता है।

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० २१६

द्वितीय अध्याय में प्रकृति और पुरुष दोनों को ही परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। यह आत्मा सर्वव्यापक है और समस्त प्राणियों में उसका निवास है। जिस प्रकार वायु सर्वत्र व्याप्त होकर प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध है और जिस प्रकार प्रकाश सब जगह व्याप्त रहते हुए बाह्य दोषों से मुक्त रहता है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र व्याप्त रहते हुए बाह्य दोषों से मुक्त निर्विकार बना रहता है। आत्मा को विभु कहते हैं। उसकी प्राप्ति का साधन योग है।

७. श्वेताश्वतरोपनिषद्—

यह उपनिषद् कृष्णयर्जुवेद से सम्बद्ध अनुपलब्ध श्वेताश्वतरसंहिता का एक अंश है। यह निश्चय ही कठोपनिषद् के बाद की रचना प्रतीत होती है क्योंकि उससे बहुत-सा अंश इसमें लिया गया है, यहाँ तक कि कुछ वाक्य ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। विषय-वस्तु के देखने से यह प्रतीत होता है कि यह उस समय की रचना है जब सांख्य और वेदान्त का पार्थक्य नहीं हुआ था। इसमें कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परमात्म-साक्षात्कार का उपाय ध्यान बताया गया है। द्वितीय अध्याय में योग का विस्तृत विवेचन है। तृतीय से पञ्चम अध्यायों में सांख्य एवं शैव सिद्धान्तों का विवेचन है। अतिन्म अध्याय में गुरुभक्ति का महत्त्व प्रतिपादित है। भक्तितत्त्व का विवेचन इस उपनिषद् की गहरी विशेषता है।

इस उपनिषद् में सांख्य दर्शन के मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है।[१] यह प्रकृति ही ब्रह्म की माया का दूसरा रूप है। इसमें प्रकृति को माया और महेश्वर को मायी कहा गया है।[२] क्या वह माया वेदान्त की माया से भिन्न है वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है किन्तु इस उपनिषद् में जगत् के मिथ्यात्व की कल्पना नहीं है। कल्पान्त में ब्रह्म के द्वारा ही जगत् की सृष्टि और प्रलय होता है। इस उपनिषद् में शिव को परमेश्वर कहा गया है। यह शिव ही समस्त प्राणियों में व्याप्त है और उसके सम्बन्ध में ज्ञान होने पर समस्त बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।[३]

---

१. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५)

२. मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।
(श्वेताश्वरोपनिषद्)

३. ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढं मुच्यते सर्वपाशैः।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१६)

८. मैत्रायणी उपनिषद्—

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध है। यह परवर्त्तीकाल की रचना प्रतीत होती है। प्राचीनतम उपनिषदों की भाँति यह गद्यबद्ध है इसमें वैदिकभाषा के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते। भाषा-शैली की दृष्टि से यह महाकाव्यकाल की रचना प्रतीत होती है। इसमें कुल सात अध्याय हैं जिनमें षष्ठ अध्याय के अन्तिम आठ प्रपाठक और सप्तम अध्याय परिशिष्ट रूप है। इसमें प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण, सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों के लिए विचारों का आकलन योग के षडङ्गों का विवेचन तथा हठयोग के मन्त्र-सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होता है। इसका मुख्य विषय आत्मरूप का विवेचन है। इसमें वेद-विरोधी सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है।

इस उपनिषद् का विषय-विवेचन तीन प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम प्रश्न है कि 'आत्मा भौतिक शरीर में किस प्रकार प्रवेश पाता है?' इसका उत्तर दिया गया है कि स्वयं प्रजापति ही स्वरचित शरीर में चेतनता प्रदान करने के उद्देश्य से पञ्चप्राणवायु के रूप में प्रविष्ट होता है।' द्वितीय प्रश्न है कि 'यह परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है?' इस प्रश्न का उत्तर साङ्ख्य सिद्धान्तों पर आधारित है। 'आत्मा प्रकृति के गुणों से पराभूत होकर अपने को भूल जाता है। तदनन्तर आत्मज्ञान एवं मोक्ष के लिए प्रयास करता है। तृतीय प्रश्न है कि 'इस दुःखात्मक स्थिति से मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है?' इस प्रश्न का समाधान स्वतन्त्र रूप से दिया गया है— ब्राह्मण धर्म का पालन करने वाले वर्णाश्रमधर्म के अनुयायी व्यक्ति ही ज्ञान, तप और निदिध्यासन से ब्रह्मज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ब्राह्मणयुग के प्रधान देवता अग्नि, वायु और सूर्य, तीन भावरूप सत्ताएँ काल, प्राण और अन्न तथा तीन लोकप्रिय देवता ब्रह्मा, विष्णु महेश ये सभी ब्रह्म के रूप बताये गये हैं।

इस उपनिषद् का अन्तिम भाग परिशिष्ट रूप है। जिसमें विश्व की सृष्टि का उपाख्यान वर्णित है। इसमें प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से बताया गया है। इसमें ऋग्वैदिक एवं सांख्य सिद्धान्तों का समन्वय है। इसमें यह भी बताया गया है कि 'आत्मा का बाह्य प्रतीक सूर्य है और आभ्यन्तर प्रतीक प्राण है तथा उसकी अर्चना प्रणव (ॐ) के द्वारा तथा 'भूः भुवः स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों के साथ सावित्री मन्त्र के द्वारा किये जाने का उपदेश है।"[१] इसमें ब्रह्म के जाग्रत्, सुषुप्ति एवं स्वप्न इन तीन अवस्थाओं के साथ तुरीयावस्था का भी उल्लेख है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ० २१६

९. महानारायोपनिषद्—

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय आरण्यक का दशम प्रपाठक 'महानारायणोपनिषद्' कहा जाता है जो इस आरण्यक का परिशिष्ट भाग माना जाता है। यह सायण भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें अनुवाकों की स्थिति अस्त-व्यस्त है। इसमें द्रविणों के अनुसार ६४, आन्ध्रों के अनुसार ८०, कर्णाटकों के अनुसार ७४ अनुवाक हैं।

इस प्रकार इसके तीन विभिन्न पाठ मिलते हैं किन्तु इनमें आन्ध्र पाठ की ही मान्यता है। इसे 'याज्ञिक्युपनिषद्' भी कहते हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह तैत्तिरीय आरण्यक में परवर्ती काल में जोड़ा गया है किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् से प्राचीन है। इस उपनिषद में नारायण का परमात्मा तत्त्व के रूप में उल्लेख है। इसमें आत्मा का विशद विवेचन है। इस उपनिषद् के अनुसार 'एक ही परमसत्ता है वही सब कुछ है।'[1] इसमें सत्य, तपस्, दया, दान, धर्म, अग्निहोत्र, यज्ञ आदि विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण विवेचना है। इसमें तत्त्वज्ञानी के जीवन का यज्ञ के रूप में चित्रण है जिसके अनुसार इसकी 'याज्ञिकी उपनिषद्' नाम की सार्थकता प्रतीत होती है।

१०. छान्दोग्योपनिषद्—

सामवेद में सम्बद्ध तवल्कार शाखा का छान्दोग्य ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण में दस अध्याय हैं। प्रारम्भ के दो अध्यायों को छोड़कर शेष आठ अध्यायों को 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। इस उपनिषद् के आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में तेरह खण्ड, द्वितीय में चौबीस, तृतीय में उन्नीस, चतुर्थ में सत्रह, पञ्चम में चौबीस, षष्ठ में सोलह, सप्तम में छब्बीस और अष्टम अध्याय में पन्द्रह खण्ड है। इसमें गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण आख्यायिकाओं के रूप में किया गया है। इसके प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों में ओ३म् (ॐ), उद्गीथ एवं साम के गूढ़ रहस्यों का मार्मिक विवेचन है। द्वितीय अध्याय में ओ३म् की उत्पत्ति, धार्मिक-जीवन की तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य एव यतिधर्म का विवेचन है। इस अध्याय के अन्त में "शौव उद्गीथ" का विवेचन है। उद्गीथ का अर्थ है 'उच्चस्वर से गाया जानेवाला गीत।' इसमें भौतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए यज्ञ का विधान तथा सामगान करनेवाले व्यक्तियों पर व्यङ्ग्य है।

तृतीय अध्याय में वैश्वानर ब्रह्म का प्रतिपादन है जिसका व्यक्त रूप सूर्य है। सूर्य की देवमधु रूप में उपासना, गायत्री का वर्णन, आङ्गिरस द्वारा देवकी

1. महानारायणोपनिषद् १०।२०

नन्दन कृष्ण को अध्यात्म-शिक्षा और अन्त में अण्ड से सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में सत्यकाम जाबाल की कथा, रैक्य का दार्शनिक तथ्य, उपकोशल को जाबाल द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश आदि का विस्तृत विवेचन है। इसमें ब्रह्म को प्राप्त करने के साधन बताये गये हैं। पञ्चम अध्याय में बृहदारण्यक के षष्ठ अध्याय के दोनों कथाओं का आवर्तन है। इसमें श्वेतकेतु और प्रवाहण जैवलि का दार्शनिक सम्वाद तथा कैकय अश्वपति के सृष्टि-विषयक तथ्यों का विशद वर्णन है जिनमें छः दार्शनिक विद्वानों के आत्म-विषयक चिन्तनों का विवरण है। ये सभी विद्वान् जब ब्रह्मविषयक विवाद करते हुए किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे तो वे सब उद्दालक के पास गये, किन्तु उद्दालक ने स्वयं को असमर्थ बताकर उन्हें अश्वपति के पास भेज दिया, अश्वपति ने उन्हें बताया कि हम लोग सूर्य, वायु, जल, आकाश, पृथ्वी को आत्मा मानते हैं, किन्तु ब्रह्म की यह अनेकता असत्य है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और वही सब जगह व्याप्त है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं, वही सत्य ब्रह्म इन पञ्चतत्त्वों में प्रविष्ट है।

षष्ठ अध्याय में श्वेतकेतु का आख्यान है जिसमें उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है। श्वेतकेतु ने वेदों का अध्ययन तो कर लिया, किन्तु ब्रह्मज्ञान नहीं सीखा था, तब उसके पिता आरुणि ने उसे ब्रह्म से ही चराचर जगत् की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाते हुए अन्न, जल और तेज से मन, प्राण और वाणी की उत्पत्ति बतायी है। तदनन्तर आरुणि ने श्वेतकेतु से वटवृक्ष का फल तोड़ने को कहा। फल तोड़ने पर उसमें से नन्हें नन्हें बीज निकले, तब पिता ने उस बीज को भी फोड़ने को कहा, बीज के फोड़े जाने पर आरुणि ने कहा पुत्र तुमने इसमें क्या देखा है? पुत्र ने कहा कि मुझे कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा है। तब पिता ने पुत्र को समझाया कि पुत्र! जिस बीज के भीतर तुम्हें कुछ भी नहीं दिखायी देता है। उसी में वह महान् वटवृक्ष है। इसी प्रकार ब्रह्म में ही सारा चराचर जगत् निहित है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य उपनिषदों के चार महावाक्यों में एक है। इस महावाक्य की व्याख्या करते हुए आरुणि श्वेतकेतु से कहता है कि वह अणु जो शरीर में आत्मा है, सत् है, सर्वात्मा है, वही आत्मा है, वही वह सत् है, हे श्वेतकेतो! तू वही है।"[1] तदनन्तर श्वेतकेतु पुनः प्रश्न करता है कि 'वह आत्मा द्रष्टव्य क्यों नहीं है?' इसका उत्तर देते हुए आरुणि कहते हैं कि 'जिस प्रकार जल में नमक डाल दिया जाय तो वह उसमें ऐसा घुल जाता है कि वह दिखायी नहीं देता, इसी प्रकार आत्मा सब में व्याप्त है किन्तु वह इस प्रकार उनमें घुल-मिल गया है कि वह अलग से दिखायी नहीं देता है।"

१. तत्त्वमसि (छान्दोग्योपनिषद्)

सप्तम अध्याय में नारद और सनत्कुमार का वृत्तान्त है। नारद ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए सनत्कुमार के पास जाते हैं। सनत्कुमार ने नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण में से प्रत्येक को उत्तरोत्तर बढ़कर बताया और कहा कि सब कुछ प्राण में ही समाहित है और प्राण के न रहने पर मनुष्य का ऐहलौकिक जीवन नहीं रह जाता। अन्त में ब्रह्म के अन्तिम रूप 'भूमन्' (असीम) का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि 'भूमा ही सब कुछ है, वही शरीर में स्थित आत्मा है, वह अमृत है और अल्प ही मर्त्य है।'[1] अन्तिम अध्याय में शरीर और विश्व में स्थित आत्मा के स्वरूप तथा ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों का विवेचन है और आत्मा की तीन अवस्थाओं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का भी निर्देश है। तृतीय अवस्था में ही आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है। इस अध्याय के अन्त में इन्द्र और विरोचन की कथा वर्णित है। इस आख्यान में आत्म-प्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का संकेत मिलता है।

११. केनोपनिषद्—

सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध तवल्कारोपनिषद् है। इसी को 'केनोपनिषद्' और 'जैमिनीयोपनिषद्' भी कहते हैं। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग पद्यमय है यह वेदान्त के विकास काल की रचना प्रतीत होती है। द्वितीय भाग गद्यमय है और अत्यन्त प्राचीन है। प्रत्येक भाग में दो खण्ड हैं। इस प्रकार कुल चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बताया गया है। द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का विवेचन है। तृतीय एवं चतुर्थ खण्डों में उमा हैमवती के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का विवेचन है। ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए हैमवती उमा ने देवताओं को बताया कि "यही ब्रह्म है जिनके कारण तुम लोगों की इतनी महिमा है।" वायु, अग्नि आदि उसी ब्रह्म के विकसित रूप हैं। बिना उसकी इच्छा के ये कुछ भी नहीं कर सकते। सगुण और निर्गुण ब्रह्म का पार्थक्य बताते हुए उमा ने कहा कि "जिसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता, किन्तु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, वही ब्रह्म है और जिनकी तुम उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है।" ब्रह्म ज्ञान की सीमा से परे असीम है। वह ज्ञेय-अज्ञेय दोनों से भिन्न है। यह जीवात्मा उस परब्रह्म का अंश है। यह सगुण ब्रह्म उपास्य है और निर्गुण ब्रह्म अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय है।

---

१. यो वै भूमा तदमृतं, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (छान्दोग्योपनिषद्)

१२. प्रश्नोपनिषद्—

अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा से सम्बद्ध "प्रश्नोपनिषद्" है। इसमें सुकेशा, भार्गव, आश्वलायन, सत्यकाम, सौर्यायणी और कबन्धी ये छः ऋषि महर्षि पिप्पलाद से अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। इसी कारण इसका नाम 'प्रश्नोपनिषद्' पड़ा। ऋषियों द्वारा पूछे गये छः प्रश्न निम्न प्रकार हैं—

१. प्रथम प्रश्न कबन्धी कात्यायन का है—'भगवन्! समस्त प्रजा की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई है?'

२. द्वितीय प्रश्न भार्गव का है—"कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं, कौन उन्हें प्रकाशित करता है और उनमें कौन सबसे श्रेष्ठ है?"

३. तृतीय प्रश्न आश्वलायन का है—"प्राणों की उत्पत्ति कहाँ से होती है? और उसका शरीर में आवागमन एवं उत्क्रमण किस प्रकार होता है?"

४. चतुर्थ प्रश्न गार्ग्य सौर्यायणी का है—"आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का आध्यात्मिक रहस्य क्या है?"

५. पञ्चम प्रश्न सत्यकाम का है—ॐ 'ओ३म्' की उपासना का क्या रहस्य है? और उसके ध्यान से किस लोक की प्राप्ति होती है?"

६. षष्ठ प्रश्न सुकेशा का है—"षोडशकला सम्पन्न पुरुष का स्वरूप क्या है?"

इन छहों प्रश्नों का उत्तर महर्षि पिप्पलाद ने छहों शिष्यों को दिया है। उनके ये उत्तर अध्यात्मवाद के प्राण हैं। इस उपनिषद् की शैली अत्यन्त वैज्ञानिक एवं महत्त्वपूर्ण है।

१३. मुण्डकोपनिषद्—

यह अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध उपनिषद् है। इसका मुण्डक नाम इसलिए पड़ा कि संभवतः इस सम्प्रदाय के लोग अपना शिर मुण्डित रखते थे। हर्टेल का मत है कि इस उपनिषद् का शायद जैनियों से कोई सम्बन्ध रहा हो! इसमें कुल तीन मुण्डक हैं। प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। इस उपनिषद् में ब्रह्मा के द्वारा अपने पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने का वर्णन है। इसमें परा और अपरा नामक दो विद्याओं का विवेचन है। जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो सके, उसे पराविद्या कहते हैं और वेद-वेदाङ्ग आदि को अपराविद्या कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्मज्ञान की सीमा से परे अज्ञेय है। इस अक्षर ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि होती है।

इस उपनिषद् में द्वैतवाद का स्पष्ट संकेत मिलता है। दो पक्षियों के रूपक द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद समझाया गया है—"परस्पर सख्यभाव से एक साथ रहने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा)

उस पिप्पल के वृक्ष के फलों का स्वाद लेकर उसका भोग करता है और दूसरा भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।"[1] यहाँ पर यह बताया गया है कि यह जीवात्मा कर्म के फलों का उपभोग करता है और परमात्मा साक्षी के रूप में उसे देखता रहता है। इस प्रकार जीवात्मा भोक्ता है और परमात्मा उसका साक्षी है।

१४. माण्डूक्योपनिषद्—

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें कुल बारह वाक्य हैं। यह गद्यात्मक है। इसमें ओङ्कार का रहस्य वर्णित है। इसमें ब्रह्म और आत्मविषयक विवेचन हुआ है। इसमें ब्रह्म (आत्मा, चैतन्य) की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत् अवस्था में आत्मा इन्द्रिय-विषयों का भोग करता है। इसे वैश्वानर कहते हैं। स्वप्नावस्था में अपनी पूर्व अवस्थाओं का ज्ञान रहता है इसे तैजस् कहते हैं। सुषुप्त अवस्था में उसे कोई इच्छा नहीं रहती, केवल ज्ञानमात्र रहता है। उस अवस्था में आत्मा प्रज्ञानघन और आनन्दमय होता है। इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं। तुरीयावस्था में ब्रह्म निर्विकार एवं अद्वैतावस्था में रहता है। इस अवस्था में ब्रह्म शिवरूप हो जाता है। यही चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है। इसमें ओङ्कार का महत्त्व प्रतिपादित है। इस उपनिषद् के अनुसार 'ओ३म्' के अ उ म्—ये तीन वर्ण क्रमशः ब्रह्म की तीन अवस्थाओं के द्योतक हैं और पूरा ओ३म् चतुर्थ अवस्था को द्योतित करता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपनिषद् हैं किन्तु वे सभी अत्यन्त परवर्त्तीकाल की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। आथर्वण उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही उन उपनिषदों के विवेच्य रहे हैं। तदनुसार उन उपनिषदों का चार वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे उपनिषदें हैं जो आत्मा के स्वरूप का साक्षात् विवेचन करती हैं। दूसरे वर्ग में वे उपनिषदें हैं जो मौलिक सिद्धान्त को सिद्ध मानकर ओ३म् के अवयवों पर आधारित योग के द्वारा आत्मतत्त्व में विलीन होने की प्रक्रिया का वर्णन करती हैं। ये सभी पद्यबद्ध हैं। तृतीय वर्ग में वे उपनिषदें हैं, जो संन्यास-धर्म का प्रतिपादन करती हैं। ये बहुत छोटी और गद्यबद्ध हैं। चतुर्थ वर्ग में सम्प्रदायवादी उपनिषदों का समावेश है। इनमें शिव एवं विष्णु को आत्मारूप बताया गया है।

---

(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
मुण्डकोपनिषद् ३।१

उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मविद्या' है। ऋग्वेद में उपलब्ध 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' शब्द जो उपनिषत्काल में आत्मा और परमात्मा के वाचक बन गये, उनका ऐक्य प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त है। छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' यह वाक्य आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का प्रतिपादक वाक्य है। उपनिषदों में प्रमुख रूप से आत्मा, ब्रह्म, जीव-जगत्, पुनर्जन्मसिद्धान्त, आचार-व्यवहार, नैतिक आदर्श आदि विषयों का विवेचन है।

आत्मतत्त्व—'आत्मन्' शब्द 'अन प्राणने' धातु से बनता है जिसका अर्थ है प्राण। ऋग्वेद में इसका अर्थ वायु बताया गया है। ब्राह्मणों में यही शब्द जीवात्मा का वाचक हो गया है। आचार्य शङ्कर 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति का निर्देश करते हुए कहते हैं कि "जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में ग्रहण कर लेता है, विषयों का उपभोग करता है और जो इसकी सत्ता निरन्तर रहती है, इन्हीं कारणों से इसे 'आत्मा' कहते हैं।"[१] कठोपनिषद् में आत्मस्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि "यह आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है न स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे कोई उत्पन्न हुआ है, यह अज, नित्य शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता है।"[२] यह आत्मा अणु से भी छोटा और महान् से भी महान् है और यह समस्त प्राणियों के हृदयरूपी गुहा में स्थित है, उसकी महिमा को कामना एवं शोक रहित साधक परमेश्वर की कृपा से ही जान सकता है।[३] छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र और प्रजापति के सम्वाद द्वारा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प्रजापति कहते हैं कि "आत्मा वह है जो पाप से मुक्त है, जरा से मुक्त है, वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु एवं शोक से रहित है, भूख और प्यास से रहित है, जो सत्यकाम है वही जानने और अनुभव करने योग्य हैं।"[४] इस प्रकार यह आत्मा अजन्मा, नित्य, व्यापक, सर्वान्तिर्यामी और सर्वातिशायि है।

---

१. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

(कठोपनिषद् शांकरभाष्य २।१।१)

२. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठोपनिषद् १।२।१८)

३. कठोपनिषद् १।२।२०

४. छान्दोग्योपनिषद् ८।७।१

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को तुरीय कहा गया है। इस उपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थाओं का निरूपण किया गया है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत् अवस्था में आत्मा स्थूलपदार्थों का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में वह सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है और सुषुप्ति अवस्था में आत्मा ब्रह्म के साथ तद्रूप होकर आनन्द का अनुभव करता है। प्रथम दोनों अवस्थाओं में आत्मा का ब्रह्म एव आभ्यन्तर जगत् से सम्बन्ध होने के कारण द्वैत का भान रहता है किन्तु तृतीय अवस्था में आत्मा परमानन्द का अनुभव करता है अतः उसे द्वैत का भान नहीं रहता। इन्हीं तीनों को क्रमशः वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ कहते हैं। आत्मा की एक तुरीय अवस्था है यह शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के पदार्थों का भास नहीं रहता है। इसमें 'ओ३म्' की ही आत्मा कहा गया है, ओ३म् अ-उ-म् इन तीन मात्राओं से बना है अतः ओउम् की ये तीन मात्राएँ ही आत्मा के तीन पाद हैं और ओ३म् का मात्रारहित निराकार रूप ही आत्मा का चतुर्थपाद है। इसी को 'तुरीय' अवस्था कहते हैं।

ब्रह्मतत्त्व—'ब्रह्म' शब्द 'वृह्' धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है 'बढ़ना'। आचार्य शङ्कर ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति 'वृहति' (अतिशय) से मानते हैं और उसका अर्थ शाश्वत एवं विशुद्ध करते हैं। माध्व के अनुसार जिसमें गुण पूर्ण रूप में रहते हैं उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। (बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः।) ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' शब्द का स्तुति के अर्थ में प्रयोग हुआ है, अथर्ववेद में यह शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता था और ब्राह्मणों में यह पवित्रता को बोधक हो गया। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दरूप है वही सबकी आत्मा है और उसी से इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के एक आख्यान में बताया गया है कि वरुणपुत्र भृगु अपने पिता से प्रश्न करता है कि 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइये।' तब वरुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं कि "जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसके पास जाते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।"[1]

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश मिलता है—निर्गुण और सगुण। निर्गुणब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा गया है। वह परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है, अवाङ्मनसगोचर है और निरुपाधि होने के कारण अनिर्वचनीय है, तैत्तिरीयो-

---

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्मेति" (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)

पनिषद् में इसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म)। मुण्डकोपनिषद् में इसे अक्षर, आनन्दरूप, अजर और अमर भी कहा गया है।[१] वह अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, रूपरङ्ग से रहित तथा चक्षु और श्रोत्र से रहित है।[२] बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए उस अक्षरब्रह्म को अवाङ्मनसगोचर कहा है।

सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' कहा गया है। यह अपरब्रह्म ससीम, नित्य, विभु, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता और विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है और सोपाधि होने के कारण वर्णनीय है। छान्दोग्योपनिषद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन 'तज्जलान्' शब्द के द्वारा किया गया है। 'तज्जलान्' शब्द का अर्थ है—"उस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) और उसी से धारण करता है। (तदन्)।" अर्थात् उस जगत् को उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और अपने में लीन करने वाला वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म ही इस संसार का कारण है, सब का स्वामी है, वही सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और नामरूपात्मक जगत् का अधिष्ठाता है।

वस्तुतः दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों ही एकतत्त्व (ब्रह्म) के दो दृष्टिकोण हैं। यही कारण है कि अनेक स्थलों पर एक ही स्थान पर ब्रह्म का उभयविध वर्णन प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक ओर उसे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, कर्माध्यक्ष और साक्षी कहा है। दूसरी ओर उसे ही निर्गुण कहा है।[३] इस प्रकार ब्रह्म के उभयरूप के वर्णन के पश्चात् भी उपनिषदों में उसे अनिर्वचनीय कहा गया है।

ब्रह्म और आत्मा

वेद और ब्राह्मणों में ब्रह्म और आत्मा अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते रहे हैं, किन्तु उपनिषदों में आकर ये दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाचक हो गये। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म और आत्मा दोनों ही सख्यभाव से शरीररूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक (आत्मा) कर्मफलों का भोग करता है और

---

१. मुण्डकोपनिषद् २।२।२, २।२।७

२. वही १।१।६

३. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
 कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।
 (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११)

दूसरा (परमात्मा) उसे साक्षीरूप में देखता है।[१] इस कथन से यद्यपि द्वैत की प्रतीति हो रही है किन्तु इसी उपनिषद् के अग्रिम वचनों से दोनों की अद्वैतता सिद्ध होती है। जैसा कि कहा गया है कि 'यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें चारों ओर व्याप्त है और यह विश्व ब्रह्म ही है और जो इस ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म ही हो जाता है।"[२] उक्त कथन की पुष्टि बृहदारण्यकोपनिषद् से भी होती है कि "यह आत्मा ही ब्रह्म है जो सबका अनुभव करता है। वस्तुतः यह समस्त विश्व ब्रह्म ही है और उसने अपने हृदय में स्थित आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझा।"[३] छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु के उपाख्यान द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए कहते हैं कि "हे श्वेतकेतो! वह यह जो अणिमा (अणुरूप) है, यह सब कुछ तद्रूप है, वह सत् है, वही आत्मा है, और हे श्वेकेतो! 'वही तू है' (तत्त्वमसि)।[४] इस प्रकार 'तत्त्वमसि, इस वाक्य के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में ऐक्य स्थापित किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्य का सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादक है। शाण्डिल्य का कथन है कि "ये मेरी आत्मा मेरे अन्तर हृदय में ब्रह्म है। जब मैं इस संसार से जाऊँगा तो उससे एकरूप हो जाऊँगा, जिसे यह ज्ञान हो गया है उसके लिए कोई भी विचिकित्सा शेष नहीं है।"[५] इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में अन्य भी बहुत से उपाख्यान मिलते हैं जिनके द्वारा ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है। माण्डूक्योपनिषद् में भी बताया गया है कि "यह सब कुछ ब्रह्म ही है, यह आत्मा ब्रह्म है।"[६] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि "यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह महान् अजन्मा अजर, अमर एवं अभय है जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।"[७] इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार यह समस्त दृश्यमान जगत् ब्रह्म है, यह जीव

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।१)

२. मुण्डकोपनिषद् २।२।११ तथा २।३।९

३. बृहदारण्यकोगपनिषद् २।५।१९

४. छान्दोग्योपनिषद् ६।१

५. वहीं ३।१४

६. माण्डूक्योपनिषद्, २

७. बृहदारण्यकोपनिषद्

ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

प्राणसिद्धान्त—उपनिषदों में अनेक स्थलों पर 'प्राण' शब्द का प्रयोग 'आत्मा' के अभिधान में हुआ है। इसे विज्ञानमय पुरुष से अभिन्न समझा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार एक बार प्राण और इन्द्रियों में परस्पर विवाद हुआ कि हममें कौन बड़ा है? इस पर सब प्रजापति के पास गये। तब प्रजापति ने कहा कि 'तुममें से जिसके उत्क्रमण करने पर शरीर नष्ट हो जाय और पापियों जैसा प्रतीत होने लगे, वही श्रेष्ठ है। सबसे पहले वाणी शरीर छोड़कर चली गई और एक वर्ष के बाद लौटकर देखा तो शरीर में किसी का विकार नहीं है, उसकी सारी क्रियाएँ ज्यों की त्यों हैं। उसने पूछा कि मेरे अभाव में तुम कैसे जीवित रहे? उन्होंने कहा कि जैसे मूक व्यक्ति बिना बोले हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। तब वाणी शरीर में प्रवेश कर गई। इसके बाद चक्षु ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौटकर देखा, शरीर का कुछ भी नहीं बिगड़ा है और उसने भी शरीर में प्रवेश किया। तदनन्तर श्रोत्र शरीर छोड़कर चला गया और एक संवत्सर रहने के बाद लौटकर देखा कि शरीर का कुछ भी नहीं बिगड़ा है। वह भी शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके बाद मन चला गया और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौटकर देखा कि शरीर ज्यों का त्यों बना है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ा है। उसके बाद जब प्राण जाने को तैयार हुआ, वैसे ही सारी इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगीं और प्राण से कहने लगीं कि आप मत जाइये, यहीं रहिये, हममें आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं।"[१] इस प्रकार ये मन, वाणी, श्रोत्र, चक्षु सभी प्राण ही है और प्राण ही आत्मा है।

ब्रह्म और जगत्—उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है। यह ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि 'जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाती है और फिर अपने में समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और जैसे पुरुष के केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है।"[२] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि "उस परमात्मा

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।१।८-१२

२. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा क्षरात्संभवतीह विश्वम्॥
मुण्डकोपनिषद् १।१।७

(ब्रह्म) से सूक्ष्म आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न; अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ।"[१] इस प्रकार यह जगत् इस ब्रह्म का परिणाम है। सृष्टि अभिव्यक्ति है, अभिव्यक्ति के पूर्व जगत् अव्यक्त रूप था, वह अव्यक्त रूप ही ब्रह्म है और ब्रह्म की व्यक्तावस्था ही जगत् है। माया सर्वोच्च ब्रह्म की वह शक्ति है जिससे जगत् की अभिव्यक्ति होती है। माया पर सर्वोच्च का नियन्त्रण रहता है और सर्वोच्च माया के द्वारा ही जगत् को अभिव्यक्त करता है।

उपनिषदों के अनुसार यह समस्त दृश्यमान नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म का एक रूप है और ब्रह्म उस जगत् का मूल कारण है। यह जगत् ब्रह्म में से आता है और उसी में लौट जाता है। उस जगत् की जो भी कुछ सत्ता है वह ब्रह्म के कारण है। इस प्रकार यह ब्रह्म ही जगत् का मूलकारण है और इसी ब्रह्म के कारण जगत् की सृष्टि एवं प्रलय होती है।

पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त—औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार मानव जन्म-मरण एवं आवागमन की विभीषिका से संत्रस्त होकर उससे मुक्ति पाने की चेष्टा करता है और उससे उन्मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करना चाहता है। संसार में जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। यदि वह अच्छा कर्म करता है तो अच्छा फल प्राप्त करता है और यदि बुरा कर्म करता है तो बुरा फल प्राप्त करता है। अत एव हमारी उपनिषदें हमें सदैव सत्कर्म की प्रेरणा देती हैं। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि "सत्कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करो।"[२] इससे ज्ञात होता है कि निष्कामभाव से सत्कर्म करने से मानव जन्म-मरण की विभीषिका से पीड़ित नहीं होता किन्तु जो स्वार्थवश कर्म में प्रवृत्त होते हैं वे अवश्य ही जन्म-मरण की विभिषिका को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने किये गये कर्मों के अनुसार ही मानव का उत्थान-पतन होता है।

याज्ञवल्क्य ने कर्म का महत्त्व बताते हुए कहा है कि मनुष्य पुण्यकर्म करने से पुण्यात्मा और पाप कर्म करने से पापी बनता है।[३] आगे कहा गया है कि वह पुरुष काममय है, जैसा उसका काम (राग) होता है वैसा ही संकल्प होता है; जैसा संकल्प होता है वैसा कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा उसका भाग्य बनता है।[४] इस प्रकार सत्कर्म के द्वारा जो व्यक्ति अपने को

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् २।१

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशावास्योपनिषद् २)

३. बृहदारण्यकोपनिषद् ३।२।१३ ४. वही ४।४।२-५

ऊपर उठाता है उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और जो व्यक्ति नीच कर्मों द्वारा अपने को नीचे गिराता है उसे नरक की प्राप्ति होती है। इसी कर्म-सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म सिद्धान्त का विकास पाया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि 'कर्मविपाक के अनुसार जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी यज्ञ को करते हैं वे मृत्यु के बाद अमरत्व को प्राप्त करते हैं और जो तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, वे बार-बार मृत्यु के बन्धन को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जीवन में जन्म-मरण का गतिशील चक्र निरन्तर चलता रहता हैं।'[1] इसी मान्यता के आधार पर उपनिषदों में पुनर्जन्म का प्रादुर्भाव हुआ। वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार मानव अपने सञ्चित कर्मों के अनुसार नया जन्म ग्रहण करता है। उनमें जो श्रद्धावान् एवं तत्त्वज्ञानी होते हैं वे देवलोक तथा सूर्यलोक को प्राप्त करते हुए ब्रह्मलोक पहुँचते हैं जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता है और वेदविहित कर्मों को करने वाले सदाचारी पितृलोक में प्रवेश करते हुए चन्द्रलोक जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को लौट आते हैं और कर्महीन निकृष्ट व्यक्ति कीड़े-मकोड़े आदि निकृष्ट योनियों में जन्म लेते हैं।"[2]

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है 'श्रद्धा और तप में लीन व्यक्ति शरीर-त्याग के अनन्तर देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं और उनका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इष्टापूर्त्त, यज्ञादि कर्मों में रत सदाचारी व्यक्ति पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक को जाते हैं और पुण्यकर्मों के क्षय होने पर वहाँ से लौटकर शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ और अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं।[3] कौषितकि उपनिषद् के अनुसार 'शरीर-त्याग के अनन्तर समस्त प्राणी चन्द्रलोक को जाते हैं और वहाँ से कुछ पितृयान द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं और कुछ व्यक्ति मर्त्यलोक में आकर नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेते हैं।'[4] केनोपनिषद् के अनुसार देवयान को उत्तरमार्ग (उत्तरायण) और पितृयानमार्ग दक्षिणमार्ग (दक्षिणायन) कहते हैं।[5]

कठोपनिषद् में एक आख्यान द्वारा पुनर्जन्म की समस्या की प्रतिपादन किया गया है। नचिकेता नामक एक ब्राह्मणशिशु यमलोक पहुँचता है और

---

१. भारतीय दर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी) पृ० ४८

२, वृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।१५-१६

३. छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।१-८

४. कौषीतकि उपनिषद् १०।२।२

५. केनोपनिषद् १।९।१०

यम उससे तीन वर माँगने को कहते हैं। नचिकेता प्रथम दो वर माँगने के बाद तृतीय वर के रूप में वह पूछता है कि "मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है?" यमराज नचिकेता के आग्रह पर उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि "जीवन और मरण विकास के ये विभिन्न स्वरूप हैं, जीव और ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति करानेवाला तत्त्वज्ञान मनुष्य को मृत्यु से अतीत बनाकर अमृतत्त्व को प्राप्त करता है।[1]

नैतिक सिद्धान्त—भारतीय परम्परा के अनुसार उपनिषदें नैतिक आदर्शों की जननी हैं। इनके नैतिक उपदेश इतने दिव्य हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य शाश्वत सुख एवं विमल शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। उपनिषदें मानव-जीवन की नैतिक शिक्षा की बार-बार प्रेरणा देती हैं कि उठो, जागो और बड़ों से शिक्षा ग्रहण करो।[2] ऐसा करने से मानव का परम कल्याण होगा। तैत्तिरीयोपनिषद् का नैतिक उपदेश तो अमृत से भरा हुआ है। "सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, सत्य और धर्म के पालन में आलस्य मत करो, देवता, पितर, माता, पिता, गुरु, अतिथि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करो, श्रद्धा, भक्ति एवं नम्रता से दान करो।"[3] छान्दोग्योपनिषद् में जीवन को एक यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है और तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्यवादिता को उस यज्ञ की दक्षिणा बताया है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति अपने तीनों सन्तानों (देव, मनुष्य और असुर) को सभी सद्गुणों में एक ही 'द' का उपदेश देते हैं। उनके इस उपदेश से देवों ने 'द' से दमन (दाम्यत) की शिक्षा ली, मनुष्यों ने 'द' से दान (दत्त) की शिक्षा ली और असुरों, ने 'द' से दया (दयध्वम्) की शिक्षा ली। प्रजापति ने कहा कि दैवीवाक् में भी उन्हें 'द द द' यही श्रवण होता है अतः तुम्हें दाम्यत (आत्मनिग्रह), दत्त (दान) और दयध्वम् (दया) इन तीन गुणों को ग्रहण करना चाहिये।[5] 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' 'सत्यमेव जयते नानृतम्' आदि नैतिक उपदेशों से उपनिषद् साहित्य भरा पड़ा है। ये ही नैतिक उपदेश अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन कहे गये हैं।

---

१. कठोपनिषद् २।६।१९
२. उतिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् १।११
४. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।४
५. बृहदारण्यकोपनिषद् ५।२

६

वेदाङ्ग (सूत्र-साहित्य)

वेदांग

वेद भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के मूल उद्‌गम स्थान हैं। वैदिक, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान आदि सभी वेदों से उद्‌भूत हैं। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है—परा और अपरा। जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है उसे पराविद्या कहते हैं। अपराविद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के अनन्तर शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का उल्लेख है।[१] इन्हीं छः को वेदाङ्ग भी कहते हैं, वेदाङ्ग का अर्थ है वेद की सहायक विद्याएँ अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध हो उन्हें अङ्ग कहते हैं और वेद के अर्थज्ञान के लिए जो सहायक होते हैं उन्हें 'वेदाङ्ग' कहते हैं। वेद के स्वरूप एवं अर्थज्ञान के लिए प्रथम आवश्यक तत्त्व है शिक्षा, जो वेदमन्त्रों के यथार्थ उच्चारण की शिक्षा देता है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड एवं यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प, शब्दरूप ज्ञान के लिए व्याकरण, पदों के निर्वचन के लिए निरुक्त, छन्दों के ज्ञान के लिए छन्द तथा अनुष्ठानों के लिए उचित नक्षत्र तिथि, मासादि के ज्ञान के लिए ज्योतिःशास्त्र अङ्ग हैं अतः ये सभी वेदाङ्ग नाम से अभिहित किये जाते हैं। पाणिनीय शिक्षा में वेद को पुरुष के रूप में कल्पित करके उसके छः अवयवों का निर्देश किया गया है—

> छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
> ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
> शिक्षा प्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
> तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥[२]

छन्द उस वेदपुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा प्राण है और व्याकरण मुख है। वेदों का अङ्ग अथवा सहायक होने के कारण इनका नाम 'वेदाङ्ग' पड़ा। ये वेदाङ्ग छः हैं—

> शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
> कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं छन्दो, ज्योतिषमिति। (मुण्डकोपनिषद् १।१।५)

२. पाणिनीय शिक्षा, ४१' ४२

शिक्षा शास्त्र—

शिक्षा को वेद का घ्राण कहा गया है (शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य)। शिक्षा का अर्थ है शिक्षण अर्थात् उच्चारण की शिक्षा देना। ऋग्वेदभाष्य में सायण ने कहा है कि स्वर, वर्ण आदि की उच्चारण-विधियों की जहाँ पर शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा कहते हैं।[१] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि शिक्षा के छः अङ्ग हैं—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान।

"शिक्षां व्याख्यायामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम् साम सन्तान इत्युक्तः।"[२]

वर्ण—अकार (अ) आदि अक्षरों को वर्ण कहते हैं (वर्णोऽकारादिः)। वेदों के ज्ञान के लिए सर्वप्रथम वर्णों (अक्षरों) का ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षाग्रन्थों में ६३ या ६४ वर्णों का उल्लेख है[३] जिनमें इक्कीस स्वर, पच्चीस स्पर्शसंज्ञक वर्ण, आठ यादि (य र ल व श ष स ह), चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, ऊपध्मानीय और दो स्वरों के मध्यवर्त्ती 'ल' ये तिरसठ वर्ण हैं। यदि इनमें प्लुत ऌकार को सम्मिलित कर लिया जाय तो संख्या चौंसठ हो जाती है।

स्वर—यहाँ पर स्वरों से तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित से है (उदात्तादिः स्वरः)। वेदमन्त्रों के उच्चारण में इन उदात्तादि स्वरों का विशेष महत्त्व है। क्योंकि वेदों में स्वरभेद से अर्थभेद भी हो जाया करता है। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में बताया गया है कि 'जो मन्त्र स्वर और वर्ण से हीन होता है अथवा मिथ्या प्रयुक्त होता है वह प्रयोजन की सिद्धि नहीं करता है बल्कि वाग्वज्र होकर यजमान का नाश कर डालता है। जिस प्रकार स्वरदोष के कारण इन्द्रशत्रु वृत्रासुर मारा गया।'[४] यहाँ पर 'इन्द्रशत्रुवर्धस्व' इस मन्त्र में 'इन्द्रशत्रु' में तत्पुरुष प्रयुक्त अन्तोदात्त होना चाहिए था किन्तु ऋत्विजों ने उक्त पद में बहुव्रीहिप्रयुक्त आद्युदात्त अशुद्ध उच्चारण कर दिया जिससे इन्द्र के द्वारा वृत्रासुर मारा गया।

---

१. स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"
(ऋग्वेदभाष्यभूमिका—सायण पृ० ४९)

२. तैत्तिरीयोपनिषद्—शिक्षाध्याय १।२

३. त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। (पाणिनीय शिक्षा, ३)

४. दुष्टो मन्त्रः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वजो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पाणिनीय शिक्षा, ५२)

मात्रा—स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहते हैं। मात्राएँ तीन होती हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। एक मात्रा के उच्चारण में लगने वाला समय ह्रस्व, द्विमात्रा को दीर्घ और त्रिमात्रा को प्लुत कहते हैं (मात्रा ह्रस्वः। द्वे दीर्घः। तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः)। नारदीय शिक्षा में बताया गया है कि पलक गिरने में जितना समय लगता है उतने समय को एक मात्रा कहते हैं (निमेषाकाला मात्रा स्यात्)। इस प्रकार ह्रस्व की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्रा और प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं।

बल—वर्णों के उच्चारण स्थान और प्रयत्न को 'बल' कहते हैं। वर्णों के उच्चारण के समय वायु जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है उसे 'स्थान' कहते हैं। स्थान आठ होते हैं—कण्ठ, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वामूल। वर्णों के उच्चारण में किये गये प्रयास को 'प्रयत्न' कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर और बाह्य। वर्णों के उच्चारण के लिए मुख के भीतर जो प्रयत्न किया जाता है उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत। वर्णों के उच्चारण में मुख के बाहर जो प्रयत्न होता है उसे 'बाह्य' प्रयत्न कहते हैं। बाह्यप्रयत्न को अनुप्रदान भी कहते हैं, बाह्यप्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

साम—वर्णों के दोष-रहित एवं शुद्ध माधुर्यादि गुणों से समन्वित उच्चारण को 'साम' कहते हैं। शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण के गुण एवं दोषों का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। पाणिनीय शिक्षा में पाठक के छः गुण बताये गये हैं—माधुर्य, अक्षरव्यक्ति (वर्णों का स्पष्ट उच्चारण), पदच्छेद (पदों का अलग-अलग विभाजन), सुस्वर (सुन्दर स्वरों का उच्चारण), धैर्य (धीरतापूर्वक पढ़ना) और लयसमर्थ (सुन्दर लय से पढ़ना)।[1] इसके अतिरिक्त पाणिनीयशिक्षा में छः प्रकार के अधम पाठकों का भी निर्देश है—गीती (गा गाकर पढ़ने वाला), शीघ्री (जल्दी जल्दी पढ़ने वाला), शिरःकम्पी (शिर हिला-हिलाकर पढ़ने वाला), लिखित पाठक (स्वलिखित पुस्तक से पढ़ने वाला), अनर्थज्ञ (बिना अर्थ समझे पढ़ने वाला) और अल्पकण्ठ (अनभ्यस्त पाठ करनेवाला)।[2] इनके अतिरिक्त

---

१. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठकाः गुणाः॥ (पाणिनीय शिक्षा, ३३)

२. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाः गुणाः॥ (पाणिनीय शिक्षा, ३२)

पाठकों के कुछ और दोष बताये गये हैं। जैसे—शङ्कित, भीत, (भययुक्त) उत्कृष्ट अस्पष्ट, सानुनासिक, काकस्वर (कठोर, परुष), शिरसिगं (शिर से उच्चारण करना), स्थान-रहित, उपांशु (मुख के भीतर ही बुदबुदाना), दंष्ट्र (दांतो को पीस कर उच्चारण करना), त्वरित (शीघ्रता), निरस्त (निष्ठुर), विलम्बित (बिलम्ब से उच्चारण करना); गद्गदित (स्वर विशेष से उच्चारित), प्रगीत, निष्पीड़ित, ग्रस्त पदाक्षर (अक्षरों को छोड़कर पढ़ना), और दीन (उत्साह-हीन होकर पढ़ना) ये पाठ त्याज्य बताये गये हैं।[1]

सन्तान—सन्तान का अर्थ है 'संहिता'। पदों की अतिशय सन्निधि को संहिता कहते हैं। प्रत्येक वेद के वर्णों का उच्चारण एक सा न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। इसका विस्तृत विवेचन शिक्षा ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यही कारण है कि प्रत्येक वेद के अलग-अलग शिक्षा-ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वेद के मन्त्र-पाठ में संहिता या सन्धि-विच्छेद आवश्यक बताया गया है। यास्क ने संहिता का अर्थ पदप्रकृति किया है (पदप्रकृतिः संहिता)।[2] प्रातिशाख्यों में 'काल-व्यवधान किये बिना पदों के मेल (सन्निधान) को संहिता कहा गया है। संहिता-पाठ में पदों का ज्ञान होना आवश्यक है और सन्धि-नियमों के द्वारा ही संहिता-पाठ का सम्पादन होता है। अतः सन्धि-नियमों का ज्ञान संहिता-पाठ में आवश्यक है।

प्रातिशाख्य—भारतीय वाङ्मय में संहिताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संहिताओं के पाठ से सम्बद्ध विषयों का प्रतिपादन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में हुआ है। प्रातिशाख्य शिक्षा (वेदाङ्ग) के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। पाणिनि ने प्रातिशाख्यों का उपयोग किया है अतः प्रातिशाख्य पाणिणि के पूर्ववर्त्ती माने जाते हैं। इन्हें प्रातिशाख्य इसलिए कहा जाता है कि ये वेद की प्रतिशाखा से सम्बद्ध रचनाएँ हैं। प्रातिशाख्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही है कि वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं (शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखम् प्रतिशाखायां भवम् प्रातिशाख्यम्)।[3] इस प्रकार वेदों की एक-एक शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहते हैं।

प्रातिशाख्यों का महत्त्व दो दृष्टियों से देखा जाता है। प्रथम भारत में व्याकरणशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से है। प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा का व्याकरण प्रतिशाख्यों से ही प्रारम्भ होता है। यद्यपि प्रातिशाख्य स्वयं व्याकरण

---

१. पाणिनीय शिक्षा, ३४, ३५

२. निरुक्त १।१७

३. वाजसनेयि प्रातिशाख्य (अनन्तभट्ट भाष्य) १।१

के ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी इनमें व्याकरण से सम्बद्ध अनेक विषयों का प्रतिपादन है और प्राचीनकाल के अनेक वैयाकरणों के नाम व मत इनमें उद्धृत किये गये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय व्याकरणशास्त्र अत्यन्त विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुका था। द्वितीय महत्त्व यह है कि प्रातिशाख्यों के समय में वैदिक संहिताओं का स्वरूप व पाठ उसी प्रकार का था, जैसा कि वर्तमान समय में उपलब्ध होता है। अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी हैं किन्तु संहिताओं में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्त्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं जैसो कि प्राचीनकाल में।

प्रातिशाख्यों में उच्चारण, स्वरविधान, सन्धि-विधान, ह्रस्व-दीर्घविधान, लोपागमविकारादि-विधान आदि संहितापाठ से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का विवेचन किया गया है। संहिता पाठ पदपाठ के रूप में परिवर्त्तित होने के नियमों का विवरण भी इनमें प्राप्त होता है। इनमें दीर्घीकरण के समस्त उदाहरण समीक्षा के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का विवेचन भी किया गया है। प्रातिशाख्यों की संख्या के सम्बन्ध में प्रर्याप्त मतभेद पाया जाता है प्रतिशाख्य शब्द से ज्ञात होता है कि प्रत्येक वेद की हर एकशाखा का एक प्रतिशाख्य ग्रन्थ रहा होगा, किन्तु आजकल उतने प्रतिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं जितनी शाखाएँ उपलब्ध हैं। इस समय निम्नलिखित प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) ऋक् प्रातिशाख्य

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

(३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य

(४) अथर्ववेद प्रातिशाख्य (अथर्वप्रातिशाख्य और शौनकीया चतुरध्यायी)

(५) सामप्रातिशाख्य (सामतन्त्र, पुष्पसूत्र और ऋक्तन्त्र)

१. ऋक्प्रातिशाख्य—ऋक्प्रातिशाख्य अन्य सभी प्रातिशाख्यों में शीर्ष-स्थानीय है। इस प्रातिशाख्य में ऋग्वेद की शाकल शाखा की शैशिरीय उपशाखा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्राचीनता, प्रमाणिकता एवं विषय के विस्तृत तथा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से यह अद्वितीय है। अतः अन्य सभी प्रातिशाख्यों पर ऋक्प्रातिशाख्य का अटूट प्रभाव है। इस प्रातिशाख्य में ऋग्वेद के बाह्य रूप के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म और वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद संहिता का बाह्य-स्वरूप प्राचीनकाल में शब्दशः और अक्षरशः वैसा ही था जैसा कि आज ऋग्वेद के मुद्रित संस्करणों में प्राप्त होता है।

शौनक—ऋक्प्रातिशाख्य के रचयिता महर्षि शौनक हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिए दस ग्रन्थों का निर्माण किया है। वे दस ग्रन्थ हैं—आर्षानुक्रमणी, छान्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता, शौनकस्मृति और ऋक्प्रातिशाख्य।[1] इस प्रकार ज्ञात होता है कि शौनक ने अनेक ग्रन्थों के साथ-साथ ऋक्प्रातिशाख्य की भी रचना की है। जैसा कि विष्णुमित्र ने कहा है कि वेदों के अर्थ के ज्ञाता आचार्य शौनक ने लोगों के कल्याण के लिए ऋग्वेद के शिक्षा-शास्त्र ऋक्प्रातिशाख्य का प्रणयन किया। (अत आचार्यो भगवाञ्छौनको वेदार्थवित्सुहृद्भूत्वा ··· ··पुरुषहितार्थमृग्वेदस्य शिक्षाशास्त्रं कृतवान्।) षड्गुरुशिष्य के अनुसार आश्वलायन और कात्यायन शौनक के शिष्य थे।[2] शौनक ने स्वयं तथा दोनों शिष्यों द्वारा अनेक ग्रन्थों का निर्माण करा कर वेदों का उद्धार किया है। इसके लिए सारा विश्व शौनक के सामने नतमस्तक है। शौनक का समय ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० मध्य माना जाता है।

प्रतिपाद्यविषय—ऋक्प्रातिशाख्य में कुल तीन अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में छः पटल हैं। इस प्रकार कुल अठारह पटल हैं। प्रत्येक पटल वर्गों में विभाजित है। प्रत्येक वर्ग में सामान्यतः पाँच श्लोक हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में मुख्य विषय वर्ण, पद, सन्धि, स्वर, छन्द, क्रमपाठ एवं वेदाध्ययन हैं। इस प्रातिशाख्य के प्रथम पटल में स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि पदों का लक्षण प्रतिपादित है। द्वितीय पटल में प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्राह्य, भुग्न आदि सन्धियों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया है। तृतीय से नवम पटल तक स्वरों का परिचय, विसर्गसन्धि, नतिसन्धि, क्रमसन्धि, व्यञ्जन-सन्धि, प्लुतसन्धि आदि नानाविध सन्धियों का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। दशम एवं एकादश पटलों में क्रमपाठ का विवरण है और वर्णों एवं उदात्तादि स्वरों के परिवर्त्तन के नियम निर्दिष्ट हैं। द्वादश एवं त्रयोदश पटल के पदविभाग, व्यञ्जनरूप तथा लक्षण अनेक आचार्यों के मत प्रस्तुत क·

---

१. शौनकीया दश ग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये।
आर्ष्यनुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा॥
अनुवाकानुक्रमणी सूक्तानुक्रमणी तथा।
ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद्दैवतमेव च॥
प्रातिशाख्य शौनकीयं स्मार्त्तं दशममुच्यते।

२. (क) शौनकस्य तु शिष्योऽभूद्भगवानाश्वलायनः।
(ख) शौनकार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः।

दिये गये हैं। चतुर्दश पटल में वर्णों के उच्चारण-जन्य दोषों का विवेचन है। पञ्चदश पटल में वेद-पारायण पद्धति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्तिम तीन पटलों (१६ से १८ तक) में छन्दों का विस्तृत विवेचन है। जो छन्दःशास्त्र के अध्ययन के लिए नितान्त उपादेय है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध यह प्रातिशाख्य दो खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड में बारह अध्याय और कुल चौबीस अध्याय हैं। विस्तार की दृष्टि से यह ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य से छोटा है किन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से यह अत्यन्त विस्तृत एवं प्रामाणिक हैं। इस प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में वर्णसमाम्नाय, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा उदात्तादि स्वर, अपृक्त एवं इङ्ग्य आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में शब्दोत्पत्ति, स्वर-व्यञ्जन, स्पर्श, अनुनासिक, अन्तःस्थ, ऊष्मन् आदि वर्णों के उच्चारण प्रकार का विधिवत् विवेचन है। तृतीय अध्याय में संहितापाठ में स्थित दीर्घ स्वर का पदपाठ में ह्रस्व होने का नियम वर्णित है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक अध्यायों में संहिता का स्वरूप, लोप, वर्णागम, णत्व, षत्व आदि सन्धि विकार तथा अनुस्वार-अनुनासिक, अनुनासिक-स्वरित भेद, उदात्तादि स्वरों का विवेचन; प्रथम स्वर तथा उनके प्रयत्नों आदि पर विचार किया गया है। इस प्रातिशाख्य के तेइसवें अध्याय में वाणी के सात स्थान तथा क्रुष्टादि स्वरों का विस्तृत विधान वर्णित है। इसमें अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं और सन्धियों का विवरण उपलब्ध होने पर भी पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को महत्त्व नहीं दिया गया है। इस प्रातिशाख्य पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—माहिषेय कृत पदक्रमसदन, सोमयार्यकृत त्रिभाष्यरत्न और गोपालयज्वाकृत वैदिकाभरण। इसमें पदक्रमसदन प्राचीनतम तथा वैदिकाभरण एवं त्रिभाष्यरत्न की अपेक्षा संक्षिप्त है और वैदिकाभरण सबसे अर्वाचीन है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य—शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता से सम्बद्ध वाजसनेयि प्रातिशाख्य है। इस प्रातिशाख्य की रचना महर्षि शौनक के शिष्य कात्यायन ने की है। यह कात्यायन वैयाकरण कात्यायन से भिन्न और पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है। इस प्रातिशाख्य में कात्यायन ने वाजसनेयि-संहिता के बाह्य स्वरूप के सम्बन्ध में सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक नियमों की रचना की है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वाजसनेयि संहिता का बाह्यस्वरूप प्राचीनकाल में वैसा ही था जैसा कि आज मुद्रित संस्करणों में प्राप्त होता है। विस्तार की दृष्टि से यह ऋक्प्रातिशाख्य से छोटा और अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है

और विषय-विधान की दृष्टि से कुछ अव्यवस्थित सा है। इसमें परिभाषा, स्वर तथा सस्कार आदि विषयों का विस्तृत विवेचन है। सारा प्रातिशाख्य सूत्र-रूप में उपनिबद्ध है। इस प्रातिशाख्य की दो शाखाएँ प्रकाशित हैं। इस पर उव्वट का भाष्य तथा अनन्तभट्ट की व्याख्या उपलब्ध है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में १६९ सूत्र हैं जिनमें वर्णोत्पत्ति, उच्चारण विधि, करण तथा पारिभाषिक शब्दों का विस्तृत लक्षण दिया गया है। द्वितीय अध्याय में स्वरों के लक्षण तथा नियम प्रतिपादित हैं। तृतीय एवं चतुर्थ में सन्धि-नियम पदपाठ एवं क्रमपाठ के नियम वर्णित हैं। पञ्चम अध्याय में अवग्रह तथा इतिकरण का विधान वर्णित है। षष्ठ अध्याय में स्वर-नियम तथा कतिपय पदों का स्वरूप प्रतिपादित है। सप्तम अध्याय में परिग्रह के नियम वर्णित हैं। अष्टम अध्याय में वर्ण समाम्नाय, वर्णों के देवता, अध्ययन विधि एवं पदचतुष्टय का विवेचन है। इस प्रातिशाख्य के अनेक सूत्रों में शाकटायन, शाकल्य, शौनक, काश्यप, जातूकर्ण्य, गार्ग्य आदि प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रातिशाख्य का सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें वर्णों की उत्पत्ति, वर्णों के उच्चारण-प्रकार तथा वर्णों के स्वरूप का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है जो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार पदविषयक विवेचन पदविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है। इस प्रातिशाख्य में जहाँ एक ओर स्वर, सन्ध्यक्षर आदि अन्वर्थ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ दूसरी ओर जित्, मुत्, धि, सिम् आदि अनर्थक एकाक्षरात्मक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रातिशाख्य के प्रथम एवं अष्टम अध्यायों में स्वर, सन्ध्यक्षर आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का विवेचन है। इन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा अल्प शब्द से विपुल अर्थ को प्रकट किया जा सकता है।

अथर्वप्रातिशाख्य—अथर्ववेद से सम्बद्ध दो प्रातिशाख्य ग्रन्थ प्रकाशित हैं—एक विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा पंजाब विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला से १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ है जिसका द्वितीय संस्करण १९४० ई० में डा० सूर्यकान्त द्वारा लाहौर से प्रकाशित है। दूसरा ग्रन्थ डा० ह्विटनी द्वारा १८६२ ई० में 'शौन-कीया चतुरध्यायिका' के नाम से सानुवाद प्रकाशित है। इसमें कुल चार अध्याय हैं। विस्तार की दृष्टि से यह सबसे छोटा प्रातिशाख्य ग्रन्थ है। इसके प्रथम अध्याय में ध्वनि तथा उनका वर्गीकरण, विसर्जनीय, अभिनिधान, अक्षर और

उनकी मात्रा वर्णविकार, आगम आदि का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में सन्धि का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में संहितापाठ में होनेवाले दीर्घत्व का विधान, वर्ण परिवर्तन, स्वरसन्धि आदि विषयों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृह्य, क्रमपाठ और उसकी आवश्यकता पर विचार किया गया है। अथर्वप्रातिशाख्य में तीन प्रपाठक हैं। इनमें सन्धि नियम, स्वर तथा पदपाठ के नियम प्रतिपादित हैं। इसमें ध्वनि-नियम तथा एक भी पारिभाषिक शब्दों का प्रतिपादन नहीं है। डा० सूर्यकान्त का कथन है कि ये दोनों प्रातिशाख्य अथर्ववेद की अलग-अलग शाखा से सम्वद्ध है।

सामप्रातिशाख्य—सामवेद से सम्बद्ध तीन प्रातिशाख्य प्रकाशित हैं—सामतन्त्र, पुष्पसूत्र और ऋक्तन्त्र। सामतन्त्र के रचयिता औद्व्रजि हैं। पुष्पसूत्र पुष्प ऋषि द्वारा रचित है। सामवेदीय सर्वानुक्रमणी के अनुसार पुष्पसूत्र का रचयिता वररुचि हैं। इसमें कुल दश प्रपाठक या अध्याय हैं। इसका सम्बन्ध गान-संहिता से है और इसमें स्तोम का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। इसमें उन स्थलों और मन्त्रों का विवरण है जिनमें स्तोम का विधान और अपवाद होता है। इसमें मुख्य रूप से वेयगान तथा अरण्येगेयगान में प्रयुक्त सामों का ऊहन अन्य मन्त्रों पर कैसे किया जाता है इसका विशद विवेचन है। इस पर उपाध्याय अजातशत्रु की व्याख्या उपलब्ध है। इसके आरम्भ के चार प्रपाठकों पर अजातशत्रु की व्याख्या नहीं है। अजातशत्रु की व्याख्या पञ्चम प्रपाठक से प्रारम्भ होती है।

ऋक्तन्त्र सामवेद की कौथुम शाखा से सम्वद्ध है। इसके रचयिता आचार्य शाकटायन है। इसमें कुल पाँच प्रपाठक और २०० सूत्र है। प्रथम प्रपाठक में वर्णसमाम्नाय के साथ वर्णोच्चारण सम्बन्धी नियम प्रतिपादित हैं। द्वितीय प्रपाठक में वर्णों का स्थान, वर्ग, घोष, अन्तःस्थ, अनुनासिक, अभिनिधान, संयोग, अङ्गत्व विचार, कालनिरुपण, वृत्ति निरूपण, दीर्घ, गुरु, प्लुत तथा उदात्तादि स्वरों का विधान वर्णित है। तृतीय प्रपाठक में उदात्तश्रुति, विभक्ति लोप, संहिता एवं सन्धि के नियमों का विवेचन है। चतुर्थ प्रपाठक में विसर्ग सकार-विधान, य, व, द आदि वर्णों का लोप-विधान तथा आगम आदि, का विधान वर्णित है। पञ्चम प्रपाठक में दीर्घभाव, द्वित्व, मूर्धन्यभाव का विधान प्रतिपादित है। यह प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है क्योंकि अष्टाध्यायी पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

व्याकरण

वैदिक वाङ्मय में व्याकरण का प्रमुख स्थान है। वेद के षडङ्गों में व्याकरण को मुख कहा गया है (मुखं व्याकरणं स्मृतम्)। जिस प्रकार शरीर के

अवयवों में मुख अग्रगण्य है और मुख के विना भोजनादि न होने से शरीर की पुष्टि नहीं हो सकती, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेद रूपी पुरुष के शरीर की रक्षा असम्भव है और वेद के छः अङ्गों में व्याकरण का मुख्य स्थान है। व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके द्वारा पदों के प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है उसे व्याकरण कहते हैं (व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्)। ऋग्वेद के एक मन्त्र में व्याकरणशास्त्र का एक वृषभ से रूपक बांधा गया है। इस वृषभ के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार सींग हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल इसके तीन पाद हैं, सुप् और तिङ् रूप इसके दो शिर हैं और सातों विभक्तियाँ इसके सात हाथ हैं। यह वृषभ उरस्, कण्ठ और शिर इन तीनों स्थानों में बँधा हुआ शब्द करता है। यह महान् देव मनुष्यों के शरीर में प्रवेश किये हुए है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥
(ऋग्वेद ४।५८।६)

व्याकरणशास्त्र में वर्ण, पद, सन्धिविचार, शब्द-रचना के नियम तथा प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया गया है। शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थबोध के लिए व्याकरण का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अष्टाध्यायी की व्याख्या प्रारम्भ करने के पूर्व व्याकरण के अध्ययन के पाँच प्रयोजन बताये हैं—रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह।

'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्'[1]

रक्षा—व्याकरणशास्त्र का मुख्य उद्देश्य वेदों की रक्षा करना है। व्याकरण शास्त्र में वर्ण समाम्नाय, पद एवं स्वरों के उच्चारण के नियम एवं प्रयोग तथा पदपाठ, क्रमपाठ आदि की कल्पना वेदों की रक्षा के लिए ही की गयी है। इस प्रकार वेदों की रक्षा व्याकरणशास्त्र का प्रथम प्रयोजन है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।'[2]

वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। लोप, आगम और वर्णविकार को अच्छी तरह जानने वाला ही वेदों की शुद्ध रूप से रक्षा कर

१. महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
२. वही

सकता है। कैयट ने तो अर्थज्ञान को भी व्याकरण का प्रयोजन बताया है।

उह—ऊह का अर्थ है—यथास्थान विभक्ति, लिङ्ग, वचन आदि का परिवर्त्तन अथवा रूपान्तरण। वेद में सभी विभक्तियों एवं सभी लिङ्गों में मन्त्र नहीं कहे गये हैं किन्तु याज्ञिक पुरुष को यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार यथावसर उनका विपरिणाम कर लेना चाहिए। यह कार्य वैयाकरण ही कर सकता है। इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है। पतञ्जलि के अतिरिक्त भर्तृहरि, कैयट, भट्टोजीदीक्षित आदि वैयाकरणों ने भी ऊह को व्याकरणशास्त्र का प्रमुख प्रयोजन माना है। क्योंकि ऊह धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय आदि का सहारा लेकर नवीन शब्दों के निर्माण में सहायक होता है। इस प्रकार ऊह भाषा के विकास का प्रमुख सोपान है।

आगम—व्याकरण का तृतीय आयोजन आगम है। आगम का अर्थ है वेद या श्रुति। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण को फल विशेष की कामना से रहित होकर षडङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करना चाहिए। वेद के छः अङ्गों में व्याकरण प्रमुख है और मुख्य में किया गया प्रयत्न सफल होता है अतः व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है।

लघु—व्याकरण का चतुर्थ प्रयोजन लघु है। लाघव के लिए ही व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए (लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्)[१]। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसके द्वारा शब्दों का सरलता से थोड़े ही समय में ज्ञान हो जाता है। व्याकरण के अध्ययन किये विना अन्य उपाय से शब्दों का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। किसी भी भाषा के परिनिष्ठित ज्ञान के लिए व्याकरण से बढ़कर और कोई लघुतर उपाय नहीं है।

असन्देह—'असन्देह' व्याकरणशास्त्र का पाँचवाँ प्रयोजन है। वैदिक शब्दों के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देह का निराकरण व्याकरण के द्वारा ही हो सकता है। वेदों में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनमें अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना रहती है। जैसे 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीभनड्वाहीमालभेत' इस वाक्य में 'स्थूलपृषती' शब्द में सन्देह है कि यदि इसमें 'स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती' कर्मधारय समास करते हैं तो अन्तोदात्त होगा और यदि 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती' इस प्रकार बहुव्रीहि समास करते हैं तो पूर्वपद में प्रकृतिस्वर का विधान होगा। इस प्रकार 'पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व' के आधार पर वैयाकरण ही

१. महाभाष्य, पस्पशाह्निक १

यह निर्णय कर सकता है कि इसमें बहुव्रीहि समास है, कर्मधारय नहीं है। अतः इस प्रकार के सन्देह निर्णय के लिए व्याकरणशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

महर्षि पतञ्जलि ने उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के निरुपण करने के बाद तेरह अन्य प्रयोजन भी बताये हैं। ये सभी प्रयोजन व्याकरणशास्त्र की उपयोगिता को सिद्ध करते हैं। वर्तमानकाल में भी व्याकरण की उपयोगिता कम नहीं है।

शाकटायन के अनुसार व्याकरणशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा ने बृहस्पति को दिया था, तदनन्तर बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को उपदेश दिया। तैत्तिरीय संहिता में इस विषय में सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। गोपथ ब्राह्मण में व्याकरण का स्पष्ट निर्देश किया गया है। गोपथब्राह्मण में व्याकरण शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि गोपथ ब्राह्मण की रचना के बहुत पहले व्याकरणशास्त्र का उद्गम हो चुका था।

पाणिनीय के पूर्व प्राचीनतम व्याकरण ऐन्द्र व्याकरण था। डा० बर्नेल का कथन है कि ऐन्द्र व्याकरण-शाखा सबसे प्राचीन शाखा थी, पाणिनि ने इससे बहुत कुछ लिया है। पाणिनि के आविर्भाव के पश्चात् संस्कृत व्याकरण का रूप स्थिर हो गया और आज वेदाङ्ग व्याकरण का प्रतिनिधित्व करने वाला एकमात्र ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है अतः इसका नाम 'अष्टाध्यायी' पड़ा। इनके पश्चात् कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना की है। तदनन्तर पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया। ये तीनों पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि मुनित्रय के नाम से विख्यात हैं। इन्होंने सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य की रचना कर संस्कृत व्याकरण को प्रौढ़ता प्रदान की है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अनेक भाष्य, वृत्ति एवं व्याख्यायें लिखी गयी हैं। इनमें वामन जयादित्य की काशिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कालान्तर में भट्टोजिदीक्षित ने प्रक्रियानुसार सिद्धान्तकौमुदी की रचना की है। इसी परम्परा में नागेशभट्ट, कैयट आदि वैयाकरण उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने सिद्धान्त कौमुदी पर व्याख्यायें लिखी हैं।

निरुक्त

वेद के छः अङ्गों में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निरुक्त निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का क्रमबद्ध रूप में संकलन है। यास्क ने निघण्टु पर निरुक्त नामक भाष्य लिखा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि निघण्टु और निरुक्त दोनों का रचयिता यास्क है किन्तु महाभारत में कश्यप को

निघण्टु का रचयिता बताया गया है।[1] निरुक्त के प्रारम्भ में निघण्टु को समाम्नाय कहा है। कहा जाता है कि कृतधर्मा ऋषियों ने बिखरे हुए मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु नामक ग्रन्थ बनाकर अध्ययन-अध्यापन द्वारा इसका विस्तार किया पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में समाम्नात किया गया, किन्तु जब ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदार्थज्ञान में पर्याप्त न हुए, तब निरुक्तादि ग्रन्थों में उन्हें समाम्नात किया गया। निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगमकाण्ड और पञ्चम अध्याय को 'दैवत काण्ड' कहते हैं।

निघण्टु के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया गया है निघण्टु में जिन शब्दों को समाम्नात किया गया है उनका निर्वचन निरुक्त में किया गया है। वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए व्युत्पत्ति का ज्ञान आवश्यक है और वेदमन्त्रों के कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति निरुक्त करता है अतः उनके अर्थज्ञान के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है। सायण ने निरुक्त शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थ के ज्ञान के लिए दूसरे की सहायता के बिना निरपेक्ष रूप से पदों का जहाँ पर कथन है उसे निरुक्त कहते हैं (अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्)। दुर्गाचार्य का कथन है कि अर्थ का ज्ञान कराने के कारण ही यह वेदाङ्गों में प्रधान है। क्योंकि व्याकरण तो शब्दों पर ही विचार करता है और कल्प मन्त्रों का विनियोग बतलाता है किन्तु निरुक्त शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान कराता है। इस प्रकार वेद का अर्थ स्पष्ट करने में निरुक्त आवश्यक है और व्याकरणशास्त्र का पूरक है। ब्राह्मणग्रन्थों में जो अंकुरित हुआ और निदानसूत्रों में पल्लवित हुआ उसे ही यास्काचार्य ने निरुक्त में ग्रथन कर प्रवचन किया है।

यास्क—निरुक्त के रचयिता यास्क हैं। कहा जाता है कि उद्दालक आरुणि एक प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने अश्वपति से तत्त्वज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी। उसका पुत्र श्वेतकेतु था। श्वेत्रकेतु की वंश-परम्परा में महान् वैयाकरण शाकपूणि हुआ। शाकपूणि का उल्लेख यास्क ने निरुक्त में किया है। शाकपूणि के वंश में आसुरि नामक एक विद्वान् हुआ, जिसका शिष्य पञ्चशिख था। यह पञ्चशिख सांख्यदर्शन का महान् आचार्य था। इन्हीं की वंश-परम्परा में यास्क

---

१. वृषो ही भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥
(महाभारत मोक्षधर्मपर्व ३४२।८६-८७)

हुआ। कहा जाता है कि कश्यप ने पहले निघण्टु की रचना की और बाद में यास्क ने उस पर भाष्य लिखा। निघण्टु के भाष्यकार स्कन्दस्वामी और देवराज यज्वा हुए। देवराज यज्वा के द्वारा लिखा गया भाष्य विशेष महत्त्व का है। देवराज यज्वा का समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। यास्क के निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य हुए। दुर्गाचार्य का समय षष्ठ शताब्दी है। अनेक प्रमाणों के आधार पर यास्क का समय ७०० ई० पू० के आस-पास माना जाता है।

निरुक्त एक प्रकार से निघण्टु का भाष्य है और निघण्टु वैदिक शब्दकोश के नाम से प्रसिद्ध है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्‌घात में निघण्टु को भी निरुक्त कहा है किन्तु निरुक्त निघण्टु से अलग है। निरुक्त एक वेदाङ्ग है और निघण्टु का व्याख्या ग्रन्थ। निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह है और निरुक्त में उनकी व्याख्या। निघण्टु वैदिक शब्दकोष है और निरुक्त भाष्य। वेद का अर्थ समझने के लिए निरुक्त सर्वाधिक सहायक ग्रन्थ है और निरुक्त को समझने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। जिसे व्याकरणशास्त्र का ज्ञान नहीं है वह निरुक्त का ज्ञाता नहीं हो सकता। इसीलिए यास्क ने स्वयं कहा है कि अवैयाकरण के लिए निरुक्त नहीं है (नावैयाकरणाय)। इस प्रकार निरुक्त वेदों के कठिन शब्दों की व्याख्या करने वाला शास्त्र है। यास्क ने तो इसे व्याकरणशास्त्र का पूरक माना है (तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्)। निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय हैं—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धात्वर्थ का अतिशय योग ये निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय हैं। ये ही पाँच विषय व्याकरण में भी हैं किन्तु निरुक्त व्याकरण का ग्रन्थ नहीं है बल्कि व्याकरणशास्त्र का पूरक कहा जाता है। निरुक्त वैदिक शब्दों का निर्वचन करता है। शब्दों का निर्वचन ही इसका प्रधान विषय है। यास्क के अनुसार सभी शब्द किसी न किसी धातु से बने हैं अतः सभी शब्द धातुज हैं। वैयाकरण शाकटायन का भी यही मत है कि सभी प्रातिपादिक शब्द धातुज हैं। इस प्रकार भाषा का मूल धातु है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यास्क ने किया है जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें बारह अध्याय हैं और अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं। इस प्रकार निरुक्त में कुल चौदह अध्याय हैं। निरुक्त के प्रथम काण्ड को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। इस काण्ड में

तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में व्याकरण और निरुक्त के सम्बन्धों पर विचार किया गया है। द्वितीय और तृतीय अध्यायों में पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या है। यास्क के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार पदजात हैं। इनमें नाम और आख्यात बिना किसी सहायता के स्वतन्त्र रूप से अर्थ को प्रकट करते हैं तथा उपसर्ग और निपात दूसरे शब्द की सहायता से अर्थ को प्रकट करते हैं। नाम में सत्त्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है और आख्यात भाव प्रधान होते हैं। भाव शब्द का निर्वचन है 'भवतीति भावः'। यास्क ने भाव-विकार छः बताये, हैं—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति। निपात और उपसर्ग ऊँचे और नीचे अर्थ में उपमा और पादपूर्त्ति में प्रयुक्त होते हैं।

द्वितीय काण्ड को नैगमकाण्ड कहते हैं। इसे ऐकपदिक भी कहते हैं। नैगम-काण्ड में एकपदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। जैसे पिता शब्द अनवगत संस्कार है। इसका अर्थ है पाता, पालयिता (द्यौर्मे पिता)। इस प्रकार इस काण्ड में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द तथा अनवगत संस्कार शब्दों का निर्देश किया गया है। जैसे पृथ्वी अर्थ में गौ आदि अनेक शब्द आये हैं और पृथ्वी, रश्मि, इन्द्रिय, गौ आदि अनेक अर्थों में गो शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार 'वृक' शब्द भी अनवगत और अनेकार्थक है। वृक का अर्थ चन्द्रमा भी है और सूर्य को भी वृक कहा गया है।

निरुक्त के तृतीय काण्ड को 'दैवतकाण्ड' कहते हैं। दैवतकाण्ड में देवताओं की प्रधानतया स्तुति की गयी है (तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम्)। देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है—नाम, रूप, कर्म, और बन्धु। स्तुति के मन्त्र तीन प्रकार के हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। यास्क ने निरुक्त में तीन प्रकार के देवता बताये हैं—पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र या वायु और द्युस्थानीय देवता आदित्य (तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्त-रिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः)। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में अग्निस्तुति तथा जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय के योग का ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसे मन्त्र निर्दिष्ट हैं। अन्त में ब्रह्म की स्तुति है। ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्म करना श्रेयस्कर है। उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार निरुक्त में विविध प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति बतायी गयी है और प्रत्येक नाम शब्द का सम्बन्ध किसी न किसी धातु से जोड़ा गया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका अलग महत्त्व है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है।

छन्दःशास्त्र

वेद के छः अङ्गों में छन्द को वेद का पाद कहा गया है (छन्दः पादौ तु वेदस्य)[1]। अर्थात् वेद में छन्दःशास्त्र का वही स्थान है जो शरीर में पैरों का। जिस प्रकार पैर के बिना मनुष्य चलने में असमर्थ होता है उसी प्रकार छन्दोज्ञान के बिना वेद पंगु है। भाव यह है कि छन्दों के सम्यक् ज्ञान के बिना वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। यास्क ने छन्दः शब्द की व्युत्पत्ति छद् (छदि) धातु से बतायी है जिसका अर्थ होता है आच्छादित करना। आच्छादित करने के कारण ही इसे छन्द कहते हैं (छन्दांसि छादनात्)।[2] तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि 'छन्दों से अपने शरीर को आच्छादित करके देवता अग्नि के पास गये, अतः इन्हें छन्द कहते हैं।"[3] निघण्टु में बताया गया कि 'छद्' धातु का अर्थ स्तुति करना, पूजा करना और प्रसन्न करना है। यतः छन्दों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उन्हें प्रसन्न किया जाता है अतः इन्हें छन्द कहते हैं।[4] वैदिक छन्दों की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें अक्षरों गणना होती है, गुरु-लघु के क्रम पर कोई विचार नहीं होता है। अतएव कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण किया है—जो अक्षरों का परिमाण (संख्या) है वह छन्द है (यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः)। अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी में अक्षर-संख्या के अवच्छेदक को छन्दः कहा है (छन्दोऽक्षर-संख्यावच्छेदकमुच्यते)। इसी प्रकार वैदिक छन्दों में लौकिक छन्दों की तरह पाद-संख्या भी नियत नहीं है। छन्दःशास्त्र में निश्चित अक्षरों के समूह को 'पाद' कहते हैं। वैदिक छन्दों में पाद-संख्या नियत नहीं है। कुछ छन्द एक पाद के होते हैं, कुछ दो पाद और कुछ तीन पाद के होते हैं, कुछ छन्दों में चार पाद होते हैं। वेद में कुछ छन्द ऐसे हैं जो केवल अक्षर-संख्या पर आधारित है जहाँ पाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वैदिक छन्दों में गुरु और लघु पर विचार नहीं किया जाता है और न उनकी संख्या पर ही विचार किया जाता है। एक या एकाधिक अक्षरों का न्यूनाधिक्य होने पर भी छन्द परिवर्तित नहीं होता है। हाँ उनकी संज्ञा परिवर्तित हो जाती है। जैसे एक अक्षर कम होने

---

१. पाणिनीय शिक्षा ४

२. निरुक्त ७।३

३. ते छन्दोभिरात्मानां छादयित्वोपयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।
(तैत्तिरीय संहिता ५।६।६।१)

४. निघण्टु ३।४

पर उसे 'निचृत्' कहते हैं। अर्थात् जब किसी छन्द में उस छन्द के नियताक्षर में एक कम होता है तो उस छन्द के नाम के साथ 'निचृत् का प्रयोग होता है, जैसे गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है यदि उसमें तेइस अक्षर हो तो उसे 'निचृत् गायत्री' कहेंगे। इसी प्रकार यदि किसी छन्द में उसके नियताक्षरों से एक संख्या अधिक हो जाय तो उसे 'भूरिक्' कहते हैं। जैसे गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है यदि उसमें एक अक्षर अधिक होकर पचीस अक्षर हो जाते हैं तो उसे 'भूरिक् गायत्री' कहेंगे। इसी प्रकार दो अक्षर कम होने पर उस छन्द को विराट्' कहते हैं। जैसे गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं। किन्तु गायत्री छन्द बाइस अक्षरों का हो तो उसे 'विराट् गायत्री' कहेंगे। इसी प्रकार दो अक्षर अधिक होने पर उसे 'स्वराट्'कहते हैं। जैसे गायत्री छन्द में यदि छब्बीस अक्षर हों तो उसे 'स्वराट् गायत्री' कहेंगे। इसी प्रकार अन्य छन्दों के सम्वन्ध में भी समझना चाहिए।

छन्दःशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य पिङ्गल हैं। षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थ-दीपिका में छन्दःशास्त्र के रचयिता पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बताया है। इनके द्वारा रचित छन्दःशास्त्र वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इस ग्रन्थ में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम से चतुर्थ अध्याय के सातवें सूत्र तक वैदिक छन्दों का प्रतिपादन है। तत्पश्चात् लौकिक छन्दों का वर्णन है। हलायुध ने इसके ऊपर 'मृतसंजीवनी' नामक टीका लिखी है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि वैदिक छन्दों में केवल अक्षरों की गणना होती है, गुरु, लघु और मात्राओं पर विचार नहीं किया जाता है। अतः वैदिक छन्द अक्षर-छन्द कहे जाते हैं। वैदिक छन्द मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) केवल अक्षरगणनानुसारी तथा (२) पादाक्षरगणनानुसारी। प्रथम प्रकार के छन्दों में केवल अक्षरों की गणना की जाती है और द्वितीय प्रकार के छन्दों में पाद में स्थित अक्षरों की गणना की जाती है। वैदिक छन्दों की कुल संख्या छब्बीस है। इनमें प्रारम्भ के पांच छन्द वेद में प्रयुक्त नहीं हैं। शेष इक्कीस छन्दों को तीन सप्तकों में विभाजित करते हैं। प्रथम सप्तक में गायत्री से लेकर जगती तक सात छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। द्वितीय सप्तक में अतिजगती से लेकर अतिधृती तक सात छन्द हैं—अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति। ये छन्द एक ही प्रकार के होते हैं इनमें भेदोपभेद नहीं होता। तृतीय वर्ग में कृति से लेकर उत्कृति तक सात छन्द हैं—कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति।

प्रथम सप्तक में गायत्री छन्द सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस छन्द में चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री छन्द द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा और पञ्चपदा भेद से चार प्रकार का होता है। किन्तु त्रिपदा गायत्री की अधिकता है। गायत्री में एक तथा दो अक्षरों की न्यूनता तथा अधिकता भी पायी जाती है। गायत्री छन्द में एक अक्षर कम होने पर 'निचृत् गायत्री' और दो अक्षर कम होने पर 'विराट् गायत्री' कहते हैं। इसी प्रकार एक अक्षर अधिक होने पर 'भूरिक् गायत्री' और दो अक्षर अधिक होने पर 'स्वराट् गायत्री' कहते हैं। गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में एक अक्षर कम होने पर 'पादनिचृत्' गायत्री कहते हैं।

उष्णिक् छन्द में प्राय तीन पाद और अठाइस अक्षर होते हैं। उष्णिक् छन्द के प्रथम दो पादों ने आठ-आठ अक्षर और तृतीय पाद में बारह अक्षर होते है। उष्णिक् शब्द उष्णीष (पगड़ी) शब्द के आधार पर बना है। जिस प्रकार पगड़ी शरीर के सबसे उच्च भाग शिर पर स्थित रहती है उसी प्रकार उष्णिक् छन्द के अन्तिम चरण में चार अक्षर अधिक होते हैं और बढ़ा हुआ भाग स्पष्ट दिखायी देता है इसीलिए इसे 'उष्णिक्' कहते हैं। उष्णिक् छन्द के यदि प्रथम चरण में बारह अक्षर और अन्तिम दोनों चरणों में आठ-आठ अक्षर होते है तो उसे 'पुर उष्णिक्' कहते हैं। इसी प्रकार प्रथम और तृतीय चरण में आठ-आठ अक्षर तथा मध्य चरण में बारह अक्षर होने पर 'ककुब् उष्णिक्' कहते हैं। इसके अतिरिक्त चतुष्पदा उष्णिक् छन्द भी होता है। अनुष्टुप् छन्द में चार पाद और बत्तीस अक्षर होते हैं। किन्तु वैदिक छन्दों में त्रिपदा अनुष्टुप् और षट्पदा अनुष्टुप् भी होता है। बृहती छन्द में छत्तीस अक्षर होते हैं। बृहती छन्द दो प्रकार का होता है—त्रिपदा बृहती और चतुष्पदा बृहती छन्द। त्रिपदा बृहती में बाहर-बारह अक्षर के तीन पाद और चतुष्पदा बृहती में प्रारम्भ में तीन पादों में आठ-आठ अक्षर और अन्तिम पाद में बारह अक्षर होते हैं। पंक्ति छन्द में चालीस अक्षर होते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है—चतुष्पदा पंक्ति और पञ्चपदा पंक्ति। किन्तु पञ्चपदा पंक्ति छन्दों की संख्या बहुत कम है। त्रिष्टुप् छन्द में चौवालीस अक्षर होते हैं और यह भी चतुष्पदा त्रिष्टुप् तथा पञ्चपदा त्रिष्टुप भेद से दो प्रकार का होता है। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छन्द है। ऋग्वेद का लगभग २/५ भाग इसी छन्द में निर्मित है। जगती छन्द में अड़तालीस अक्षर होते हैं। यह चतुष्पदा, पञ्चपदा और षट्पदा भेद से तीन प्रकार का होता है। चतुष्पदा बृहती में प्रत्येक पाद में बारह-बारह अक्षर होते हैं। पञ्चपदा जगती में तीन पाद आठ-आठ अक्षर के और दो पाद बारह-बारह

अक्षर के होते हैं। षट्पदा जगती को 'महापंक्ति जगती' भी कहते हैं। इसमें आठ-आठ अक्षरों के छः पाद होते हैं।

द्वितीय सप्तक में अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ये सात छन्द आते हैं। इनमें क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है। जैसे अतिजगती छन्द में बावन अक्षर, शक्वरी में छप्पन, अतिशक्वरी में साठ, अष्टि में चौसठ, अत्यष्टि में अड़सठ, धृति में बहत्तर और अतिधृति में छिहत्तर अक्षर होते हैं।

तृतीय सप्तक में कृति, प्रकृति आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति ये सात छन्द आते हैं। इनमें भी क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है। जैसे, कृति में अस्सी अक्षर, प्रकृति में चौरासी अक्षर, आकृति में अठासी अक्षर, विकृति में बानवे अक्षर, संकृति में छानबे अक्षर, अधिकृति में एक सौ और उत्कृति में एक सौ चार अक्षर होते हैं।

इस प्रकार वैदिक छन्द कुल छब्बीस हैं। इनमें प्रारम्भ के पांच तथा अन्तिम सप्तक के सात छन्द वेद में प्रयुक्त नहीं हैं। प्रारम्भ से पांच छन्द गायत्री पूर्व पञ्चक से नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं—मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा और समा छन्द। 'मा' छन्द में चार अक्षर, प्रमा में आठ अक्षर, प्रतिमा में बारह, उपमा में सोलह और समा में बीस अक्षर होते हैं। भरत नाट्यशास्त्र में इन्हें क्रमशः उक्त, प्रत्युक्त, मध्यम, प्रतिष्ठा और सुप्रतिष्ठा नाम से अभिहित किया गया है। निम्नलिखित तालिका द्वारा इन्हें भली भाँति समझा जा सकता है—

क्रम संख्या	छन्द का नाम	अक्षरसख्या	क्रमसंख्या	छन्द का नाम	अक्षरसंख्या
१	मा	४	१४	शक्वरी	५६
२	प्रमा	८	१५	अतिशक्वरी	६०
३	प्रतिमा	१२	१६	अष्टि	६४
४	उपमा	१६	१७	अत्यष्टि	६८
५	समा	२०	१८	धृति	७२
६	गायत्री	२४	१९	अतिधृति	७६
७	उष्णिक्	२८	२०	कृति	८०
८	अनुष्टुप्	३२	२१	प्रकृति	८४
९	बृहती	३६	२२	आकृति	८८
१०	पंक्ति	४०	२३	विकृति	९२
११	त्रिष्टुप्	४४	२४	संकृति	९६
१२	जगती	४८	२५	अभिकृति	१००
१३	अतिजगती	५२	२६	उत्कृति	१०४

किन्तु इनमें प्रथम सप्तक के सात छन्द ही मुख्य हैं और इन सात छन्दों में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये तीन छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हैं। इनमें भी त्रिष्टुप् का स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेद का लगभग २/५ भाग त्रिष्टुप् छन्द में ही निबद्ध है। त्रिष्टुप् के बाद गायत्री छन्द का स्थान है। इस छन्द में ऋग्वेद का १/४ भाग उपनिबद्ध है और जगती छन्द का तृतीय स्थान है। इसमें १३४६ मन्त्र निबद्ध हैं। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्रों के छन्दों की संख्या इस प्रकार है—त्रिष्टुप् ४२५३, गायत्री २४५०, जगती १३४६, अनुष्टुप् ८५५, उष्णिक् ३४१, बृहती ३७१, पंक्ति ४९८।

ज्योतिष

वेद के छः अङ्गों में ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि ने ज्योतिष को वेदपुरुष का नेत्र कहा है (ज्योतिषामयनं चक्षुः)। यज्ञों के विधान में विशिष्ट समय का ज्ञान अपेक्षित है और यज्ञ-यागों के लिए उपयुक्त समय वर्ष, मास, ऋतु, तिथि, नक्षत्र, पक्ष, दिन, रात आदि का मान ज्योतिष के द्वारा ही संभव है अतः उक्त नियमों के निर्वाह के लिए ज्योतिष का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वेदाङ्ग ज्योतिष में ज्योतिष को वेद का सर्वोत्तम अङ्ग माना गया है।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥[1]

'वेदाङ्ग ज्योतिष' भारतीय ज्योतिषशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके रचयिता लगध नामक ऋषि थे।[2] इसके दो पाठ मिलते हैं—एक 'ऋग्वेद ज्योतिष' जिसमें छत्तीस श्लोक हैं और दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष, जिसमें चौवालिस श्लोक मिलते हैं। दोनों ग्रन्थों के अधिकांश श्लोक मिलते-जुलते हैं, पर उनके क्रम में अन्तर परिलक्षित होता है। इस पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं किन्तु सभी व्याख्याकारों में मतैक्य नहीं है। शङ्करबालकृष्ण दीक्षित अनेक प्रमाणों के आधार पर इसका समय १४०० ई० पूर्व मानते हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष का रचनाकाल ह्विटनी १३३८ ई० पू०, कालब्रुक १४१० ई० पू०, वेबर ५०० ई० पूर्व और मैक्समूलर ३०० ई० पूर्व मानते हैं किन्तु अनुसन्धान करने पर अनेक प्रमाणों के आधार पर इसका समय १४०० ई० पूर्व के आस-

---

१. वेदाङ्ग ज्योतिष ६

२. प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः॥
(आर्चज्योतिष, २)

पास ठहरता है। वेदाङ्ग ज्योतिष पर शोभाकर का एक भाष्य प्रकाशित है तथा सुधाकर द्विवेदी ने भी वेदाङ्गज्योतिष पर भाष्य लिखा है। भारतीय ज्योतिष का मूल यही वेदाङ्गज्योतिष माना जाता है। इसका विषय इतना दुरूह है कि कोई विद्वान् ज्योतिषी ही इसे समझ सकता है।

वेदाङ्गज्योतिष के प्रथम आचार्य ब्रह्मा हैं। उन्होंने अपने पुत्र वसिष्ठ को ज्योतिष विद्या सिखायी। विष्णु ने उस ज्ञान को सूर्य को सिखाया, जो 'सूर्य-सिद्धान्त' कहा जाता है। उसे सूर्य ने मय को पढ़ाया जो 'वासिष्ठ सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ज्योतिषशास्त्र का प्राचीन रूप वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। संहिताकाल में ज्योतिष का अस्तित्व विद्यमान था। वेदमन्त्रों एवं वैदिक-संहिताओं में उसके सूत्र बिखरे हुए मिलते हैं, वेदों में सूर्य, चन्द्र और कुछ नक्षत्रों के लिए स्तुतिपरक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में बारह राशियों के नाम आये हैं। तैत्तिरीयसंहिता में बारह मास, छः ऋतु एवं सभी नक्षत्रों के नाम गिनाये गये हैं। अथर्ववेद में अठाइस नक्षत्रों की गणना है ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में मृगाशिरा नक्षत्र पर वसन्तसम्पात बताया गया है और कुछ मन्त्रों में पुनर्वसु पर वसन्त-सम्पात होने का उल्लेख है।[1] ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में नक्षत्र शब्द ताराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, वहाँ बताया गया है कि सूर्य के आगमन पर तारे और रात चोर की तरह भागते हैं।[2] अथर्ववेद में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[3] अथर्ववेद के एक प्रसङ्ग में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि उस समय नक्षत्रों का अर्थ तारा-समूह लिया जाता था।[4] तैत्तिरीय संहिता में सब नक्षत्रों के नाम परिगणित हैं और वहाँ पर नक्षत्र शब्द चन्द्रमार्ग में पड़ने वाले तारा समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5]

ब्राह्मणकाल में कृत्तिका नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना की जाती थी और कृत्तिका के प्रथम चरण में ही बसन्त-सम्पात होता था। उन दिनों कृत्तिका नक्षत्र में दिन-रात बराबर होता था। शतपथब्राह्मण में उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन बारह मास को दृष्टि में रखकर किया गया है।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण में

१. ऋग्वेद १।३३।१२, १।८०।७, १०।८६।५
२. वही १।५०।२
३. अथर्ववेद १३।२।१७, २०।४७।१४
४. वही १९।७।१-५
५. तैत्तिरीय संहिता ४।४।१०
६. शतपथ ब्राह्मण २।१।३

प्रजापति को नक्षत्र का प्रतीक मानकर चित्रा, हस्त, स्वाती आदि नक्षत्रों को उसके विभिन्न अङ्गों के रूप में माना गया है। वहाँ पर सवत्सर को एक पक्षी के रूप में कल्पित कर उत्तरायण और दक्षिणायन उसके दो पंख बताये गये हैं।[1]

कल्पसूत्रों में नक्षत्रों एवं ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षि आदि ताराओं के नाम आये हैं। गृह्यसूत्रों में तो 'उत्तरप्रोष्ठपद, फाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों में खेत जोतना चाहिये' इस प्रकार का उल्लेख है। पारस्करगृह्यसूत्र में विवाह के सम्बन्ध में, खेत जोतने के सम्बन्ध में तथा नक्षत्रों के शुभाशुभ फल का निर्देश है। कल्पसूत्र में विवाह प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय विवाह के अवसर पर वर-वधू को ध्रुवदर्शन कराने की प्रथा थी। ध्रुव एक चमकीला तारा है जो पहले अधिक चमकीला और स्थिर था। वेदाङ्ग निरुक्त में सप्तर्षियों का उल्लेख तथा उत्तरायण-दक्षिणायन, दिन-रात और शुक्ल एवं कृष्णपक्ष की चर्चाएँ हैं। अष्टाध्यायी में भी वर्षनाम हायन, मासों के चैत्रादि नाम, नक्षत्र नाम एवं ग्रह शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार भारतीय-ज्योतिष की परम्परा वैदिक युग से प्रारम्भ होकर आज तक अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है।

कल्पसूत्र

वैदिक वाङ्मय के विकास में कल्पसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पसूत्र शब्द 'कल्प' और 'सूत्र' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। 'कल्प' शब्द का अर्थ है—वेद-विहित कर्मों का क्रमपूर्वक कल्पना करने वाला शास्त्र (कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पना-शास्त्रम्)। विवाह-उपनयनादि संस्कारों एवं यज्ञ-यागादि विधियों को क्रमबद्ध रूप में वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों को 'कल्प' कहते हैं। 'सूत्र' शब्द का अर्थ है 'संक्षेप' अर्थात् जहाँ थोड़े शब्दों में विशेष अर्थ को कहा जाय उसे 'सूत्र' कहते हैं (अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वं सूत्रत्वम्)। इस प्रकार सूत्रों में किसी भी विषय को संक्षेप में कहा जाता है। इस प्रकार कल्पसूत्र का अर्थ होता है—यज्ञ-यागादि के नियमों का संक्षेप में (सूत्ररूप में) कहना। कल्पसूत्र में सम्पूर्ण धार्मिक नियमों तथा यज्ञविधान के नियमों का संक्षेप तथा व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन हुआ है। कल्पसूत्रों के मुख्यत: चार प्रकार होते हैं-श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र।

श्रौतसूत्र

वैदिक संहिताओं में वर्णित यज्ञ-यागादि विधानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने वाले सूत्रों को श्रौतसूत्र कहते हैं। इनमें ब्राह्मणों में प्रतिपादित

१. तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।२, १।२।३

कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विधानों का सार सूत्ररूप में संकलित है। श्रौतसूत्रों में श्रुति प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण चौदह यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त होता है। ये भारतीय यज्ञीय प्रणाली के विषय में प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करते हैं। चौदह श्रौतयज्ञ हैं—सात हविर्यज्ञ और सात सोमयाग। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य. निरूढ़पशुबन्ध और सौत्रामणि ये सात हविर्याग कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम के सात सोमयाग कहलाते हैं।

हविर्यागों में घृत, पायस, दधि, पुरोडाश आदि हविष्यान्नों की आहुतियाँ दी जाती हैं। हविर्यागों में अग्निहोत्र प्रमुख है। अग्निहोत्र में प्रातः तथा सायं त्रेता अग्नि में दो-दो आहुतियाँ दी जाती हैं।[1] दर्शपूर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता है। चातुर्मास्य यज्ञ चार-चार महीने पर किया जाता है। इसमें चार पर्व होते हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। आग्रहायण प्रतिवर्ष वसन्त और शरद्ऋतु में नये अन्न से किया जाता है। निरूढ़पशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में अथवा दक्षिणायन या उत्तरायण में संक्रान्ति के दिन किया जाता है। इसे पशुयाग भी कहते हैं। सौत्रामणी एक पशुयाग है जो इन्द्र के निमित्त किया जाता है।

सोमयागों में प्रमुख याग अग्निष्टोम है। इसमें सोलह ऋत्विज होते हैं। यह 'एकाह' यज्ञ है। इसमें प्रातः, सायं और मध्याह्न में सोमरस निकाला जाता है। जब सोमयाग में सोलहों ऋत्विज आहिताग्नि और बिना दक्षिणा वाले होते हैं। तो उसे सत्र कहते हैं। सत्र में बारह से लेकर एक हजार तक सुत्याएँ होती हैं। प्रातः सायं, मध्याह्न तीनों कालों में सोमरस निकालकर जो हवन किया जाता हैं उसे 'सुत्या' कहते हैं। जिस यज्ञ में दो से लेकर ग्यारह सुत्याएँ होती हैं उसे 'अहीन' याग कहते हैं। सोमयाग की एक पवित्रतम विधि अग्निचयन है। अग्निचयन में वेदी निर्माण के लिए इष्टिकाओं का चयन किया जाता है। कुल १०८०० इष्टिकाएँ अपेक्षित होती हैं। श्रौतयाग के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यह कभी भी सामूहिक रूप में नहीं किया जाता बल्कि एक व्यक्ति के कल्याण के लिए किया जाता था।

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो श्रौतसूत्र हैं—आश्वलायन और शांखायन। आश्वलायन श्रौतसूत्र के रचयिता आश्वलायन ऋषि हैं। आश्वलायन शौनक ऋषि के शिष्य थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दो अध्यायों के रचयिता आश्वलायन और शौनक माने जाते हैं। इसमें कुल बारह अध्याय हैं। किन्तु इनमें केवल छः अध्यायों का विषय ऐतरेय ब्राह्मण से संगृहीत है। इसमें वैदिक यागों के

१. शतपथ ब्राह्मण २।३।३।९

अनुष्ठान प्रकार एवं विधान, आदि का विशेष रूप से वर्णन है। शांखायन श्रौतसूत्र शांखायन ब्राह्मण से सम्बद्ध है। इसमें अठारह अध्याय हैं और अन्तिम दो अध्याय इसमे बाद में जोड़े गये हैं, जो कौषीतकि आरण्यक के दो अध्यायों के समान है। इसमें दर्शपौर्णमास आदि वैदिक यागों का विवरण है। इसके साथ वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि यज्ञों की विस्तृत विवृत्ति भी है।

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध कात्यायन श्रौत्रसूत्र है। इसके रचयिता कात्यायन हैं। इसमें कुछ छब्बीस अध्याय हैं। इसकी प्रणाली शतपथ ब्राह्मण में निर्दिष्ट प्रयोगक्रम के अनुसार है किन्तु तीन अध्याय (२२-२४) सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण से सम्बद्ध हैं। इसके प्रथम अध्याय में दस कण्डिकाएँ हैं जिसमें याग-सम्बन्धी विविध विषयों का विवेचन है। द्वितीय अध्याय तथा तृतीय अध्याय में आठ-आठ कण्डिकाएँ हैं जिनमें अग्न्युपस्थापन, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ दाक्षायण, आग्रायण आदि विषय वर्णित हैं। पञ्चम अध्याय के तेरह कण्डिकाओं में चातुर्मास्य और मित्रविन्द इष्टि का विधिपूर्वक वर्णन है। षष्ठ अध्याय के दस कण्डिकाओं में निरूढ़पशुबन्ध का विस्तृत विवेचन है। सप्तम से दशम अध्याय तक अग्निष्टोम याग का विस्तृत विवेचन है। एकादश अध्याय में ब्रह्मा नामक ऋत्विज के कार्य एवं उपयोग वर्णित हैं। द्वादश अध्याय में द्वादशाह, त्रयोदश में गवामयन, चतुर्दश में वाजपेय, पञ्चदश में राजसूय, षोडश से अष्टादश तक अग्निचयन, एकोनविंश में सौत्रामणी तथा विंशति अध्याय में अश्वमेध, एकविंश में पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विधिवत् विवेचन है। बाइसवें से चौबीसवें अध्याय तक एकाह, अहीन और सत्र से सम्बद्ध विषय वर्णित है। पचीसवें में प्रायश्चित्त तथा छब्बीसवें में प्रवर्ग्य याग का विवरण वर्णित है। इस पर कर्काचार्य का विस्तृत भाष्य है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध छः श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं। बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज और मानव श्रौतसूत्र। इसमें से चार तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आपस्तम्बशाखा से सम्बन्धित है और मानव श्रौतसूत्र मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है इसमें बौधायन श्रौत-सूत्र का सम्पादन कैलेण्ड ने किया है। इसमें कुल चौदह भाग हैं। आपस्तम्ब कल्पसूत्र तीस प्रश्नों में विभक्त है। प्रथम चौबीस प्रश्न श्रौतसूत्र है। पचीसवाँ प्रश्न परिभाषा है। छब्बीसवाँ और सत्ताइसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। अठ्ठाइसवाँ और उन्तीसवाँ प्रश्न धर्मसूत्र है और तीसवाँ प्रश्न शुल्बसूत्र है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण से सम्बद्ध है। गार्वे ने इसका दो भागों में सम्पादन किया है। और कैलेण्ड ने जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। इस प्रकार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

में चौबीस प्रश्न या अध्याय हैं। बौधायन और आपस्तम्ब दोनों का वर्ण्य विषय एक है किन्तु दोनों की शैली में भिन्नता है। बौधायन सूत्र ब्राह्मणों की शैलो में निबद्ध है और आपस्तम्ब में छोटे-छोटे सूत्र अव्यवस्थित रूप में हैं।

हिरण्यकेशी आपस्तम्ब की एक प्रशाखा है। इसे सत्याषाढ़ श्रौत्रसूत्र भी कहते हैं। इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम, पूना से छः भागों में हुआ है। कल्पसूत्र के अठारह अध्याय हैं और नानाविध यज्ञीय विधानों से संवलित है। उसकी शैली सुव्यवस्थित नहीं है। वैखानस श्रौतसूत्र तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। कल्पसूत्र के बत्तीस अध्यायों में से इक्कीस अध्याय श्रौतसूत्र हैं। यह गद्य में है। भारद्वाज श्रौतसूत्र तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। यह बौधायन श्रौतसूत्र से बाद की रचना है। इसमें पन्द्रह प्रश्न या अध्याय हैं जिसमें दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, आग्रयण, निरूढ़पशुबन्ध, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि विविध यागों का वर्णन है। मानव श्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसमें पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में आठ खण्ड हैं जिनमें दर्शपौर्णमास, पिण्डपितृयज्ञ, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, अग्न्युपस्थान, पुनराधान, चातुर्मास्य, पितृयज्ञ, पशुबन्ध, पञ्चसांवत्सरिक आदि विषयों का प्रतिपादन है। द्वितीय अध्याय के पाँच खण्डों में अग्निष्टोम का विशद वर्णन है। तृतीय अध्याय के आठ खण्डों में प्रायश्चित, चतुर्थ अध्याय के आठ खण्डों में प्रवर्ग्य और पञ्चम अध्याय के दो खण्डों में इष्टि का वर्णन है। इसकी शैली वर्णनात्मक है और कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मणभाग के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें केवल प्रयोग-विधि का ही वर्णन है, आख्यानादि का विवरण नहीं है।

सामवेद से सम्बद्ध चार श्रौतसूत्र हैं—आर्षेयकल्पसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र और द्राह्यायण श्रौतसूत्र तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र। इनमें ऋ आर्षेयकल्प सूत्र सबसे प्राचीन और पंचविंश ब्राह्मण से सम्बद्ध है। मशक ऋषि द्वारा प्रणीत होने से इसका दूसरा नाम 'मशकसूत्र' भी है। इसमें पंचविंश ब्राह्मण के अनुसार सोमयाग से सम्बद्ध स्तुतियों का विवरण है। लाट्यायन श्रौतसूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण से सम्बद्ध है। इसमें मशक ऋषि का नाम आया है। इस पर सायण तथा अग्निस्वामी का भाष्य उपलब्ध है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। इसका अपरनाम 'वसिष्ठसूत्र' भी है। लाट्यायन श्रौतसूत्र के साथ इसकी बहुत कुछ समानताएँ हैं। इनके अतिरिक्त सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध एक जैमिनीय श्रौतसूत्र भी है। इसमें छब्बीस कण्डिकाएँ हैं और अग्निहोत्र, अग्न्याधेय का वर्णन है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्र वैतानसूत्र है। यह अनेक अंशों में गोपथ ब्राह्मण का अनुसरण करता है और कात्यायन श्रौतसूत्र से भी इसका सम्बन्ध है। यह एक परवर्ती रचना है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसका सम्पादन एवं प्रकाशन जर्मन अनुवाद के साथ कैलेण्ड ने किया है।

गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्र गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बद्ध धार्मिक अनुष्ठानों, आचार-विचारों एवं गृह्य यज्ञों का विवेचन करते हैं। इनमें गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त और मृत्यु के बाद भी किये जाने वाले संस्कारों तथा अनुष्ठान-विधियों का विवरण प्राप्त है। गृह्यसूत्रों में ४२ संस्कारों का वर्णन है किन्तु गौतम चालीस ४० संस्कार ही मानते हैं। इनमें गर्भाधान से विवाह पर्यन्त अठारह संस्कार कायिक संस्कार कहलाते हैं। शेष बाईस संस्कार यज्ञपरक हैं। इनमें सात पाकयज्ञ और पाँच दैनिक यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ) भी सम्मिलित हैं। सात पाकयज्ञों में दर्शपूर्णमास यज्ञ, जो अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन किया जाता है, प्रमुख है। अष्टकायज्ञ का बहुत कुछ रूपान्तरण हो चुका है। श्रावणीयज्ञ आज भी प्रचलित है। आश्वयुजी यज्ञ आश्विनमास में किया जाता है। आग्राह्यणी यज्ञ अगहन में नवीन अन्न उत्पन्न होने पर नवान्न के रूप में किया जाता है। चैत्री यज्ञ चैत्र मास में नवान्न होने पर किया जाता है। अन्तिम पितृ-श्राद्ध है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, आश्वयुजीयज्ञ, आग्रायणी, चैत्रीयज्ञ और पितृश्राद्ध ये सात पाकयज्ञ या गृह्ययज्ञ हैं।

पञ्च महायज्ञों के नाम हैं—ब्रह्मज्ञान, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। ब्रह्मयज्ञ को ऋषियज्ञ भी कहते हैं। नित्य वेदों का स्वाध्याय या मन्त्रपाठ करना ब्रह्मयज्ञ है। गार्हपत्य अग्नि में देवताओं के निमित्त नित्य किया जाने वाला हवन देवयज्ञ है। पितरों के निमित्त तर्पण एवं श्राद्ध आदि करना पितृयज्ञ है। वलिरूप में अन्न आदि का दान भूतयज्ञ है। स्मृतिकारों ने इसे वलिवैश्वदेव कहा है। अतिथियों की सेवा करना नृयज्ञ या अतिथियज्ञ है। गृहस्थ-जीवन में इन पाँच यज्ञों का सर्वाधिक महत्त्व है।

इनके अतिरिक्त इनमें विविध प्रकार के जादू-टोनों, भूतापसारण रोगों एवं अपशकुनों का उपशमन, गृहनिर्माण, पशुपालन, कृषि-विधान तथा आचार-व्यवहारों का समुचित निरूपण है। इनमें सत् आचरण और सद्गुणों पर ऋषियों ने विशेष जोर दिया है। गौतम ने अन्त्येष्टि को संस्कार नहीं माना है। म[illegible] के बाद मृतक के लिए जो कर्मकाण्ड किया जाता है, उसे अन्त्येष्टि कहते हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो गृह्यसूत्र प्रमुख हैं—आश्वालायन गृह्यसूत्र [illegible] शांखायन गृह्यसूत्र। आश्वालायन गृह्यसूत्र ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध है।

इसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में विवाह, पार्वण, पशुयज्ञ, चैत्ययज्ञ, गर्भाधानादि संस्कारों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृहनिर्माण और गृहप्रवेश का वर्णन है। तृतीय अध्याय में वेदाध्ययन के नियम एवं श्रावणी का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अन्त्येष्टि और श्राद्ध का विवेचन है। इस पर जयन्तस्वामी, देवस्वामी, नारायण एवं हरदत्त की व्याख्या, वृत्ति एवं भाष्य हैं। स्टेन्सलेर ने दो भागों में इसका प्रकाशन किया है।

शाङ्खायन गृह्यसूत्र में छः अध्याय हैं जिनमें चार अध्याय ही मौलिक प्रतीत होते हैं। इसके प्रथम अध्याय में गर्भाधानादि सस्कारों एवं पार्वण का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में उपनयन एवं ब्रह्मचर्य आश्रम का विवरण है। तृतीय में स्नान, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टका का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्ध, श्रावणी, आश्वयुजी और चैत्री का उल्लेख है। पञ्चम और षष्ठ में प्रायश्चित्तों का विवरण है। कौषीतकि शाखा से सम्बद्ध एक कौषीतकि गृह्यसूत्र भी है। इसकी रचना शाम्बव्य ने की थी, इसीलिए इसे शाम्बव्य गृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसमें पाँच अध्याय हैं। इसके विवाह तथा अन्य सस्कारों, वैश्वदेव, श्राद्ध आदि का वर्णन है। कौषीतकि और शांखायन में बहुत कुछ साम्य है। कौषीतकि में पांच अध्याय हैं जबकि शांखायन में छः अध्याय हैं। प्रथम चार अध्यायों का विषयक्रम दोनों में एक-सा है किन्तु अन्तिम अध्याय के विषय नहीं मिलते। कौषीतकि के अन्तिम अध्याय में पितृमेध का वर्णन है जिसका शांखायन गृह्यसूत्र में अभाव है किन्तु शांखायन श्रौतसूत्र में है।

शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। इसे वाजसनेय गृह्यसूत्र अथवा कातीय गृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्न्याधान, विवाह तथा गर्भाधान से लेकर अन्नप्राशन तक संस्कार वर्णित हैं। द्वितीय काण्ड में चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रावणीकर्म का वर्णन है। तृतीय में श्राद्ध तथा प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इस गृह्यसूत्र पर कर्काचार्य, जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथ की व्याख्यायें प्रकाशित हैं। पांचों भाष्यों के साथ इसका एक संस्करण १९१७ ई० में गुजराती प्रेस बम्बई से प्रकाशित है।

कृष्णयजुर्वेद के नौ गृह्यसूत्र हैं—बौधायन गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, वैखानस गृह्यसूत्र बधूलगृह्यसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, वाराहगृह्यसूत्र।

बौधायनगृह्यसूत्र कल्पसूत्र का ही एक भाग है। इसमें चार प्रश्न या अध्याय हैं। इसके रचयिता बौधायन ऋषि थे। यह मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी संस्कृत सीरिज से १९२० ई० में गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ प्रकाशित है।

आपस्तबगृह्यसूत्र के रचयिता आपस्तम्ब ऋषि थे। आपस्तम्ब कल्पसूत्र का छब्बीसवां और सत्ताइसवां (२६-२७) प्रश्न आपस्तम्ब गृह्यसूत्र है। इसमें गृह्य मन्त्रपाठ तथा गृह्य संस्कारों से सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। यह काशी संस्कृत सीरिज से १९२८ ई० में प्रकाशित है। भारद्वज कल्पसूत्र तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। यह जे० डब्लु-सोलोमन के द्वारा प्रकाशित है। इसमें तीन अध्याय हैं। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र को सस्याषाढ़ गृह्यसूत्र भी कहते हैं। हिरण्यकेशी कल्पसूत्र का उन्नीसवां और बीसवां (१९-२०) अध्याय ही हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र है। इसमें गृह्य अनुष्ठानों का वर्णन है। यह मातृदत्त की व्याख्या एवं परिशिष्ट के साथ १८८९ ई० प्रकाशित है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी ओल्डनवर्ग द्वारा प्रकाशित किया गया है। वैखानस गृह्यसूत्र तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। यह परवर्त्तीयुग की रचना है क्योंकि उसमें ऐसे विषयों का समावेश है जो परिशिष्ट के अन्तर्गत आते हैं। डा० कैलेण्ड ने इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। बाधूल गृह्यसूत्र का रचयिता अग्निवेश है अतः इसे अग्निवेश्य गृह्यसूत्र भी कहते हैं। यह कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। अन्य गृह्यसूत्रों से इसका वर्ण्यविषय नितान्त भिन्न है मानवगृह्यसूत्र मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध है। इसमें दो प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण में अनेक कण्डिकाएँ हैं। इसमें विनायक पूजा का विशिष्ट वर्णन है जिसका अन्य गृह्यसूत्रों में उल्लेख नहीं मिलता। अष्टावक्र की वृत्ति के साथ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज से यह प्रकाशित हैं। मानवगृह्यसूत्र से ही मिलता-जुलता काठकगृह्यसूत्र भी। इसका ही अपरनाम 'लौगाक्षि गृह्यसूत्र' है। काठकगृहसूत्र का विष्णुस्मृति से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। देवपालकृत भाष्य के साथ इसका प्रकाशन डा० कैलेण्ड ने १९०८ ई० में किया है। वाराहगृह्यसूत्र मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। यह परवर्त्तीकाल की रचना है। इसका बहुत-सा अंश मानवगृह्यसूत्र तथा काठक गृह्यसूत्र के समान ही है।

सामवेद से सम्बद्ध तीन गृह्यसूत्र हैं—गोभिल गृह्यसूत्र, खादिर गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र। गोभिलगृह्यसूत्र सामवेद की कौथुमशाखा से सम्बद्ध है। इसमें चार प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्णमासादि का वर्णन है। द्वितीय में विवाह तथा गर्भाधानादि संस्कारों का विवेचन है। तृतीय में ब्रह्मचर्य, गोपालन, गोयज्ञ, अश्वयज्ञ, श्रावणी आदि का वर्णन है। चतुर्थ में अष्टका, गृह-

निर्माणादि विधियों का वर्णन है। ओल्डनवर्ग ने इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। खादिरगृह्यसूत्र राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। यह गोभिल गृह्य-सूत्र का ही संक्षिप्त संस्करण प्रतीत होता है। जैमिनीयगृह्यसूत्र जैमिनीयशाखा से सम्बद्ध है। इसमें दो खण्ड हैं। प्रथमखण्ड में चौबीस कण्डिकाएँ हैं और द्वितीय खण्ड में नौ कण्डिकाएँ हैं। इसे डा० कैलेण्ड ने सुबोधिनी टीका और विस्तृत भूमिका के साथ १९२२ ई० में लाहौर से प्रकाशित किया है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध एकमात्र गृह्यसूत्र कौशिक गृह्यसूत्र है। यह शौनक शाखा से सम्बद्ध है। इसमें कुल चौबीस अध्याय हैं। इसमें भारतीय यातुविद्या (जादूगरी) का महत्त्वपूर्ण विवेचन है। इसमें अनेक मन्त्र-तन्त्रों का भी विवेचन है। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का कोई भी कल्पसूत्र उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार कौशिकसूत्र अथर्ववेद का महत्त्वपूर्ण पूरक ग्रन्थ है।

धर्मसूत्र

धर्मसूत्र सामाजिक जीवन के नियमों, रीति-रिवाजों, धार्मिक क्रिया-कलापों, आचार-विचारों एवं राजाओं के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं। भारतीय कानून के ये आदि ग्रन्थ हैं। इनमें वर्णाश्रमधर्म, चारों वर्णों के आचार एवं कर्त्तव्य, प्रजा के साथ राजा का व्यवहार, प्रायश्चित-विधान, व्यवहार-निरूपण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन है। राज्य-व्यवस्था, कर-विधान दाय-भाग, स्त्रीधन, उत्तराधिकार, दण्ड-व्यवस्था आदि धर्मसूत्रों के मुख्य विषय हैं। धर्मसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्मों का विवेचन ही धर्मसूत्रों का मुख्य विवेचन हैं।[1] इनके अतिरिक्त द्विजातियों के खान-पान की व्यवस्था, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म का सिद्धान्त, का विवेचन भी धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। लौकिक आचार एवं व्यवहार की सामग्री इसमें पर्याप्त मात्रा में है।

बौधायनधर्मसूत्र—

यह धर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। उसकी रचना गद्य-पद्यात्मक है। इसमें चार खण्ड हैं जिन्हें प्रश्न भी कहते हैं। अन्तिम प्रश्न (खण्ड) परिशिष्ट के रूप में है। यह कल्पसाहित्य के इतिहास में सबसे प्राचीन है। इस धर्मसूत्र के रचयिता बौधायन हैं। इसके प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्ध विचार राजकीय विधि और विवाह के विविध प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय प्रश्न में चार आश्रम, गृहस्थ धर्म स्त्रीधर्म, प्रायश्चित, उत्तराधिकार तथा श्राद्ध के नियम प्रतिपादित हैं। तृतीय प्रश्न में सन्यासी के धर्म, चान्द्रायण आदि व्रतों का वर्णन है। चतुर्थ प्रश्न में काम्य-सिद्धि का विवरण है। इनमें चतुर्थ प्रश्न की

(१) गौतम धर्मसूत्र १९।१, विष्णुधर्मसूत्र १।४८

भाषा-शैली पृथक् है अतः यह खण्ड बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है। इसपर भवस्वामी का भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ काशी सस्कृत सीरिज से प्रकाशित है।

गौतम धर्मसूत्र—

यह सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। इसमें तीन प्रश्न और अठारह अध्याय हैं। प्रथम व द्वितीय प्रश्न में नौ-नौ अध्याय तथा तृतीय प्रश्न में दस अध्याय हैं। इसमें प्रथम एव द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य एवं उपनयन का वर्णन है। तृतीय में वैखानस और संन्यासी के धर्म, चतुर्थ एवं पञ्चम में गृहस्थधर्म, आठ प्रकार के विवाह, चार आश्रमों तथा मिश्र जातियों का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में अभिवादन, सप्तम में आपत्कालीन वृत्तिसंग्रह, अष्टम में चालीस संस्कार, नवम में स्नातकधर्म, दशम में विभिन्न जातिधर्म, एकादश में राजधर्म, द्वादश में राजकीय विधि, त्रयोदश में विचार और साक्ष्यग्रहण, चतुर्दश में अशुद्धि-विचार, पञ्चदश में श्राद्ध, षोडश में वेदपाठ, सप्तदश में खाद्य-विचार तथा अष्टादश में स्त्री विवाह आदि का वर्णन है। उन्नीसवें से सत्ताइसवें अध्याय तक प्रायश्चित्तों का विवेचन है और अट्ठाइसवें अध्याय में उत्तराधिकार के सम्वन्ध में विवरण है। यह हरदत्त की व्याख्या के साथ पूना और मस्करि भाष्य के साथ मैसूर से प्रकाशित है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—

आयस्तम्ब कल्पसूत्र का अट्ठाइसवाँ एवं उन्तीसवाँ अध्याय आपस्तम्ब धर्म-सूत्र है। यह धर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसमें दो प्रश्न है। प्रत्येक प्रश्न में ग्यारह पटल हैं। इसकी रचना गद्य और पद्य दोनों में है। इसमें ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, गृहस्थ धर्म, प्रायश्चित्त-विधान, विवाहादि के नियम, दाय-भाग का विवेचन एव दण्ड विधान के नियम आदि विविध विषय वर्णित हैं।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र—

आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सम्बद्ध हिरण्यकेशि धर्मसूत्र है। हिरण्यकेशी कल्पसूत्र का छब्बीसवाँ एवं सत्ताइसवाँ काण्ड ही धर्मसूत्र है किन्तु यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र के समान ही है, केवल पाठ-भेद मात्र अन्तर है। इसीलिए इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।

वसिष्ठ धर्मसूत्र--

कुमारिल भट्ट वसिष्ठ धर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद से बतलाते हैं किन्तु म. म. काणे के अनुसार इसमें सभी वेदों के उद्धरण प्राप्त होने के कारण इसका

सम्बन्ध किसी एक वेद से नहीं माना सकता है। क्योंकि ऋग्वेदियों का कोई अपना धर्मसूत्र नहीं था, अतः वसिष्ठ इस नाम के कारण ऋग्वेदियों ने इसे अपना धर्मसूत्र मान लिया था। आज वसिष्ठ धर्मसूत्र के जितने भी संस्करण उपलब्ध हैं उनमें अध्यायों में भिन्नता प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि इसका समय-समय पर परिवर्त्तन-परिवर्धन होता रहा है और इसमें नये-नये अध्याय जोड़े गये हैं। विद्वानों का मत है कि इसके तीस अध्यायों में से अन्तिम चौबीस से तीस तक अध्याय वाद में जोड़े गये हैं।

वसिष्ठ धर्मसूत्र में कुल तीस अध्याय हैं जिसमें आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त आदि विषयों का विवेचन है। प्रारम्भ के चौदह अध्यायों में आचार, मध्य के पाँच अध्यायों में (१५-१९ तक) व्यवहार और अन्तिम ग्यारह अध्यायों में (२०-३० तक) प्रायश्चित्त निरूपण है। इसमें उनके भौतिक विचार एव विषय की स्पष्टता विद्यमान है। वसिष्ठ ने आचार को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। उन्होंने छः प्रकार के विवाहों की ही मान्यता दी है न कि परम्परागत आठ प्रकार के विवाहों को। इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध कई प्राचीन ग्रन्थों से है।

विष्णु धर्मसूत्र—

इसका सम्बन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से माना जाता है। इसमें कुल १०० अध्याय हैं किन्तु सूत्र छोटे-छोटे हैं। इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के बहुत से विषय विष्णुस्मृति समान ही हैं। इसके १६० श्लोक तो मनुस्मृति में ज्यों के त्यों मिलते हैं। डा० जाली इसे मनुस्मृति से पूर्व का मानते हैं।

वैखानस धर्मसूत्र—

वैखानस धर्मसूत्र वैखानस स्मृति सूत्र का एक भाग है। वैखानस स्मृतिसूत्र का अष्टम, नवम एव दशम प्रश्न धर्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कुल चार प्रश्न हैं जिनमें मुख्य रूप में वर्णाश्रम धर्म का विवेचन है। आश्रमधर्म का जितना विस्तृत वर्णन इस धर्मसूत्र में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं है। धर्मसूत्रों के मुख्य विषय राजधर्म, न्याय एवं श्राद्ध का विवेचन इस धर्मसूत्र में नहीं है। इसमें सङ्कर जातियों का विशद वर्णन है इसमें 'बुधवार' शब्द का प्रयोग मिलता है। डा० कैलेण्ड ने इसका सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद किया है।

हारीत धर्मसूत्र—

इस धर्मसूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से जोड़ा जाता है किन्तु इसमें सभी वेदों के उद्धरण प्राप्त होते हैं अतः यह किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं। इस धर्मसूत्र में धर्म के उपादान, पञ्च

महायज्ञ, वेदाध्ययन, की विधि, गृहस्थ धर्म, आठ प्रकार के विवाह, राजधर्म, न्यायव्यवस्था, व्यवहारनिरूपण, प्रायश्चित्त, अशौच तथा श्राद्ध आदि धर्मशास्त्रीय सभी विषय प्रतिपादित हैं।

इनके अतिरिक्त मानवधर्मसूत्र, शंखलिखित धर्मसूत्र, भरद्वाज धर्मसूत्र, बृहस्पति धर्मसूत्र आदि अन्य धर्मसूत्र के ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं।

शुल्बसूत्र

शुल्वसूत्र कल्पसूत्र का प्रमुख अङ्ग है। शुल्व का अर्थ है—'मापने की रस्सी'। शुल्ब सूत्र में रस्सी के द्वारा मापी गयी वेदी की रचना की जाती है अर्थात् शुल्ब सूत्रों में रस्सियों से नापकर यज्ञस्थान और वेदियों के निर्माण-विधि का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह भारतीय ज्यामितिशास्त्र (रेखागणित) का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय रेखागणित का प्राचीन इतिहास जानने के लिए शुल्बसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है। सिद्धान्तः प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना एक शुल्बसूत्र होना चाहिए, किन्तु सम्प्रति केवल यजुर्वेद से सम्बद्ध शुल्व सूत्र मिलते हैं। शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध केवल एक शुल्बसूत्र है—कात्यायन शुल्बसूत्र और कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध छः शुल्ब सूत्र हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह और बाधूल। इनके अतिरिक्त एक हिरण्यकेशी शुल्बसूत्र के अस्तित्व का पता चलता है।

कात्यायन शुल्वसूत्र शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध शुल्वसूत्र है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में सात कण्डिकाएं और नब्बे (९०) सूत्र हैं। इसमें वेदियों के निर्माण के लिए रेखागणित, वेदियों के स्थानक्रम तथा उनके परिमाण का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। द्वितीय भाग श्लोकात्मक है इसमें चालीस या अड़तालीस श्लोक मिलते हैं। इसमें नापने वाली रस्सी, वेदि-निर्माता के गुणों एवं कर्त्तव्यों का वर्णन है। साथ ही प्रथम भाग में वर्णित रचना पद्धति का भी विवरण प्राप्त है। इसे कातीय परिशिष्ट भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पूर्व खण्ड के विषयों का पुनर्वर्णन पाया जाता है। इसके दो टीकाकार है – राम वाजपेय तथा महीधर।

बौधायन शुल्बसूत्र सबसे बड़ा और प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके तीन परिच्छेद हैं प्रथम परिच्छेद में ११६, द्वितीय में ८६, तथा तृतीय में ३२३ सूत्र हैं। इसके प्रथम परिच्छेद में मङ्गलाचरण के अनन्तर शुल्ब में प्रयुक्त विविध मानों, यज्ञवेदियों के निर्माण के लिए रेखागणित सम्बन्धी तथ्य एवं वेदियों के स्थान एवं आकार-प्रकार का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में ८६ सूत्र हैं। इनमें वेदियों के निर्माण के नियम, एव गार्हपत्य चिति का विवरण है। तृतीय परिच्छेद में ३२३ सूत्र हैं। इनमें काव्य दृष्टियों के सत्तर प्रभेदों के लिए वेदि-निर्माण

का वर्णन है। डा० थीवों ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन किया है। इसके प्रमुख टीकाकार द्वारकानाथ यज्वा वेङ्कटेश्वर दीक्षित हैं।

आपस्तम्ब शुल्बसूत्र आपस्तम्ब कल्पसूत्र का तीसवाँ अध्याय है। इसमें छः पटल, इक्कीस अध्याय और ३२३ सूत्र हैं। प्रथम पटल में वेदियों की रचना के रेखागणितीय सिद्धान्त, द्वितीय पटल में वेदी के क्रमिक स्थान तथा उनके रूपों का वर्णन है। अन्तिम चार पटलों में काम्य-इष्टि के लिए उनके आकार-प्रकार वर्णित हैं। इसके कपर्दिस्वामी, सुन्दरराज, गोपाल और करविन्दस्वामी ये चार टीकाकार हैं।

इनके अतिरिक्त मानव शुल्बसूत्र में 'सुवर्णचिति' नामक प्रसिद्ध वेदि का वर्णन है जिसका अन्यत्र 'श्येनचिति' नाम मिलता है। यह नवीन वेदि है जिसका अन्यत्र अभाव है। मैत्रायणीय शुल्बसूत्र में मानव शुल्वसूत्र का ही द्वितीय संस्करण प्रतीत होता है। क्योंकि दोनों में बहुत कुछ समानता है। वाराह शुल्बसूत्र भी उपर्युक्त दोनों शुल्व सूत्रों के समान ही है। इस प्रकार ये सभी शुल्बसूत्र वेदि-निर्माण के लिए परिमाण वताने वाले आवश्यक ग्रन्थ हैं।

कल्पसूत्रों का रचनाकाल

भारतीय परम्परा के अनुसार सूत्रसाहित्य की रचना उत्तर वैदिककाल में सबसे पीछे हुई है। मैक्समूलर ने प्राचीन भारतोय वाङ्मय के काल निर्धारण के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रयास किया है। उनका कहना है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में दो तिथियाँ मान्य हैं—सिकन्दर का आक्रमण और बौद्धधर्म का आविर्भाव। उनके अनुसार बौद्धधर्म के उदयकाल के पूर्व ही समस्त वैदिक वाङ्मय का निर्माण हो चुका था और सूत्रसाहित्य बौद्धधर्म के उदयकाल के प्रारम्भिक चरण निर्मित हुए हैं क्योंकि ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में वर्णित कर्मकाण्ड ही बुद्ध की आलोचना के विषय थे। बुद्ध का निर्वाण काल ४८३ ई० पू० माना जाता है अतः कल्पसूत्रों की रचना ५०० ई० पू० में हुई होगी।

सूत्रकाल के प्रमुख आचार्य शौनक हैं। शौनक के दो शिष्य थे—आश्वलायन और कात्यायन। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक के कुल में आश्वलायन, कात्यायन और पतञ्जलि हुए हैं। कथासरित्सागर में कात्यायन को नन्द का मन्त्री बताया गया है और उनका अपरनाम वररुचि था। यदि इस पर विश्वास कर लिया जाय तो कात्यायन का काल ३२५ ई० पूर्व निर्धारित होता है और शौनक का समय इसके कुछ पूर्व लगभग ३५० ई० पू० के आस-पास माना जा सकता है। इस आधार पर सूत्रसाहित्य (श्रौतसूत्र आदि) की रचना चतुर्थ शताब्दी मानी जाती है।

बूलर ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचनाकाल ४०० ई० पू० निर्धारित किया है।[1] डा० जौली ने गौतम धर्मसूत्र को सबसे प्राचीन माना है और उनका रचनाकाल ६००-५०० ई० पू० निर्धारित किया है। डा० जायसवाल गौतम धर्मसूत्र का समय ३५०- ३०० ई० पू० और बौधायन धर्मसूत्र तथा पारस्कर गृह्यसूत्र का समय ५०० ई० पू० मानते हैं और तीनों का पुनः संस्करण २०० ई० पू० स्वीकार करते हैं। आपस्तम्ब सूत्र का रचनाकाल ५००-४०० ई० मानते हैं।[2] उपर्युक्त मतों के विवेचन के आधार पर बौधायनधर्म सूत्र का रचना काल ५०० ई० पू० और आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचनाकाल ३०० ई० पू० है।

बालगङ्गाधर तिलक ज्योतिषशास्त्र के आधार पर श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों का रचनाकाल १४०० ई० पू० ५०० ई० पू० के मध्य मानते हैं। उनका कहना है कि इसी युग में बौद्धधर्म का उदय हुआ है और यही समय वैदिक वाङ्मय की रचनाकाल का अन्तिम काल माना जाता है। याकोबी का कथन है कि गृह्यसूत्रों के विवाह प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय विवाह के अवसर पर वर-वधू को ध्रुवतारा दिखाने की प्रथा थी। उस प्रसङ्ग से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय यह ध्रुवतारा अत्यन्त चमकीला और अधिक स्थिर था। याकोबी का कथन है २७८० ई० पू० उत्तरीध्रुव में एक ऐसा चमकीला तारा था जिसे 'अल्फा ड्राकोनिस' कहते हैं। सम्भवतः उसे ही सूत्रकाल में ध्रुव नाम दे दिया है।[3] इसी समय श्रौतसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों की रचना हुई होगी।

बौधायन श्रौतसूत्र के एक सन्दर्भ में कहा गया है कि 'यज्ञभूमि पर बनायी जाने वाली कुटीर के स्तम्भों का मुख पूर्व की ओर होना चाहिए और इस स्थिति का निर्णय कृत्तिकामण्डल के प्रकट होने पर होगा, क्योंकि वह पूर्वी प्रदेशों से हटता नहीं।'[4] श्री ए. प्रे (Prey) महोदय ने सिद्ध किया है कि लगभग ११०० ई० पू० में कृत्तिकाएँ पूर्वी बिन्दु की उत्तर की ओर लगभग १३० ऊपर उठा और पूर्वी रेखा के समीप आता गया। इस प्रकार कृत्तिका नक्षत्र पूर्व दिशा में सुदीर्घकाल तक प्रत्येक रात्रि में काफी देर तक दिखाई देता था। यह स्थिति ११०० ई. पू. में थी।[5] डा० गोरखनाथ का कथन है कि बौधायन श्रौतसूत्र के समय में कृत्तिकाओं का उदय एक ही दिशा में होता था

---

१. आपस्तम्बसूत्र की भूमिका (डा० बूलर)

२. हिन्दुराजतन्त्र, पृ० २०

३. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २१७

४. बौधायन श्रौतसूत्र २७।५

५. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २१८

इससे ज्ञात होता है कि बौधायन श्रौतसूत्र की रचना १३४० ई० पू० में हुई होगी।[1] किन्तु कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि श्रौतसूत्रों का प्रारम्भ उपनिषदों के अन्तिम काल में हुआ किन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध श्रौतसूत्र ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक निर्मित हुए हैं। फिर भी इसमें बहुत कुछ प्राचीन सामग्री विद्यमान है।[2]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रौतसूत्र किसी एक व्यक्ति तथा किसी एक समय की रचना नहीं हैं। ये विभिन्न कालों में विभिन्न ऋषियों द्वारा निर्मित हुए हैं। इनके निर्माण में कई शताब्दियाँ लगीं होंगी और इनकी भाषाशैली वैदिक वाङ्मय के बाद और लौकिक साहित्य के उदय के पूर्व की है। लौकिक साहित्य का आदिग्रन्थ रामायण है जिसका समय ५०० ई० पू० माना जाता है। और वर्ण्यविषय भी काव्य के उदय के पूर्व का है क्योंकि ये ही विषय बुद्ध के आलोचना के विषय थे। इसके स्पष्ट प्रतीत होता है कि ५०० ई० पू० तक रामायण तथा महाभारत का निर्माण हो चुका था। इस आधार पर यदि हम विचार करते हैं तो यही सिद्ध होता है कि सूत्रसाहित्य की रचना इससे पूर्व हुई होगी और कुछ सूत्रग्रन्थ और अधिक पहले रचे गये होंगे। इस प्रकार सूत्र साहित्य का रचनाकाल १५०० ई० पू० के मध्य का माना जा सकता है। यही समय श्रौतसूत्रों के निर्माण का रहा है। पुनः संस्करण, संशोधन तो बाद तक होते रहे हैं।

अनुक्रमणी

वेदों की रक्षा के लिए कालान्तर में ऐसे ग्रन्थों का निर्माण हुआ जो अनुक्रमणी के नाम से विख्यात हैं। अनुक्रमणी का अर्थ है 'सूची'। इनमें वेदों के देवता, ऋषि, छन्द आदि की सूची प्रस्तुत की गयी है। प्रत्येक वेद की अलग-अलग अनुक्रमणी प्राप्त होती है। अनुक्रमणी के प्रमुख लेखक शौनक और कात्यायन हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋ[illegible] रक्षा के लिए दस अनुक्रमणियों की रचना की है।

शौनकीया दशग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये
आर्ष्यनुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा।
अनुवाकानुक्रमणी च सूक्तानुक्रमणी तथा
ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद्दैवतमेव च॥
प्रातिशाख्यं शौनकीयं स्मार्त्तं दशममुच्यते।

---

१. भारतीय ज्योतिष का इतिहास (डा० गोरखनाथ) पृ० ५२

२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा (जयचन्दविद्यालंकार) पृ० ३००

आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋक्‌विधान, पादविधान, बृहद्देवता, प्रातिशाख्य, और शौनकस्मृति ये दश ग्रन्थ ऋग्वेद की रक्षा के लिए शौनक द्वारा रचित हैं। इनमें से प्रारम्भ की पाँच अनुक्रमणियों में ऋग्वेद के सभी मण्डलों के देवताओं, ऋषियों, छन्दों, अनुवाकों तथा सूक्तों की संख्या, नाम तथा तत्सम्बन्धी अन्य विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। सभी ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में रचे गये हैं। इनमें आर्षानुक्रमणी में ३०० श्लोक हैं जिसमें ऋग्वेद के ऋषियों की नामावली है। छन्दोऽनुक्रमणी में ऋग्वेद के समस्त छन्दों का विवरण है। देवतानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवताओं के सम्बन्ध में विचार हैं। अनुवाकानुक्रमणी में केवल चालीस श्लोक हैं। इसमें ऋग्वेद के अनुवाकों का अनुक्रम है। प्रत्येक अनुवाक में कितने सूक्त एवं ऋचाएँ हैं इसका भी विवरण इसमें दिया गया है। सूक्तानुक्रमणी में ऋग्वेद के सूक्तों का विवेचन है।

बृहद्देवता अनुक्रमणियों में प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें आठ अध्याय और बारह श्लोक हैं। प्रत्येक अध्याय में लगभग पांच पद्यों का वर्ग है। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में प्रारम्भ के पचीस वर्ग ग्रन्थ की भूमिका रूप है। जिसमें देवता के स्वरूप स्थान तथा वैशिष्ट्य का विवरण दिया गया है। भूमिका के अन्तिम सात वर्गों में व्याकरण से सम्बद्ध विषय निरुक्त का विवरण है। द्वितीय अध्याय में छब्बीसवें वर्ग से अन्त तक ऋग्वेदीय देवताओं का परिचय तथा तत्सम्बन्धी आख्यानों का निर्देश किया गया है। संग्रह की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। ऋग्विधान में कुल ९९ श्लोक हैं। इसमें सूक्त, वर्ग, पाद, मन्त्र आदि के जप के विधान वर्णित हैं। पादविधान में ऋग्वेदीय शब्दों की सूची है। शौनकीय प्रातिशाख्य ऋग्वेद से सम्बद्ध है। शौनकस्मृति का प्रकाशन हो चुका है। इसके रचयिता महर्षि शौनक हैं।

सर्वानुक्रमणी:—

कात्यायन-रचित सर्वानुक्रमणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद की ऋचाओं की संख्या प्रत्येक मंत्र के देवता, ऋषियों के नाम एवं गोत्र तथा छन्दों का कमबद्ध उल्लेख है। इसके प्रथम बारह अध्यायों में प्रास्ताविक चर्चा है जिसमें से नौ अध्यायों में छन्दों पर निबन्ध हैं। सर्वानुक्रमणी में आर्षानुक्रमणी एव बृहद्देवता से कुछ ज्यों के त्यों और कुछ किञ्चित् परिवर्तन के साथ उद्धरण निबद्ध किये गये हैं। इसके अतिरिक्त एक ऋग्वेदानुक्रमणी भी है जिसके रचयिता माधवभट्ट हैं। इसके दो खण्ड हैं। इनमें स्वर, निपात, आख्यात, शब्द, देवता ऋषि, छन्द एवं मन्त्रार्थ विषयक आठ अनुक्रमणियों का संकलन है। किन्तु यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र के रचयिता कात्यायन है। इसमें पांच अध्याय है जिनमें प्रथम चार अध्यायों में माध्यन्दिन संहिता के देवता, ऋषि तथा छन्दों का विस्तृत विवरण दिया गया है। प्रथम अध्याय में मंत्रों का संक्षिप्त विवरण प्राप्त है इसमें याग-विधान के नियमों के साथ-साथ अनुष्ठानों का भी विवेचन है। इस पर अनन्तदेव का भाष्य उपलब्ध है। सामवेद की कई अनुक्रमणियाँ हैं—कल्पानुपदसूत्र, उपग्रन्थसूत्र, अनुपदसूत्र, निदानसूत्र, उपनिदान सूत्र, पञ्चविधानसूत्र, लघुऋक्तन्त्रसंग्रह और सामसप्तलक्षण। इनमें कल्पानुपदसूत्र, उपग्रन्थसूत्र, निदानसूत्र, पञ्चविधानसूत्र, लघुऋक्तन्त्रसंग्रह तथा सामसप्तलक्षण प्रकाशित है। कल्पानुपद सूत्र में दो प्रपाठक और प्रत्येक प्रपाठक में बारह पटल हैं। उपग्रन्थ सूत्र में चार प्रपाठक हैं। इसके रचयिता कात्यायन है। अनुपद सूत्र में दस प्रपाठक हैं। निदान सूत्र भी दस प्रपाठकों में विभक्त है। इसके रचयिता पतञ्जलि हैं। उपनिदान सूत्र में दो प्रपाठक है और पञ्चविधान सूत्र में भी दो प्रपाठक हैं जिनमें सामों के पांच विभाजन कारों का वर्णन है। लघुऋक्तन्त्र संग्रह स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें संहिता पाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के विशेष नियम है। सामसप्त लक्षण एक लघु रचना है। इसमें साम-विषयक तथ्य संगृहीत है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध अनेक अनुक्रमणी-ग्रन्थ है जिनमें अथर्व के विभाजन, ऋचाएं (मन्त्र), उच्चारण सम्बन्धी नियम तथा विनियोग आदि के विवरण दिये गये हैं। अथर्ववेद के ४९ परिशिष्टों में अन्तिम चरण व्यूह है। चरण व्यूह में वेद के पांच लक्षण ग्रन्थ बताये हैं—चतुरध्यायी, प्रातिशाख्य, पञ्चपटालिका, दन्त्योष्ठविधि तथा बृहत्सर्वानुक्रमणी। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थों चतुरध्यायी और प्रातिशाख्य का विवरण शिक्षा-प्रातिशाख्य के विवेचन में दिया जा चुका है। पञ्चपटलिका में पांच पटल (अध्याय) हैं जिनमें अथर्व के बीसों काण्डों का मन्त्रों की संख्या तथा सूक्तों एवं पाठों के क्रम, लक्षण, विवरण आदि दिये गये हैं। इनमें ऋषि तथा देवता का भी विवेचन है। दन्त्योष्ठ विधि में अथर्ववेदीय उच्चारण-विधि का विवरण प्राप्त है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। इसके दो अध्याय हैं। प्रथम में बारह और द्वितीय अध्याय में ग्यारह श्लोक हैं। बृहत्सर्वानुक्रमणी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अथववेद के ऋषि, देवता, छन्द, आदि का विवरण है। इसमें बीस काण्ड है। इसके रचयिता महर्षि शौनक हैं।

परिशिष्ट—१

वैदिक-व्याकरण

वर्ण-समाम्नाय

वर्ण-समाम्नाय का अर्थ है 'वर्ण-समूह'। वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुसार जिस समूह या संग्रह में वर्णों का पाठ होता है उसे 'वर्ण-समाम्नाय' कहते हैं।[1] प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—स्वर और व्यञ्जन। जो किसी अन्य वर्ण की सहायता की अपेक्षा न करके स्वयं उच्चारित होते हैं उन्हें स्वर कहते हैं[2] और जो दूसरे वर्णों की सहायता से उच्चारित किये जाते हैं उन्हें 'व्यञ्जन' कहते हैं।[3] व्यञ्जन स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होते हैं, बिना किसी स्वर के व्यञ्जन का उच्चारण हो ही नहीं सकता। इस प्रकार स्वरों की सहायता से उच्चारण किये जाने के कारण ही ये व्यञ्जन कहलाते हैं।

स्वर—स्वर दो प्रकार के होते हैं—समानाक्षर और सन्ध्यक्षर। जिन स्वरों के उच्चारण में समरूपता होती है उन्हें समानाक्षर स्वर कहते हैं। जैसे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ ये आठ समानाक्षर स्वर हैं क्योंकि स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से उच्चारण में ये समान होते हैं। दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न स्वर 'सन्ध्यक्षर' कहलाते हैं। जैसे—आ + इ की सन्धि में निष्पन्न 'ए' सन्ध्यक्षर स्वर है। इसी प्रकार ओ, ऐ, औ भी सन्ध्यक्षर स्वर हैं। इस प्रकार ए ओ ऐ औ ये चार सन्ध्यक्षर स्वर हैं। क्योंकि ये दो स्वरों के संयोग से बनते हैं अतः इन्हें संयुक्त स्वर भी कहते हैं।

इस प्रकार आठ समानाक्षर (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ) और चार सन्ध्यक्षर (ए ओ ऐ औ) ये बारह स्वर हैं किन्तु ऋक्प्रातिशाख्य में प्लुत

---

१. वर्णाः यस्मिन् पठ्यन्ते स वर्ण-समाम्नायः। (वाजसनेय प्रातिशाख्य ८।१)

२. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः। (वैदिकाभरण-तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।५)

३. परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्। (वैदिकाभरण-तै. प्रा. ९।६ पर टीका)

४. 'अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सम्मी यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते, तानि तयोच्यन्ते (उव्वटभाष्य १।१२)

ई ३ को भी स्वर माना गया है। इस प्रकार यह तेरहवाँ स्वर है और इसकी गणना समानाक्षर स्वर में है। इसी प्रकार 'लृ' को भी स्वर माना गया है[1] और यह चौदहवाँ स्वर है। इस प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार कुल चौदह स्वर माने गये हैं।

व्यञ्जन—ऋक्प्रातिशाख्य में व्यञ्जनों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है—स्पर्श, अन्तःस्थ और ऊष्मन्। जिन वर्णों के उच्चारण के समय मुख के दो उच्चारण अवयव एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को रोकते हैं और पुनः एक दूसरे से अलग होकर वायु को बाहर निकाल देते हैं, वे वर्ण दो अवयवों का स्पर्श करने के कारण 'स्पर्श' या 'स्पृष्ट' कहलाते हैं। वे संख्या में पचीस हैं जो पाँच वर्गों में विभाजित हैं। एक-एक वर्ग में पाँच-पाँच अक्षर होते हैं। क ख ग घ ङ (कवर्ग), च छ ज झ ञ (चवर्ग), ट ठ ड ढ ण (टवर्ग) त थ द ध न (तवर्ग) और प फ ब भ म (पवर्ग) ये पचीस स्पर्श संज्ञक व्यञ्जन हैं। य र ल व ये चार वर्ण अन्तःस्थ कहलाते हैं। इनको अन्तःस्थ इसलिए कहते हैं कि ये स्पर्श और ऊष्मन् संज्ञक वर्णों के मध्य (अन्तः) में स्थित होते हैं।[2] श ष स ह ᳲक ᳳप अं अः ये आठ वर्ण ऊष्मन् कहलाते हैं। इनको ऊष्मन् इसलिए कहते हैं कि इनके उच्चारण के समय मुख से निकलने वाली वायु प्रायः ऊष्म (गर्म) रहती है[3] इस प्रकार पचीस स्पर्शसंज्ञक चार अन्तःस्थ और आठ ऊष्मन् ये सैंतीस व्यञ्जन वर्ण हैं :—

स्वर—(१) समानाक्षर—अ, आ, इ, ई, उ,ऊ, ऋ, ॠ; ई ३, लृ ३
(२) सन्ध्यक्षर—ए, ओ, ऐ, औ

व्यञ्जन—१. स्पर्श—(१) क, ख, ग, घ, ङ (कवर्ग)
(२) च, छ, ज, झ, ञ (चवर्ग)
(३) ट, ठ, ड, ढ, ण (टवर्ग)
(४) त, थ, द, ध, न (तवर्ग)
(५) प, फ, ब, भ, म (पवर्ग)

---

१. ऋक्प्रातिशाख्य १।३
'ऋक्प्रातिशाख्य में केवल ई३ को ही प्लुत स्वर माना गया है, किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में आ३, ई३, ऊ३, ये तीन स्वर और वाजसनेय प्रातिशाख्य में आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, लृ३, ए३, ओ३, ऐ३, औ३ ये नौ स्वर प्लुत माने गये हैं।'

२. स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तःस्था। (उव्वटभाष्य १।९)

३. ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः। (ऊव्वटभाष्य १।१०)

२—अन्तःस्थ—य, र, ल, व।

३—ऊष्मन्—श, ष, स, ह, अं, अः, ≍क (जिह्वामूलीय) ≍प (उपध्मानीय)।

स्थान और प्रयत्न

स्थान—जिस अङ्गविशेष से वर्ण उच्चरित होते हैं उसे इन वर्णों का स्थान कहते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में वर्णों के उच्चारण नौ बताये गये हैं—कण्ठ, उरस् जिह्वामूल, तालु, मूर्धन्, दन्तमूल पार्श्व, ओष्ठ और नासिका। इन स्थानों से ही वर्ण उच्चारित होते हैं।

कण्ठ—अ, आ, ह, अः (कण्ठय)

उरस्—ह, अः (उरस्य)

जिह्वामूल—ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ’क, ख, ग, घ, ङ (जिह्वामूलीय)

तालु—इ, ई, ए, ऐ, च, छ, ज, झ, ञ, य, श (तालव्य)

मूर्धा—ट, ठ, ड, ढ, ण, ष (मूर्धन्य)

दन्तमूल—त, थ, द, ध, न, स, र, ल (दन्तमूलीय)

वर्स्व—र (वर्स्व्य)

ओष्ठ—उ, ऊ, ओ, औ, प, फ, ब, भ, म, व, प (ओष्ठय)

प्रयत्न—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। उच्चारण के समय अवयवों का जो व्यापार होता है उसे प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और अभ्यान्तर। वर्णों के उच्चारण में मुख के बाहर जो प्रयत्न होता है उसे 'बाह्य' प्रयत्न कहते हैं। बाह्य प्रयत्न दो प्रकार का होता है—अघोष और सघोष। अघोष का अर्थ है—'घोष रहित' और घोष का अर्थ है नाद। घोष (नाद) रहित वायु से उत्पन्न होने वाले वर्णों को 'अघोष' कहते हैं। अघोष वर्ण हैं—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स, अः, 'क' प अं। घोष (नाद) के साथ वायु से उत्पन्न होने वाले वर्णों को 'सघोष' वर्ण कहते हैं। सघोष व्यञ्जन हैं—ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, घ न, ब भ, म, य, र, ल, व, ह।

वर्णों के उच्चारण में मुख के भीतर जो प्रयत्न होता है उसे 'आभ्यन्तर' प्रयत्न कहते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण शब्द का प्रयोग किया गया है। आभ्यन्तर प्रयत्न तीन प्रकार का होता है—स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट और अस्पृष्ट। स्पर्श संज्ञक वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न होता है। इस प्रयत्न में

दो उच्चारण अवयव एक दूसरे का स्पर्श करते हैं और तदन्तर वे पृथक् होकर वायु को झटके से बाहर निकलने देते हैं। स्पर्श वर्ण हैं—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म। अन्तःस्थ वर्णों का दुःस्पृष्ट प्रयत्न होता है। दुःस्पृष्ट का अर्थ है कठिनाई से स्पर्श किया हुआ। इस प्रयत्न से दो उच्चारण अवयवों का थोड़ा सा स्पर्श होता है। इसीलिए इस प्रयत्न को ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न भी कहते हैं। य, र ल, व ये चार वर्ण अन्तःस्थ हैं। सभी स्वर, अनुस्वार तथा श, ष, स, ह (ऊष्म) का 'अस्पृष्ट' आभ्यन्तर प्रयत्न होता है। अस्पृष्ट प्रयत्न में दो उच्चारण अवयवों का स्पर्श नहीं होता है। अतः इसे अस्पृष्ट कहते हैं।

सन्धि-विचार

स्वर-सन्धि

पदादि या पदान्त में आने वाले स्वरों के मेल को स्वर-सन्धि कहते है। स्वर सन्धि के निम्न भेद हैं—

(१) प्रश्लिष्ट सन्धि
(२) क्षैप्र सन्धि
(३) भुग्न सन्धि
(४) अभिनिहित सन्धि
(५) पदवृत्ति सन्धि
(६) उदग्राह सन्धि
(७) उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि
(८) उद्ग्राहवत् सन्धि
(९) प्राच्य-पञ्चाल पदवृत्ति सन्धि
(१०) प्रकृतिभाव सन्धि

१—प्रश्लिष्ट सन्धि—पद के अन्त तथा पद के आदि में विद्यमान स्वर मिलकर जब एक हो जाते हैं तो उसे 'प्रश्लिष्ट-सन्धि, कहते हैं। यह सन्धि पाँच प्रकार की होती है—

(१) दो समान अक्षरों के स्थान पर एक समानाक्षर दीर्घ स्वर हो जाता है। जैसे—[1]

अश्व + अजनि = अश्वाजनि
दिवि + इव = दिवीव
मधु + उदकम् = मधूदकम्

---

१. समानाक्षरे संस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्।

(२) अ, आ के बाद इ, ई आने पर दोनों के स्थान पर 'ए' स्वर हो जाता है[1]। जैसे—

आ + इन्द्रम् = एन्द्रम

पिता + इव = पितेव ।

(३) अ, आ के बाद उ, ऊ, आने पर दोनों के स्थान पर 'ओ' स्वर हो जाता है[2]। जैसे—

सुभगा + उषाः = सुभगोषाः

(४) अ, आ के बाद सन्ध्यक्षर ए, ऐ स्वर आने पर दोनों के स्थान पर 'ऐ' स्वर हो जाता है[3]। जैसे—

आ + एनम् = ऐनम्

परा + एत् + अप = परैदप

(५) अ, आ के बाद सन्ध्यक्षर ओ, औ स्वर आने पर दोनों के स्थान पर 'औ' स्वर हो जाता है[4]। जैसे—

यत्र + औषधिः = यत्रौषधिः

प्र + ओक्षन् = प्रौक्षन्

२—क्षैप्रःसन्धि—पदान्त इ, ई, उ, ऊ के बाद असमान स्वर आने पर इ, ई के स्थान पर 'य्' और उ ऊ के स्थान पर 'व्' हो जाता है[5]। जैसे—

अभि + आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्

अनु + अत्र = अन्वत्र

३—भुग्न सन्धि—ओ, औ के बाद उ, ऊ से भिन्न कोई स्वर आवे तो ओ तथा औ के स्थान पर 'अ' हो जाता है और उसके बाद 'व्' का आगम हो जाता है[6]। जैसे—

वायो + आयाहि = वायवायाहि

४—अभिनिहित सन्धि—पाद के अन्त में स्थित ए, ओ के बाद पादादि अ के होने पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप ए या ओ हो जाता है। जैसे—

---

१. इकारोदय एकारमकारः सोदयः ।

२. तथा उकारोदय ओकारकम् ।

३. प्रदेष्वैकारमोजयोः

४. औकारं युग्मयोः

५. सामानाक्षरमन्तस्थां स्वामाकण्ठ्यं स्वरोदयम् ।

६. ओष्ठ्योन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः ।

दाशुषे + अग्ने = दाशुषेऽग्ने

ते + अवदन् = तेऽवदन् ।

मन्यो + अविधत् = मन्योऽविधत ।

५—पदवृत्ति सन्धि—ए, ओ, ऐ, औ के बाद कोई स्वर हो तो ए, ओ, के स्थान पर 'आ' हो जाता है[1] । जैसे—

उभौ + उ + नूनम् = उभा उ नूनम् ।

अन् + एतवे + उ + अन्वेतवा उ ।

६—उद्ग्राह सन्धि—यदि अरिफित विसर्ग, ए, ओ के बाद ह्रस्व हो तो उसके स्थान पर 'अ' हो जाता है । जैसे—

यः + इन्द्र = य इन्द्र

अग्ने + इन्द्र = अग्न इन्द्र ।

वायो + उक्थेभिः = वाय उक्थेभिः

७—उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि—यदि अरिफित विसर्ग तथा ए, ओ के बाद कोई दीर्घ स्वर आ जावे तो उसके स्थान पर 'अ' हो जाता है । जैसे—

कः + ईषते = क ईषते ।

प्रतिरन्ते + आयुः = प्रतिरन्त आयुः ।

८—उद्ग्राहवत् सन्धि—यदि अ, आ के बाद ऋ आवे तो अ, आ के स्थान पर 'अ' हो जाता है जैसे—

मधुना + ऋतस्य = मधुन ऋतस्य

प्र + ऋभुभ्यः = प्र ऋभुभ्यः

९—प्राच्य-पञ्चालपदवृत्ति सन्धि—यदि ए ओ अथवा विसर्ग के स्थान पर आये हुए ओ के बाद ह्रस्व 'अ' आवे तो अभिनिहित सन्धि नहीं होती है । जैसे—

ते + अग्रेयाः = ते अग्रेयाः ।

यो + अस्मै = यो अस्मै ।

१०—प्रकृतिभाव सन्धि—सन्धि सम्भव होने पर भी सन्धि का न होना 'प्रकृतिभाव' है । जैसे—

प्रगृह्य स्वरों के बाद इति आने पर सन्धि नहीं होती है । जैसे—

इन्द्रवायू इमे सुता ।

विष्णो इति ।

सोमो गौरी अधिश्रितः

अस्मे इन्द्राबृहस्पती ।

---

१. उत्तमौ च द्वौ स्वरौ ।

व्यञ्जन सन्धि

१—अन्वक्षर सन्धि—अन्वक्षर सन्धि दो प्रकार की होती है—अनुलोम अन्वक्षर सन्धि और प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि। जहाँ पर वर्णमाला के क्रम के अनुसार स्वर के बाद व्यञ्जन आते हैं, उसे अनुलोम अन्वक्षर सन्धि कहते हैं। जैसे—

एषः + देवः + अमर्त्यं = एष देवो अमर्त्यं।

सः + सुतः + पीतये = स सुतः पीतये।

जब व्यञ्जन पहले और स्वर बाद में आता है तो प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि होती है। इस सन्धि में स्पर्श संज्ञक प्रथम वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का तृतीय अक्षर हो जाता है। जैसे—

अर्वाक् + आ + वर्त्तय = अ र्वागा वर्त्तय

हव्यावाट् + अग्निः = हव्यवाडग्निः

यत् + अङ्ग + दाशुषे = यदङ्ग दाशुषे

२—अवशङ्गम सन्धि—स्पर्श के बाद व्यञ्जन आवें अवशंगम सन्धि होती है। इस सन्धि में वर्ण परस्पर सामीप्य में हो जाते हैं किन्तु उसमें किसी प्रकार विकार या परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—

इमम् मे वरुण = इयम्मे वरुण

आरैक + पन्थाम् + यातवे = आरैक्पन्थां यातवे

३—वशंगम सन्धि—इस सन्धि में व्यञ्जन एक दूसरे से प्रभावित होकर विकार को प्राप्त होते हैं। भाव यह कि इसमें विकार अवश्य होता है। जैसे—

यत् + वाक् + वदन्ती + अवचेतनानि = यद्वाग्वदन्त्यवचेतनानि।

अर्वाक् + नरा + दैव्येन = अर्वाङ्नरा दैव्येन।

अवाद् + हव्यानि = अर्वाड्ढव्यानि।

यम् + कुमारम् + नवम् + रथम् = यङ्कुमार नवं रथम्।

अहम् + च, त्वम् + च = अहञ्च त्वञ्च।

जिगीवान् + लक्षम् = जिगीवाँल्लक्षम्।

मघवत् + शग्धि = मघवञ्छग्धि।

तत् + चक्षुः + देवहितम् = तच्चक्षुर्देवहितम्।

भद्रैषाम् + लक्ष्मीः = भ्रदैषाँलक्ष्मीः।

४—परिपन्न सन्धि—यदि म् के बाद र या ऊष्म वर्ण (श ष स ह) आवें तो म् के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है जैसे—

होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम्

वसुम् + सूनुम् + सहसः = वसुं सूनुं सहसः।

५—अन्तःपात सन्धि—यदि ङ् के बाद कोई अघोष ऊष्म वर्ण आवे तो मध्य में क् का आगम, ट् न् के बाद यदि स आवे तो त् आगम और न् के बाद ग आवे तो 'च्' का आगम हो जाता है। जैसे—

अर्वाङ्+शश्वतम्=अर्वाङ्क्छश्वतम्।
अप्राट्+स =अप्राट्त्स।
वज्रिन्+श्लथिहि=वज्रिञ्च्छ्लथिहि।

विसर्ग-सन्धि

१—पदवृत्ति सन्धि—यदि विसर्ग के पूर्व दीर्घ स्वर हो और बाद में कोई स्वर हो तो विसर्ग के स्थान पर 'आ' हो जाता है। जैसे—

याः+ओषधीः=या ओषधीः

२—उद्ग्राह सन्धि—यदि विसर्ग के पूर्व ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई स्वर हो तो विसर्ग को उपधासहित 'अ' हो जाता हैं। जैसे—

यः+इन्द्र=य इन्द्रः

३—नियत सन्धि—अरिफित विसर्ग के बाद सघोष वर्ण आने पर उपधासहित विसर्ग को 'आ' हो जाता है। जैसे—

पुनानाः+यान्ति=पुनाना यान्ति

४—प्रश्रित सन्धि—यदि ह्रस्व स्वर के बाद अरिफित विसर्ग आवे और उसके पश्चात् सघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग पूर्व स्वर के साथ 'ओ' हो जाता है। जैसे—

देवः+देवेभिः+आगमन्=देवो देवेभिरागमत्।

५—रेफ सन्धि—यदि ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद रिफित विसर्ग हो और उसके पश्चात् पदादि स्वर या सघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग के स्थान पर 'र' (रेफ) हो जाता है। जैसे—

प्रातः+अग्निम्=प्रातरग्निम् हवामहे।
प्रातः+मित्रावरुणा=प्रातर्मित्रावरुणा।

६—अकाम सन्धि—यदि रिफित विसर्ग के बाद 'र' आवे तो विसर्ग का लोप हो जाता है जैसे—

अश्वाः+रथः=अश्वा रथः।
युवोः+रजांसि=युवो रजांसि।

७—व्यापन्न सन्धि—यदि विसर्ग के बाद अघोष स्पर्श व्यञ्जन आवे और उसके बाद कोई ऊष्म वर्ण हो तो विसर्ग को उसी स्थान का ऊष्म वर्ण हो जाता है। जैसे—

ऋषिः + कः + विप्र ! = ऋषि को विप्र ।

अग्निः + च = अग्निश्च

देवाः + तम् = देवास्तम्

८—विक्रान्त सन्धि—यदि उपर्युक्त नियम के अनुसार सन्धि नहीं होती विसर्ग ज्यों का त्यों रहता है तो विक्रान्त सन्धि कहलाती है । जैसे—

यः ककुभो निधारयः ।

वः शिवतमो रसः ।

देवीः षलुर्वीः ।

९—अन्वक्षर वक्त्र—यदि विसर्ग के बाद को ऊष्म वर्ण हो उसके बाद के अघोष व्यञ्जन हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है । जैसे—

समुद्रः + स्थः + कलशः = समुद्रस्थः कलशः ।

कः + स्वित् + वृक्षः = कस्वित् वृक्षः ।

१०—उपचरित सन्धि—(क) यदि अ आ को छोड़कर किसी भी स्वर बाद विसर्ग आवे और उसके बाद क या प हो तो विसर्ग के स्थान पर 'ष्' हो जाता है । जैसे—

निः + कृतिः = निष्कृतिः

(ख) यदि अ, आ के बाद विसर्ग हो और उसके बाद क या प आवे तो विसर्ग के स्थान पर 'स' हो जाता है । जैसे—

शाश्वतः + कः = शश्वतस्कः ।

ब्रह्मणः + पति = ब्राह्मणस्पतिः ।

नमः + कृतम् = नमस्कृतम् ।

तमसः + पारमस्य = तमसस्पारमस्य ।

११—नकार-विकार—(क) यदि आ के बाद में पदान्त न हो और उसके बाद में स्वर हो तो 'न' का लोप हो जाता है । जैसे—

सर्गान् + इव + सृजतम् = सर्गा इव सृजतम् ।

महान् + इन्द्रः = महाँइन्द्रः ।

(ख) पाद के अन्त में आने वाले निम्नलिखित पदों के नकार का लोप हो जाता है जैसे—

जघन्वान् अत्यान् इव = जघन्वाँ अत्याँ इव ।

देवहुतमान् अश्वान् = देवहूतमाँ अश्वान् ।

इन्द्रसोमान् इव = इन्द्रसोमाँ इव ।

देव देवान् अच्छ = देव देवाँ अच्छ ।

दधन्वान् यः = दधन्वाँ यः

पीवः अन्नान् रयिवृधः = पीवो अन्नाँ रयिवृधः ।

पणीन् वचोभिः = पणीं वचोभिः ।

१२—ई, ऊ के बाद 'न' आवे और उसके बाद स्वर हो तो न को 'र्' हो जाता है । जैसे—

रश्मीन् इव = रश्मीँरिव यच्छतम् ।

दस्यून् एकः = दस्यूँरेकः ।

लौकिक संस्कृत की अपेक्षा संस्कृत के शब्दरूपों में कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) यकारान्त शब्दों के पुल्लिङ्ग में प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन में 'औ' तथा 'अ' दोनों का प्रयोग होता है जैसे—

देवो देवा, अश्विनौ, अश्विना, सुरथौ, सुरथा ।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया सम्बोधन के बहुवचन में आस् (आः) और आसस् (आसः) दोनों का प्रयोग होता है । जैसे—

देवाः, देवासः, जनाः, जनासः ।

(३) अकारान्त नपुंसक में प्रथमा, द्वितीया एवं सप्तमी बहुवचन में 'आनि' और 'आ' दोनों प्रत्यय लगते हैं । जैसे—

विश्वानि, विश्वा । अद्भुतानि, अद्भुता ।

(४) अकारान्त पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग, में तृतीया बहुवचन में ऐ, और एभिः, दोनों प्रत्यय लगते हैं जैसे—

देवैः, देवेभिः

(५) दीर्घ आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन बहुवचन में 'आः' तथा 'आसः' दोनों का प्रयोग होता है । जैसे—

जायाः, जायासः दक्षिणाः, दक्षिणासः

(६) इकारान्त एवं उकारान्त पुलिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन में 'आ' और 'ना' दोनों प्रत्यय लगते हैं जैसे—

पत्या, पतिना, क्रत्वा, क्रतुना ।

(७) इकारान्त नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन द्विवचन में 'ई' तथा बहुवचन में 'ईति' दोनों प्रत्यय लगते हैं । जैसे—

द्विवचन—शुची

बहुवचन—शुची, शुचीनि,

(८) इकारान्त स्त्रीलिङ्ग में तृतीया एक वचन में 'आ' और 'उ' दोनों लगते हैं । जैसे—

सुस्तुती, सुस्तुत्या, अती, अत्या, मती, मत्या,

(९) इकारान्त शब्दों के तीनों लिङ्गों में सप्तमी एक वचन में 'औ' तथा 'आ' का प्रयोग होता है। जैसे–

अग्नौ, अग्ना।

(१०) ऋकारान्त पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग के प्रथमा, द्वितीया, सम्बोधन के द्विवचन में 'ओ' तथा 'आ' का प्रयोग होता है। जैसे—

नृ शब्द से–नरौ, नरा।

पितृ शब्द से–पितरौ, पितरा।

(११) ओकारान्त पुलिङ्ग; तथा स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन के द्विवचन में 'औ' तथा 'आ' दोनों का प्रयोग होता है। जैसे—

गो शब्द गाव, गावौ

इसी प्रकार षष्ठी बहुवचन में 'नाम' एवं 'आम' दोनों लगता है। जैसे—

गोनाम् गवाम्।

(१२) हलन्त शब्दों के प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन के द्विवचन में 'औ' तथा 'आ' दोनों का प्रयोग होता है। जैसे—

अश्विनौ, अश्विना,।

(१३) नकारान्त हलन्त शब्दों के सप्तमी एकवचन में सप्तमी विभक्ति का लोप हो जाता है। जैसे—

व्योमन्, चर्मन्, धन्वन्।

(१४) सकारान्त शब्दों के सप्तमी एकवचन में 'ई' लगता है। जैसे—

सरस् शब्द से–सरसी।

(१५) सर्वनाम शब्दों में निम्नलिखित परिवर्तन पाये जाते हैं–

	अस्मद् शब्द	युष्मद् शब्द
प्रथमा द्विवचन में—	वाम्	युवम्
तृतीया एकवचन में—	—	त्वा, त्वया
चतुर्थी एकवचन में—	मह्य, मह्यम्	—
चतुर्थी बहुवचन में—	अस्मे, अस्मभ्यम्	—
पञ्चमी एकवचन में—	—	युवत् त्वम्
षष्ठी द्विवचन में—		युवाः, युवयोः
सप्तमी एकवचन में—	मे, मयि	त्वे, त्वयि
सप्तमी बहुवचन में—	अस्मे, अस्मासु	युष्मे, युष्मापु

धातु रूप

(१) लट् लकार परस्मैपद मध्यमपुरुष एकवचन में 'थ' और 'थन' का प्रयोग होता है। जैसें—

वद धातु में—वदथ, वदथन

(२) लट् लकार परस्मैपद उत्तमपुरुष बहुवचन 'म' और 'मसि' दोनों लगते हैं। जैसे—

मिनीमः, मिनीमसि ।

(३) लोट् लकार परस्मैपद मध्यमपुरुष एकवचन में 'हि' तथा 'धि' दोनों का प्रयोग होता है। जैसे—

श्रु धातु से—शृणुहि, शृणुधि

(४) लोट् लकार आत्मेनपद मध्यमपुरुष बहुवचन में 'ध्वम्' और ध्वात्' दोनों प्रत्यय लगते हैं। जैसे—

वारयध्वम, वारयध्वात् ।

(५) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में त, तात्, तम, थन आदि प्रत्यय लगते हैं जैसे—

कृ धातु से—कृणुतु, कृणुतात् कृणुतन ।

धातु से—दधातन । यत् धातु से—यतिष्ठन् ।

(६) वेदों में लेट् लकार का प्रयोग होता है। लेट् लकार में धातु के अनेक रूप बनते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तारिषत् । भवाति । यजाति । पताति । करवाव । करणव । मन्त्रयैते ।

(७) वेदों में 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में निम्नलिखित प्रत्यय लगते हैं।—

ए—हरो, भुवे ।

असे—जीवसे, चक्षसे ।

तवे—कर्त्तवे, दातवे ।

तवै—दातवै, प्रतवै ।

ध्यै—पिबध्यै, गमध्यै ।

तये—सातये, पीतये ।

मने—दामने ।

(८) तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में पञ्चमी एवं षष्ठी अर्थबोधक 'अस्' और 'तोस' प्रत्यय लगते हैं। जैसे—

विसृपः आतृपः, उदेतोः, गन्तोः ।

(९) क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में त्वा, त्वी, त्वाय प्रत्यय लगाकर रूप बनते हैं जैसे—

गम् धातु से—गत्वा, गत्वी, गत्वाय ।

(१०) तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में—धातुज संज्ञा से एवं सन् प्रत्यायान्त संज्ञा सप्तम्यन्त बोधक अर्थ में 'इ' प्रत्यय लगता है जैसे—

धातुज संज्ञा से—बुधि । दृशि । संहाशि ।

मनु प्रत्ययान्त संज्ञा से—पर्षाणि । नेषाणि । तरीषणि

वैदिक स्वर

वेदों के अध्ययन में स्वर-शास्त्र का विशेष महत्त्व है; क्योंकि वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं अर्थबोध के लिए स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसी महत्त्व के कारण सभी प्रातिशाख्यों में स्वरों का समुचित प्रतिपादन किया गया है। वैदिक वाङ्मय में मुख्यतः तीन स्वर मान्य हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।[1] इनमें उच्च ध्वनि से उच्चारित स्वर उदात्त कहलाता है और नीची ध्वनि से उच्चारित स्वर अनुदात्त होता है।[2] इन दोनों प्रयत्नों में उच्चारित स्वर स्वरित कहलाता है। अर्थात् स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों स्वरों के धर्म (गुणों) का मिश्रण होता है।[3] इस प्रकार उदात्त और अनुदात्त दोनों वर्ण-धर्मों का जहाँ एकत्र समाहार हो उसे स्वरित कहते हैं। इन तीन स्वरों के अतिरिक्त प्रचय (एकश्रुति) नामक एक चौथा स्वर भी होता है। जब स्वरित के बाद आने वाला अनुदात्त स्वर उदात्त के समान उच्चारित होने लगता है, तो वह 'प्रचय' कहलाता है।

वैदिक स्वरों के पहचान के लिए चिह्न लगे होते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगता है किन्तु अनुदात्त स्वर में नीचे (_) चिह्न लगता है और स्वरित में ऊपर (।) चिह्न लगता है। प्रचय पर उदात्त के समान कोई चिह्न नहीं लगता है, अतः दोनों पर कोई चिह्न न होने के कारण उदात्त और प्रचय के पहचान में कठिनाई हो सकती है। किन्तु उच्चारण से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। यदि अनुदात्त के बाद बिना चिह्न का वर्ण हो तो वह उदात्त कहलाता है और स्वरित के बाद में आनेवाला बिना चिह्न का वर्ण 'प्रचय' होता है। सामवेद में उदात्त पर '१' का अङ्क, अनुदात्त पर '३' का और स्वरित पर '२' का अङ्क लगाया जाता है किन्तु प्रचय पर कोई चिह्न नहीं लगता।

उदात्त और अनुदात्त दोनों के मेल से स्वरित स्वर निष्पन्न होता है। स्वरित में उदात्त एवं अनुदात्त धर्मों का मिश्रण जतुकाण्डन्याय के सदृश होता है। प्रातिशाख्यों में स्वरित के सात भेद बताये गये हैं—तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, वैवृत, जात्य, प्रश्लिष्ट, क्षैप्र और अभिनिहित।

व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी उदात्त के बाद का अनुदात्त जहाँ स्वरित हो जाता है वह 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' कहलाता है। जैसे—ईळे। हव्यं। रत्नं।

---

१. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।

२. उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। (वा० प्रा० १।१०८-१०९)

३. समाहारः स्वरितः। उभयवान् स्वरितः (वा० प्रा० १।११०)

तैरोविराम स्वरित का अपरनाम वैरोऽवग्रह स्वरित है। अवग्रह (ऽ) का व्यवधान होने पर भी पूर्वपद्य के अन्तिम उदात्त स्वर के प्रभाव से उत्तरपद्य का प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे—गुणऽपतिम्। पुरः ऽहितम्। गोऽपते। इसी प्रकार विवृत्ति का व्यवधान होने पर भी पदान्त उदात्त के बाद का अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे—य इन्द्र।

जात्य स्वरित—एक पद में जिस स्वरित के पूर्व में कोई उदात्त नहीं होता है वह "जात्य स्वरित' कहलाता है। जात्य स्वरित 'य्' अथवा 'व्' से अन्त होने वाले संयुक्ताक्षर में पाया जाता है। यदि जात्य स्वरित के अनन्तर उदात्त हो तो दीर्घ होने पर ३ का अङ्क लिखकर उस पर अनुदात्त और स्वरित दोनों चिह्न लगते हैं। जात्यस्वरित दो प्रकार का होता है—अपूर्व जात्यस्वरित और अनुदात्तपूर्व जात्यस्वरित। अपूर्व जात्यस्वरित के उदाहरण स्वः, क्व, त्यक् हैं। अनुदात्तपूर्व जात्यस्वरित का उदाहरण कन्या है। 'वर्ष्यो३ अह' तथा 'वर्ष्यं१ नमः' इनमें प्रथम उदाहरण में दीर्घस्वरित के बाद उदात्त स्वर है अतः दीर्घस्वरित के बाद ३ का अङ्क लगाकर चिह्नित कर दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में ह्रस्व स्वरित के अनन्तर '१' का अङ्क लगाकर उसे '१' चिह्नित कर दिया गया है।

प्रश्लिष्ट स्वरित—प्रश्लिष्ट सन्धि में एक ओर उदात्त होने पर सन्ध्य स्वर उदात्त होता है किन्तु दो ह्रस्व इकारों की सन्धि में पदान्त उदात्त और पदादि अनुदात्त को सन्धि में स्वरित हो जाता है। जैसे—स्रुचिऽइव=स्रुचीव। अभि इन्धताम्=अभीन्धताम्। अन्य सभी सन्धियों में उदात्त तथा अनुदात्त की सन्धि होने पर उदात्त स्वर होता है। जैसे—वि हिईम् इद्धः=वि हीमिद्धः।

क्षेप्र स्वरित—उदात्त स्वर तथा अनुदात्त असवर्ण स्वर की सन्धि होने पर सन्ध्यक्षर स्वरित होता है। जैसे—नु+इन्द्र=न्विन्द्र।

अभिनिहित स्वरित—उदात्त ए, ओ के साथ परवर्त्ती अनुदात्त अ के साथ सन्धि होने पर सन्ध्यक्षर स्वरित होता है। जैसे—ते+अवर्धन्त=तेऽवर्धन्त।

विशेष—प्रत्येक पद में एक उदात्त होता है और उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है। जैसे—अग्निर्भिः।

प्रचय—प्रथम मूलतः उदात्त होता है किन्तु जब स्वरित के बाद आने वाला अनुदात्त उदात्त के समान उच्चारित होता है तब वह प्रचय कहलाता है, चाहे वह एक अनुदात्त हो या अनेक। जैसे—

अग्ने अङ्गिरः। वाजे वाजेऽवत वाजिनः। नासत्याभ्याम्। इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति।

कम्प स्वर—जात्य, प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, अभिनिहित के बाद उदात्त या स्वरित आने पर वह कम्प हो जाता है। यदि जात्य स्वरित ह्रस्व हो तो कम्पस्वर को '१' संख्या लिखकर व्यक्त करते हैं और दीर्घ होने पर '३' के चिह्न से व्यक्त करते हैं। जैसे—

वीर्यं१ मिन्द्र। अमी३ दम्। दिवो३ ऽस्मे। न्य१ न्यम्॥

स्वर-नियम

(१) प्रातिपदिक का अन्त वर्ण उदात्त होता है। जैसे—देवः। देवान्।

(२) सर्व शब्द का आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—सर्वं।

(३) ञित् (जिसमें ञ् की इत्संज्ञा हो) तथा नित् (जिसमें न् की इत्संज्ञा हो) शब्दों का आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—पौंस्या।

(४) वृष, जन, हय, चय, वेद, गुहा, अंश, मन्त्र, शान्ति, काम, याम, पाद, धारा, कल्प, इन्द्र, अश्व, वाज, वर्ण, दास, ग्रह आदि शब्दों का आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—

वाजेभिः। इन्द्रं।

(५) युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के ङसि, ङे विभक्ति में आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—तवं। ममं। तुभ्यम्। मह्यम्।

(६) य अन्त वाला स्त्रीलिङ्ग शब्द अन्तोदात्त होता है किन्तु पुलिङ्ग में य का पूर्व वर्ण उदात्त होता है। जैसे—

जाया। माया (स्त्रीलिङ्ग)। सूर्यः। क्षत्रियः (पुंल्लिङ्ग)।

(७) ह्रस्वान्त स्त्रीलिङ्ग में आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—तनुः। वलिः।

(८) त, ण, ति, नि, त् अन्त वाले शब्द तथा उन, वन्, ऋ अन्त वाले शब्दों में आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—शितिः। पृश्निः।

(९) इकारान्त एवं उकारान्त शब्दों का आदि वर्ण उदात्त होता है। जैसे—कृषिः। अहिम्। सिन्धून्।

(१०) प्र, आ, निः, दुः, वि, सम्, नि, सु, उत् ये एक अक्षर वाले नौ उपसर्ग उदात्त होते हैं और परा, अनु, उप, अप, परि, प्रति, अति, अधि, अव, अपि दो अक्षर वाले इन दस उपसर्गों का आदि वर्ण उदात्त होता है। इनके अतिरिक्त अभि उपसर्ग का अन्तिम वर्ण उदात्त होता है। जैसे—प्र याहि। आ गमत्। परि। प्रति। अभि।

(११) च, वा, उ, घ, ह, चित्, स्म, स्वित्, त्व, त्वा, सम्, ईम्, सीम्, मा, नौ, वाम्, वः, नः, ते, मे, ये सर्वानुदात्त होते हैं। जैसे—चित्। नः। च। स्वित्।

(१२) सम्बोधन यदि पद के आदि में न हों तो सर्वानुदात्त होता है। जैसे—स जनासः इन्द्रः।

(१३) मुख्य वाक्य की क्रिया यदि पाद के प्रारम्भ में न हो तो सर्वानुदात्त होता है। जैसे—

अग्निम् ईळे। आ इह वक्षति। सः इत् देवेषु गच्छति।

(१४) सम्बोधन के बाद में आने वाला क्रियापद सर्वानुदात्त नहीं होता है। जैसे—अग्ने जुषस्व।

(१५) यदि क्रिया के पूर्व यत्, यदि, हन्त, चेत्, यत्र, हि, यावत्, यथा आवे तो सर्वानुदात्त नहीं होता, बल्कि क्रियापद उदात्त होता है। जैसे—आ हि जुह्वे।

(१६) धातु के पूर्व आगम होने पर 'अ' उदात्त होता है। जैसे—अभवत्।

(१७) त्वा, त्वीय, त्वाय, वन्, ति प्रत्यय लगने पर प्रत्यय उदात्त होता है। जैसे—पीत्वा। कृत्वा। पीतये।

(१८) इष्ठन् और ईयस् प्रत्यय होने पर मूल शब्द उदात्त होता है। जैसे—यजिष्ठा। जवीयांसः।

(१९) मकारान्त पद में 'म' उदात्त होता है। जैसे—अष्टम। शततम।

(२०) तत्पुरुष समास में अन्तिम पद उदात्त होता है। जैसे—गोत्रभिद्।

(२१) पति अन्त वाले तत्पुरुष समास में दो उदात्त होते हैं। जैसे—वनस्पतिः, बृहस्पतिः।

(२२) कर्मधारयसमास में अन्तवर्ण उदात्त होता है। जैसे—प्रथमजा।

(२३) द्वन्द्व समास में देवतावाचक नाम होने पर दोनों पदों पर उदात्त होता है। जैसे—द्यावापृथिवी।

(२४) बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद पर उदात्त होता है। जैसे—राजपुत्र।

(२५) जहाँ पर एक ही शब्द की पुनरावृत्ति हो, वहाँ पूर्वपद पर उदात्त लगता है। जैसे—अहरहः।

सामवेद के स्वर—ऋग्वेद में जो स्वर चिह्नों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, सामवेद में वही अङ्कों द्वारा दिखाया जाता है। ऋग्वेद में उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं लगता है किन्तु सामवेद में उदात्त के लिए १ का अङ्क लगता है। ऋग्वेद में स्वरित के लिए ऊपर खड़ी रेखा (।) लगायी जाती है सामवेद में स्वरित के लिए २ का अङ्क लगता है। ऋग्वेद में अनुदात्त के लिए नीचे बेड़ी रेखा (_) लगती है और सामवेद में उसके लिए ३ का अङ्क लगता है। सामवेद में प्रचय पर कोई चिह्न नहीं लगता है। जैसे—अग्न आ याहि वीतये।

पदपाठ के नियम

वेदों के संहितापाठ की सुरक्षा के लिए ऋषियों ने पदपाठ की पद्धति अपनायी है। पदपाठ में संहितापाठ के मन्त्रों के प्रत्येक पद को सन्धि-विच्छेद कर अलग-अलग पढ़ा जाता है। जैसे—अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्।

सामान्य-नियम—संहितापाठ में विद्यमान सन्धियों का विच्छेद करके अलग-अलग रखना चाहिए और प्रत्येक पद के बाद पूर्ण विराम (।) का चिह्न लगाना चाहिए। संहितापाठ के अनुस्वार को पदपाठ में 'म्' के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। जैसे—

संहितापाठ—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

पदपाठ—अग्निम्। ईळे। पुरः ऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्।

१. इति का प्रयोग—

(१) प्रगृह्यसंज्ञक ई, ऊ, ए के बाद 'इति' लगाया जाता है। जैसे—क्रन्दसी इति। द्यावापृथिवी इति। इन्द्रवायू इति। तस्तभाने इति।

(२) 'उ' निपात को दीर्घ एवं अनुनासिक करके (ऊँ) 'इति' लगाया जाता है। जैसे—उ = ऊँ इति।

(३) ओकारान्त निपात के बाद भी 'इति' लगता है। जैसे—अघो इति। इन्द्रो इति। एषो इति।

(४) सप्तम्यन्त पद में प्रयुक्त ई, ऊ के बाद 'इति' लगता है। जैसे—सरसी इति। रोदसी इति।

(५) अस्मे, युष्मे, त्वे आदि के बाद भी 'इति' लगता है। जैसे—अस्मे इति। युष्मे इति।

(६) संहितापाठ में सन्धि-नियम के कारण यदि विसर्ग को 'र्' न हो सका हो तो पदपाठ में उसके आगे 'इति' लगाकर विसर्ग को 'र्' कर दिया जाता है। जैसे—अन्तः = अन्तरिति। सवितः = सवितरिति।

(७) यदि सम्बोधन के अन्त में 'ओ' आवे तो उसके बाद 'इति' लगता है। जैसे—विष्णो इति। भानो इति।

२. अवग्रह-सम्बन्धी नियम—

(१) द्वन्द्वसमास तथा नञ्समास को छोड़कर समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ) लगता है। जैसे—विश्वऽवेदसे। भूरिऽभृङ्गा इव।

(२) उपसर्ग के बाद कृदन्त या संज्ञा शब्द हो तो उनके बीच में अवग्रह (ऽ) लगता है। जैसे—प्रऽजा। सुऽशिप्रः। विऽभुः।

(३) यदि प्रकृति में कोई विकार न हुआ तो प्रत्यय तथा विभक्ति के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है। जैसे—हरिऽभ्याम्। चतुःऽभिः। अप्ऽसु। देवऽत्वम्। तस्थिऽवांसम्। ऋतुऽथा।

विशेष—भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु, त्व, तरप्, तमप्, वतुप्, मतुप्, क्वसु, क्यच्, क्यङ्, क्यप् आदि प्रत्ययों के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है।

(४) यदि उपसर्ग और प्रत्यय दोनों एक साथ हो तो प्रत्यय के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है। जैसे—आतस्थिऽवांसौ।

(५) यदि किसी शब्द के साथ इव लगा हो तो इव के पूर्व अवग्रह (ऽ) लग जाता है। जैसे—प्रवर्धिनीऽइव।

३. परिग्रह-सम्बन्धी नियम—

(१) प्रगृह्य संज्ञक (द्विवचन ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त) समस्त पद में 'इति' लगाकर दुहराया जाता है और आवृत्त पद में 'इव' के पूर्व अवग्रह (ऽ) लग जाता है। जैसे—संयती इति सम्ऽयती।

किन्तु द्वन्द्व समास में केवल 'इति' लगता है, दुहराया नहीं जाता। जैसे—क्रन्दसी इति। द्यावापृथिवी इति।

(२) प्रगृह्यसंज्ञक पदों के साथ इव का समास होने पर 'इति' लगाकर दुहराया जाता है और आवृत्त पद में इव के पूर्व अवग्रह (ऽ) लग जाता है। जैसे—दम्पती इव इति दम्पतीऽइव।

(३) यदि क्रियापद के साथ विसर्ग के स्थान पर रेफ न हो सका हो तो पदपाठ में 'इति' लगाकर दुहराया जाता है। जैसे—अकरित्यकः। स्युरिति स्युः।

(४) स्वः के बाद भी 'इति' लगाकर दुहराया जाता है। जैसे—स्वरिति स्वः।

(५) प्लुत होने के कारण जहाँ दीर्घस्वर हुआ हो उसे 'ह्रस्व' कर दिया जाता है। जैसे—अच्छावद = अच्छवद।

विशेष—(क) ऋग्वेदसंहिता में पदपाठ में अवग्रह (ऽ) दिखाने के लिए शब्दों की आवृत्ति नहीं की जाती है किन्तु यजुर्वेद में अवग्रह (ऽ) दिखाने के लिए शब्दों की आवृत्ति की जाती है। जैसे—श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। ऊँऽइत्यूँ। स्वयंभूरिति स्वयम्ऽभूः।

(ख) अथर्ववेद में पदपाठ ऋग्वेद के समान होता है किन्तु इनमें अवग्रह के स्थान पर विन्दु (०) लगता है। जैसे—त्रि० सप्त।

(ग) सामवेद में केवल शब्दों को ही अलग नहीं किया जाता है, वल्कि पदांशों का भी पदच्छेद किया जाता है। जैसे—हव्ये दातये हव्यदातये।

परिशिष्ट—२

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. अथर्वप्रातिशाख्य
२. अथर्ववेद (सायणभाष्य)
३. अनुवाकानुक्रमणी
४. अष्टाध्यायी (पाणिनि)
५. आपस्तम्बपरिभाषा
६. आपस्तम्बगृह्यसूत्र
७. आपस्तम्बधर्मसूत्र
८. आश्वलायनगृह्यसूत्र
९. आश्वलायनश्रौतसूत्र
१०. ईशावास्योपनिषद् (डा० पारसनाथ द्विवेदी) मोहन प्रकाशन मन्दिरआगरा
११. ईशादि नव उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
१२. ऋक्प्रातिशाख्य
१३. ऋग्वेदभाष्य
१४. ऋक्तन्त्र (सूर्यकान्त) लाहौर।
१५. ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य) मैक्समूलर द्वारा सम्पादित
१६. ऋग्वेदभाष्यभूमिका (सायण) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
१७. ऐतरेयोपनिषद्
१८. ऐतरेयब्राह्मण (सायणभाष्य) आनन्दाश्रम, पूना
१९. ऐतरेयारण्यक
२०. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
२१. कात्यायनश्रौतसूत्र
२२. कृष्णयजुर्वेदसंहिता
२३. कूर्मपुराण—गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता
२४. केनोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर
२५. कौषीतकि आरण्यक
२६. कौषीतकि उपनिषद्
२७. कौषीतकि ब्राह्मण

२८. गीतगोविन्द—चौखम्बा, वाराणसी
२९. गोपथब्राह्मण
३०. गौतमधर्मसूत्र
३१. चरणव्यूह
३२. छान्दोग्योपनिषद् (गीताप्रेस, गोरखपुर)
३३. जैमिनीयसूत्र
३४. ताण्डवब्राह्मण
३५. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
३६. तैत्तिरीयब्राह्मण
३७. तैत्तिरीयसंहिता
३८. तैत्तिरीयसंहिताभाष्य
३९. तैत्तिरीयारण्यक
४०. तैत्तिरीयोपनिषद्
४१. न्यायमञ्जरी
४२. निघण्टु—गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता
४३. निरुक्त—गुरुमण्डलग्रन्थमाला, कलकत्ता
४४. पाणिनीयशिक्षा—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
४५. पारस्करगृह्यसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
४६. पुष्पसूत्रभाष्य—चौखम्बा, वाराणसी
४७. प्रश्नोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर
४८. बृहदारण्यकोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर
४९. बृहद्देवता (शौनक) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
५०. बौधायनधर्मसूत्र
५१. बौधायनश्रौतसूत्र
५२. भागवतपुराण—गीताप्रेस, गोरखपुर
५३. मनुस्मृति (मन्वर्थमुक्तावली) चौखम्बा, वाराणसी
५४. महाभारत—गीताप्रेस, गोरखपुर
५५. महाभाष्य—(पतंजलि) चौखम्बा, वाराणसी
५६. महानारायणोपनिषद्
५७. माण्डूक्योपनिषद्
५८. मुक्तिकोपनिषद्
५९. मुण्डकोपनिषद्
६०. मैत्रायणीसंहिता
६१. यजुर्वेद-भाष्य

६२. याज्ञवल्क्यशिक्षा
६३. वाजसनेयिसंहिता (महीधरभाष्य)
६४. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य
६५. विष्णुधर्मसूत्र
६६. विष्णुपुराण—गीताप्रेस, गोरखपुर
६७. वेदाङ्गज्योतिष (लगध)
६८. शतपथब्राह्मण (वेबर)
६९. शाबरभाष्य
७०. शुक्लयजुर्वेदसंहिता—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
७१. श्वेताश्वतरोपनिषद्
७२. षड्विंशब्राह्मण
७३. षड्गुरुशिष्य
७४. सामविधानब्राह्मण
७५. सामप्रातिशाख्य
७६. सामवेदसंहिता
७७. सिद्धान्तकौमुदी—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

हिन्दी के सहायक ग्रन्थ

१. आर्यों का आदिदेश (डा० सम्पूर्णानन्द) भारती भण्डार, इलाहाबाद
२. आर्कटिक होम इन द वेदाज (बालगंगाधर तिलक) पूना।
३. ऋग्वेदिक इण्डिया (डा० अविनाशचन्द)
४. एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन (पार्जिटर)
५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—प्रथमभाग
६. गीतारहस्य (तिलक) पूना
७. धर्मशास्त्र का इतिहास (काणे) हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश, लखनऊ
८. प्राचीन भारतीय साहित्य (विन्टरनिट्ज) प्रथम भाग—प्रथम खण्ड मोतीलाल बनारसीदास (वाराणसी)
९. भारतीय इतिहास की रूपरेखा
१०. भारतीय ज्योतिष का इतिहास (डा० गोरखनाथ)
११. भारतीय ज्योतिषशास्त्र (शङ्करबालकृष्ण दीक्षित)
१२. भारतीय-दर्शन (डा० पारसनाथ द्विवेदी) श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

१३. भारतीय-दर्शन (डा० राधाकृष्णन्) राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१४. वेदकालीन समाज (डा० शिवदत्तज्ञानी) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
१५. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त वैदिक) प्रणव प्रकाशन, दिल्ली
१६. वैदिक साहित्य (रामगोविन्द त्रिवेदी) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१७. वैदिक साहित्य और संस्कृति (बलदेव उपाध्याय) शारदा संस्थान, वाराणसी
१८. संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्रथम भाग (मैकडानल), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
१९. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास—चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय)
२१. हिन्दुराजतन्त्र—काशीप्रसाद जायसवाल

●

परिशिष्ट–३

शब्दानुक्रमणिका

'अ'

'ख'

'ग'

'ब'

'भ'

'म'

'ष'

'स'

वैदिक साहित्य का इतिहास

अतिलघूत्तरीय प्रश्न

(१) प्रश्न– विश्व-साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ कौन-सा है ?
उत्तर– विश्व-साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेद' है।

(२) प्रश्न– वेदों के अन्तर्गत क्या-क्या समावेश किया गया है ?
उत्तर– वेदों के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि का समावेश है।

(३) प्रश्न– वेदों में क्या-क्या विषय उपलब्ध है ?
उत्तर– वेदों में ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, सदाचार-संस्कृति, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित सभी विषय उपलब्ध है।

(४) प्रश्न– विद्वानों ने वेद को किस रूप में माना है ?
उत्तर– विद्वानों ने वेद को विश्वकोष के रूप में माना है।

(५) प्रश्न– मनु ने धर्मों का मूल किसे माना है ?
उत्तर– मनु ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' माना है।

(६) प्रश्न– 'वेद' का क्या अर्थ है ?
उत्तर– 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ होता है—'ज्ञान'।

(७) प्रश्न– वेद कितने हैं ?
उत्तर– वेद चार हैं।

(८) प्रश्न– मैक्समूलर के मत से ऋग्वेद का रचनाकाल कब माना गया है ?
उत्तर– मैक्समूलर के मत में ऋग्वेद का रचनाकाल १२०० वि०पू० है।

(९) प्रश्न– मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य को कितने युगों में विभाजित किया है ?
उत्तर– मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य को चार युगों में विभाजित किया है।

(१०) प्रश्न– मैक्समूलरकृत चार युग कौन-कौन हैं ?
उत्तर– छन्दयुग, मन्त्रयुग, ब्राह्मणयुग तथा सूत्रयुग।

(११) प्रश्न– चार वेद कौन-कौन हैं ?
उत्तर– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद।

(१२) प्रश्न– सबसे प्राचीन वेद कौन है ?
उत्तर– ऋग्वेद।

(१३) प्रश्न– ऋत्विज कितने प्रकार के होते हैं ?
उत्तर– ऋत्विज चार प्रकार के होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा।

(१४) प्रश्न– वेद को सुगम बनाने के लिए किसने शाखाओं में विभाजित किया ?
उत्तर– वेद को सुगम बनाने के लिए व्यास ने इसे शाखाओं में विभाजित किया।

(१५) प्रश्न– 'होता' किसे कहा जाता था ?
उत्तर– जो ऋत्विज यज्ञ के अवसर पर स्तुतिपरक मन्त्रों के उच्चारण द्वारा देवताओं का आह्वान करता था, उसे 'होता' कहते थे।

(१६) प्रश्न– होता के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संकलन किसमें किया गया है ?
उत्तर– होता के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में किया गया है।

(१७) प्रश्न– सामवेद का ऋत्विज कौन था ?
उत्तर– सामवेद का ऋत्विज 'उद्‌गाता' होता था।

(१८) प्रश्न– अथर्ववेद का ऋत्विज कौन था ?
उत्तर– अथर्ववेद का ऋत्विज 'ब्रह्मा' होता था।

(१९) प्रश्न– ब्रह्मा का कार्य क्या होता था ?
उत्तर– यज्ञ का विधिवत् निरीक्षण करना तथा यज्ञ में होने वाले विघ्नों का निवारण करना ब्रह्मा का कार्य होता था।

(२०) प्रश्न– अध्वर्यु के मन्त्रों का संकलन किस वेद में किया गया है ?
उत्तर– अध्वर्यु के मन्त्रों का संकलन यजुर्वेद में किया गया है।

(२१) प्रश्न– मन्त्र किसे कहते हैं ?
उत्तर– जिसका मनन किया जाय, उसे 'मन्त्र' कहते हैं (मननात् मन्त्राः)।

(२२) प्रश्न– ब्राह्मण किसे कहते हैं ?
उत्तर– यज्ञिय विधि की विधान को बतलाने वाले ग्रन्थ का नाम 'ब्राह्मण' है।

(२३) प्रश्न– वेद के तीन भाग कौन-कौन हैं ?
उत्तर– १. ब्राह्मण, २. आरण्यक और ३. उपनिश्रद् । इसमें कर्मकाण्ड को 'ब्राह्मण', उपासनाकाण्ड को 'आरण्यक' और ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहा जाता है।

(२४) प्रश्न– ऋग्वेद कितने मण्डलों में विभक्त है ?
उत्तर– दस मण्डलों में।

(२५) प्रश्न– ऋग्वेद में कितने सूक्त और कितनी ऋचायें हैं ?
उत्तर– ऋग्वेद में १०२८ सूक्त और १०५८१ ऋचायें हैं।

(२६) प्रश्न– यजुर्वेद के कितने रूप उपलब्ध हैं ?
उत्तर– यजुर्वेद के दो रूप उपलब्ध हैं—शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद।

(२७) प्रश्न– शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें कौन हैं ?
उत्तर– माध्यन्दिन और काण्व।

(२८) प्रश्न– कृष्ण यजुर्वेद की सम्प्रति कितनी शाखायें है तथा कौन-कौन ?

उत्तर– कृष्ण यजुर्वेद की सम्प्रति चार शाखायें हैं—१. तैत्तिरीय, २. मैत्रायणी, ३. काण्व और ४. कठ।

(२९) प्रश्न– सामवेद की सम्प्रति कितनी शाखायें उपलब्ध हैं ?

उत्तर– सामवेद की सम्प्रति तीन शाखायें उपलब्ध हैं—कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय।

(३०) प्रश्न– कौथुम शाखा के दो भेद कौन हैं ?

उत्तर– उत्तरार्चिक और पूर्वार्चिक।

(३१) प्रश्न– अथर्ववेद में किस प्रकार के मन्त्रों का संकलन है ?

उत्तर– अथर्ववेद में अभिचार एवं उपचारमन्त्रों का संकलन है।

(३२) प्रश्न– अथर्ववेद की कितनी शाखायें उपलब्ध हैं तथा कौन-कौन ?

उत्तर– अथर्ववेद की दो शाखायें उपलब्ध हैं—शौनक और पैप्पलाद।

(३३) प्रश्न– ऋग्वेद के ब्राह्मण कौन-कौन हैं ?

उत्तर– ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकी ब्राह्मण।

(३४) प्रश्न– शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण कौन है ?

उत्तर– शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण हैं।

(३५) प्रश्न– कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण कौन है ?

उत्तर– कृष्ण युजर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है।

(३६) प्रश्न– सामवेद के कितने ब्राह्मण हैं तथा कौन-कौन ?

उत्तर– सामवेद के चार ब्राह्मण हैं—ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण तथा जैमिनीय ब्राह्मण।

(३७) प्रश्न– अथर्ववेद का ब्राह्मण कौन है ?

उत्तर– अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है।

(३८) प्रश्न– आरण्यक किसे कहा जाता है ?

उत्तर– एकान्त जनशून्य अरण्य में ऋषियों एवं मुनियों ने ब्रह्मचर्य में रत होकर ज़िस विद्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है, उसे 'आरण्यक' कहा जाता है।

(३९) प्रश्न– सबसे अर्वाचीन वेद कौन है ?

उत्तर– अथर्ववेद।

(४०) प्रश्न– ऋग्वेद के आरण्यक कौन-कौन हैं ?

उत्तर– ऋग्वेद के आरण्यक हैं—ऐतरेयारण्यक और शाँखायन या कौषीकी आरण्यक।

(४१) प्रश्न– शुक्लयजुर्वेद का आरण्यक कौन है ?

उत्तर– शुक्लयजर्वेद का आरण्यक बृहदारण्यक है।

(४२) प्रश्न– कृष्णयजुर्वेद का आरण्यक कौन है ?
उत्तर– कृष्णयजुर्वेद का आरण्यक तैत्तिरीयारण्यक है।

(४३) प्रश्न– सामवेद के आरण्यक कौन-कौन हैं ?
उत्तर– सामवेद के दो आरण्यक हैं—छान्दोग्य आरण्यक तथा जैमिनीय आरण्यक।

(४४) प्रश्न– अथर्ववेद का आरण्यक कौन है ?
उत्तर– अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

(४५) प्रश्न– उपनिषद् किसे कहते हैं ?
उत्तर– ब्राह्मण भाग के ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहते हैं।

(४६) प्रश्न– मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या कितनी हैं ?
उत्तर– १०८ हैं।

(४७) प्रश्न– वर्तमान में कितने प्रसिद्ध उपनिषद् हैं ?
उत्तर– वर्तमान में प्रसिद्ध बारह उपनिषद् हैं।

(४८) प्रश्न– ऋग्वेद के कितने उपनिषद् हैं तथा कौन-कौन ?
उत्तर– ऋग्वेद के दो उपनिषद हैं—ऐतरेयोपनिषद् और कौषीतकी उपनिषद्।

(४९) प्रश्न– शुक्लयजुर्वेद के उपनिषद कौन-कौन हैं ?
उत्तर– शुक्लयजुर्वेद के दो उपनिषद् हैं—ईशोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्।

(५०) प्रश्न– कृष्णयजुर्वेद के कितने उपनिषद् हैं तथा कौन-कौन ?
उत्तर– कृष्णयजुर्वेद के तीन उपनिषद् हैं—तैत्तिरीयोपनिषद्, कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्।

(५१) प्रश्न– सामवेद के कौन-कौन उपनिषद् हैं ?
उत्तर– सामवेद के दो उपनिषद् हैं—छान्दोग्योपनिषद् तथा केनोपनिषद्।

(५२) प्रश्न– अथर्ववेद के कितने उपनिषद् हैं तथा कौन-कौन ?
उत्तर– अथर्ववेद के तीन उपनिषद् हैं—मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद्।

(५३) प्रश्न– सूत्रसाहित्य किसे कहते हैं ?
उत्तर– छोटे शब्दों द्वारा अधिक अर्थ का ज्ञान कराने वाले साहित्य को 'सूत्रसाहित्य' कहते हैं।

(५४) प्रश्न– वेदाङ्ग के अन्तर्गत कौन-कौन आते हैं ?
उत्तर– शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द तथा ज्योतिष आते हैं।

(५५) प्रश्न– वेदाङ्ग किसे कहते हैं ?
उत्तर– सुगमतापूर्वक वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसे 'वेदाङ्ग' कहते हैं।

(५६) प्रश्न– शिक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर– जहाँ स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण-प्रकार का उपदेश दिया जाता है, उसे 'शिक्षा' कहते हैं।

(५७) प्रश्न– **कल्प किसे कहते हैं ?**

उत्तर– वेद में विहित कार्यों को क्रमशः व्यवस्थित करने वाला शास्त्र 'कल्प' कहलाता है।

(५८) प्रश्न– **कल्पसूत्र के कितने भेद हैं तथा कौन-कौन ?**

उत्तर– कल्पसूत्र के चार भाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र।

(५९) प्रश्न– **भारतीय गणितशास्त्र (रेखागणित) का अभ्युदय किससे माना जाता है ?**

उत्तर– भारतीय गणितशास्त्र (रेखागणित) का अभ्युदय शुल्बसूत्रों से ही माना जाता है।

(६०) प्रश्न– **व्याकरण किसे कहते हैं ?**

उत्तर– शब्दव्युत्पति शास्त्र को 'व्याकरण' कहते हैं।

(६१) प्रश्न– **व्याकरणशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ कौन है ?**

उत्तर– व्याकरणशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' है।

(६२) प्रश्न– **निरुक्त किसे कहते हैं ?**

उत्तर– निरुक्त में संकलित शब्दों का निर्वचन प्रतिपादित है।

(६३) प्रश्न– **वैदिक छन्द मुख्यतः कितने हैं ?**

उत्तर– वैदिक छन्द मुख्यतः सात हैं।

(६४) प्रश्न– **छन्दःशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ कौन है ?**

उत्तर– छन्दःशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ 'पिङ्गलसूत्र' है।

(६५) प्रश्न– **निरुक्त के रचनाकार कौन हैं ?**

उत्तर– निरुक्त के रचनाकार यास्क हैं।

(६६) प्रश्न– **ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार कौन हैं ?**

उत्तर– ऋग्वेद के प्रथम व सबसे प्राचीन भाष्यकार स्कन्दस्वामी है।

(६७) प्रश्न– **सामवेद के प्रथम भाष्यकार कौन हैं ?**

उत्तर– सामवेद के प्रथम भाष्यकार माधव हैं।

(६८) प्रश्न– **'असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय'। यह मन्त्र कहाँ से लिया गया है ?**

उत्तर– वृहदारण्यकोपनिषद् से।

(६९) प्रश्न– **'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद।' किस उपनिषद् से लिया गया है ?**

उत्तर– तैत्तिरीयोपनिषद् से।

(७०) प्रश्न– वेद का मुख किसे कहा गया है ?
उत्तर– व्याकरणशास्त्र को ।

(७१) प्रश्न– वेदाङ्ग का विस्तार स्वरूप शिक्षानामक भाग किस ग्रन्थ में मिलता है ?
उत्तर– प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ।

(७२) प्रश्न– ऋग्वेद का उपवेद कौन है ?
उत्तर– गान्धर्ववेद ।

(७३) प्रश्न– यजुर्वेद का उपवेद कौन है ?
उत्तर– आयुर्वेद ।

(७४) प्रश्न– सामवेद का उपवेद कौन है ?
उत्तर– अर्थवेद ।

(७५) प्रश्न– अथर्ववेद का उपवेद कौन है ?
उत्तर– धनुर्वेद ।

(७६) प्रश्न– 'विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मि अनातुरम्' यह सूक्ति किस वेद का है ?
उत्तर– ऋग्वेद का ।

(७७) प्रश्न– 'शं नः कुरु प्रजाभ्यः' यह सूक्ति किस वेद का है ?
उत्तर– यजुर्वेद का ।

(७८) प्रश्न– 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' यह कौन वेद कहता है ?
उत्तर– अथर्ववेद ।

(७९) प्रश्न– 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या' ऐसा कथन किस वेद में है ?
उत्तर– अथर्ववेद में ।

(८०) प्रश्न– शची-इन्द्र के पुत्र का नाम क्या है ?
उत्तर– जयन्त ।

(८१) प्रश्न– देवलोक के वैद्य कौन हैं ?
उत्तर– अश्विनीकुमार ।

(८२) प्रश्न– अगस्त्य मुनि की पत्नी का क्या नाम था ?
उत्तर– लोपामुद्रा ।

(८३) प्रश्न– किस महर्षि की पत्नी पर इन्द्र आसक्त हुए थे ?
उत्तर– गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या पर ।

(८४) प्रश्न– अरुन्धती किस ऋषि की पत्नी थी ?
उत्तर– वशिष्ठ ऋषि की ।

(८५) प्रश्न– शर्मिष्ठा किसकी पुत्री थी ?
उत्तर– वृषपर्वा की ।

(८६) प्रश्न– कौन सूर्यवंशी राजा थे, जिनके साठ हजार पुत्र थे ?

उत्तर– सगर के।

(८७) **प्रश्न– महीधर कौन थे ?**
उत्तर– शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के द्वितीय भाष्यकार महीधर थे।

(८८) **प्रश्न– भरतस्वामी कौन थे ?**
उत्तर– भरत स्वामी सामसंहिता के भाष्यकार थे।

(८९) **प्रश्न– वेंकटमाधवाचार्य कौन थे ?**
उत्तर– वेंकटमाधवाचार्य सम्पूर्ण ऋग्वेद के भाष्यप्रणेता थे।

(९०) **प्रश्न– सामवेद के पदकार कौन थे ?**
उत्तर– सामवेद के पदकार गार्गी थे।

(९१) **प्रश्न– शाकल्य कौन है ?**
उत्तर– महर्षि शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठकर्त्ता हैं।

(९२) **प्रश्न– तैत्तिरीय संहिता के पदपाठक कौन है ?**
उत्तर– तैत्तिरीय संहिता के पदपाठक का नाम 'आत्रेय' है।

(९३) **प्रश्न– माधव का जनक (पिता) कौन है ?**
उत्तर– नारायण।

(९४) **प्रश्न– हलायुधकृत भाष्य का क्या नाम है ?**
उत्तर– हलायुधकृत भाष्य का नाम 'ब्रह्मणसर्वस्वम्' है।

(९५) **प्रश्न– अनन्ताचार्य का जन्म कहाँ हुआ था ?**
उत्तर– काशी में।

(९६) **प्रश्न– तैत्तिरीय संहिता का वृत्तिकार कौन है ?**
उत्तर– कुण्डिन।

(९७) **प्रश्न– सायणाचार्य ने सर्वप्रथम किस वेद पर भाष्य लिखा है ?**
उत्तर– सायणाचार्य ने सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद के ऊपर भाष्य लिखा है।

(९८) **प्रश्न– सायणाचार्यकृत भाष्य का नाम क्या है ?**
उत्तर– सायणाचार्यकृत भाष्य का नाम 'वेदार्थप्रकाश' है।

(९९) **प्रश्न– सायणाचार्यकृत अन्तिम भाष्य कौन है ?**
उत्तर– अथर्ववेदसंहिता के ऊपर है।

(१००) **प्रश्न– ऋग्वैदिक देवताओं की संख्या कितनी है ?**
उत्तर– ऋग्वैदिक देवताओं की संख्या ३३ है।

(१०१) **प्रश्न– ऋग्वेद में 'असुर' शब्द किसके लिए प्रयुक्त हुआ है ?**
उत्तर– देवता के लिए।

(१०२) **प्रश्न– 'ऊरुक्रम' किसे कहा जाता है ?**
उत्तर– विष्णु को।

(१०३) प्रश्न– विष्णु का निवासस्थान कहाँ है ?
उत्तर– द्युलोक में।

(१०४) प्रश्न– 'जातवेदाः' किसे कहा जाता है ?
उत्तर– अग्निदेव को।

(१०५) प्रश्न– 'शतक्रतु' विशेषण वाला देवता कौन है ?
उत्तर– इन्द्र।

(१०६) प्रश्न– 'उरुगाय' की उपाधि वाला कौन देवता है ?
उत्तर– विष्णु।

(१०७) प्रश्न– 'धृतव्रत' शब्द किस देवता की उपाधि है ?
उत्तर– वरुण की।

(१०८) प्रश्न– 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयना मृतं मर्त्यं च' किस देवता से सम्बद्ध है ?
उत्तर– सविता से।

(१०९) प्रश्न– ऋग्वेद के नवम मण्डल से सम्बद्ध देवता कौन है ?
उत्तर– सोम।

(११०) प्रश्न– 'पुरोहित' किसे कहा गया है ?
उत्तर– 'अग्नि' को।

(१११) प्रश्न– यास्क ने कितने प्रकार के देवता माने हैं ?
उत्तर– तीन प्रकार के।

(११२) प्रश्न– तिलक के मत में इन्द्र किसका प्रतीक है ?
उत्तर– सूर्य का द्योतक है।

(११३) प्रश्न– मरुतों का पिता कौन है ?
उत्तर– अग्नि।

(११४) प्रश्न– 'पवमान' उपाधिवाला देवता कौन है ?
उत्तर– सोम।

(११५) प्रश्न– वृद्ध को युवा बनाने वाला देवता कौन है ?
उत्तर– अश्विनी कुमार।

(११६) प्रश्न– 'गायत्री मन्त्र' के उपास्य देवता कौन हैं ?
उत्तर– 'सविता'।

(११७) प्रश्न– नैरुक्त मत में देवता कितने प्रकार के होते हैं ?
उत्तर– तीन प्रकार के।

(११८) प्रश्न– वज्र किसका आयुध है ?
उत्तर– इन्द्र का।

(११९) प्रश्न– सोम से पूर्ण होने पर किसके पेट की तुलना झील से की गई है ?
उत्तर– इन्द्र के पेट की।

(१२०) प्रश्न– पर्वतों के पंखों को किसने काटा था ?
उत्तर– इन्द्र ने।

(१२१) प्रश्न– सविता किस समय को कहते हैं ?
उत्तर– सूर्योदय से पूर्व को।

(१२२) प्रश्न– खोई हुई वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसकी स्तुति की जाती है ?
उत्तर– पूषन् की।

(१२३) प्रश्न– ऋतुओं का नियामक किसे कहते हैं ?
उत्तर– वरुण को।

(१२४) प्रश्न– सोमरस किसको स्फूर्तिमय बनाती है ?
उत्तर– वाक्शक्ति को।

(१२५) प्रश्न– अग्नि देवता का सम्बन्ध किससे है ?
उत्तर– पृथ्वीलोक से।

(१२६) प्रश्न– अग्नि का किस ऋतु से सम्बन्ध है ?
उत्तर– वसन्त से।

(१२७) प्रश्न– सूर्य का लोक किसे कहा गया है ?
उत्तर– द्युलोक को।

(१२८) प्रश्न– अग्नि का यज्ञकाल कब है ?
उत्तर– प्रातःकाल।

(१२९) प्रश्न– सूर्य का किस ऋतु से सम्बन्ध है ?
उत्तर– वर्षा से।

(१३०) प्रश्न– ऋग्वेद में देवियों की संख्या कितनी है ?
उत्तर– तैंतीस।

(१३१) प्रश्न– ऋग्वेद में भयंकर रुद्र के रूप में किसे माना गया है ?
उत्तर– शिव को।

(१३२) प्रश्न– किस देवता को कठोर न्यायाधीश माना गया है ?
उत्तर– वरुण को।

(१३३) प्रश्न– विष्णुसूक्त के ऋषि कौन हैं ?
उत्तर– दीर्घतमा।

(१३४) प्रश्न– पुरुषसूक्त में कौन छन्द है ?
उत्तर– अनुष्टुप् छन्द।

(१३५) प्रश्न– स्वर्ग का दूध किसे कहा जाता है ?

उत्तर– सोमरस को।

(१३६) प्रश्न– श्येन द्वारा पृथ्वी पर किसे लाया गया?
उत्तर– सोमरस को।

(१३७) प्रश्न– क्षेत्रपति देवता किसकी रक्षा करते हैं?
उत्तर– खेत की।

(१३८) प्रश्न– 'अष्टक्रम' वाल वेद कौन है?
उत्तर– ऋग्वेद।

(१३९) प्रश्न– पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की शाखायें कितनी हैं?
उत्तर– २१।

(१४०) प्रश्न– ज्योतिष के आधार पर वैदिक तिथि निर्धारित करने वाला विद्वान् कौन है?
उत्तर– लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।

(१४१) प्रश्न– यजुर्वेद का प्रतिपाद्य क्या है?
उत्तर– कर्मकाण्ड।

(१४२) प्रश्न– अथर्ववेद में मन्त्रों की संख्या कितनी है?
उत्तर– ५९८।

(१४३) प्रश्न– जैमिनीय शाखा किस वेद से सम्बन्ध है?
उत्तर– सामवेद से।

(१४४) प्रश्न– व्याकरण महाभाष्य के अनुसार सामवेद की शाखायें कितनी हैं?
उत्तर– ८५।

(१४५) प्रश्न– ब्रह्मा से सम्बन्ध रखने वाला वेद कौन-सा है?
उत्तर– अथर्ववेद।

(१४६) प्रश्न– 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' से सम्बद्ध वेद कौन है?
उत्तर– ऋग्वेद।

(१४७) प्रश्न– ऋग्वेद-सप्तम-मण्डल के ऋषि कौन हैं?
उत्तर– वशिष्ठ।

(१४८) प्रश्न– विन्टरनित्स ने ऋग्वेद का समय कब माना है?
उत्तर– ३५०० वी०सी०।

(१४९) प्रश्न– वेदों में प्रयुक्त सबसे प्रमुख छन्द कौन है?
उत्तर– गायत्री।

(१५०) प्रश्न– वेदों में स्वर कितने प्रकार के होते हैं?
उत्तर– तीन।

(१५१) प्रश्न– सामवेद की प्रतिष्ठा क्या है?

उत्तर– गान।

(१५२) प्रश्न– नारदीय शिक्षा के अनुसार सामगान से सम्बन्धित स्वरों की संख्या कितनी है ?

उत्तर– सात।

(१५३) प्रश्न– अथर्ववेद संहिता का नाम किस ऋषि के नाम पर पड़ा है ?

उत्तर– अथर्वा।

(१५४) प्रश्न– अथर्ववेद को और किस नाम से जाना जाता है ?

उत्तर– ब्रह्मवेद।

(१५५) प्रश्न– आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार अथर्ववेद में मन्त्रों की संख्या कितनी है ?

उत्तर– ५९८७।

(१५६) प्रश्न– सम्पूर्ण अथर्ववेद में कुल काण्डों की संख्या कितनी है ?

उत्तर– २०।

(१५७) प्रश्न– 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' किस सूक्त से सम्बन्ध रखता है ?

उत्तर– पुरुषसूक्त से।

(१५८) प्रश्न– अरविन्द के अनुसार इन्द्र को प्रबुद्ध लोग क्या मानते हैं ?

उत्तर– देवता।

(१५९) प्रश्न– पाश्चात्य विद्वान् वेवर द्वारा मैत्रायणी संहिता को किस सन् में प्रकाशित किया गया ?

उत्तर– १८४७ ई० में।

(१६०) प्रश्न– काण्व शाखा का प्रकाशन वेवर ने कब कराया ?

उत्तर– सन् १८५२ ई० में।

(१६१) प्रश्न– कौथुम शाखा से सम्बन्धित वेद कौन है ?

उत्तर– सामवेद।

(१६२) प्रश्न– गोपथ ब्राह्मण की गणना किस वेद में होती है ?

उत्तर– अथर्ववेद में।

(१६३) प्रश्न– ऐतरेय ब्राह्मण कितने अध्यायों में विभक्त है ?

उत्तर– ४०।

(१६४) प्रश्न– शांखायन ब्राह्मण में कितने अध्याय हैं ?

उत्तर– ३०।

(१६५) प्रश्न– सबसे अर्वाचीन ब्राह्मणग्रन्थ कौन-सा है ?

उत्तर– गोपथ।

(१६६) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण किस विशेषता के कारण प्रचलित है ?
उत्तर– १०० अध्यायों के कारण।

(१६७) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण का रचयिता कौन है ?
उत्तर– याज्ञवल्क्य ऋषि।

(१६८) प्रश्न– 'चरैवेति' यह प्रसिद्ध वाक्यांश किस ब्राह्मण से सम्बद्ध है ?
उत्तर– ऐतरेय ब्राह्मण से।

(१६९) प्रश्न– कौषीतकि ब्राह्मण में कितने अध्याय हैं ?
उत्तर– ३० अध्याय।

(१७०) प्रश्न– तैत्तिरीय आरण्यक में कितने परिच्छेद हैं ?
उत्तर– १० परिच्छेद।

(१७१) प्रश्न– सर्वप्रथम यज्ञोपवीत का निर्देश किस आरण्यक में किया गया है ?
उत्तर– तैत्तिरीय आरण्यक में।

(१७२) प्रश्न– आरण्यकरूपी पुष्प की सुगन्ध किसे कहा गया है ?
उत्तर– उपनिषद् को।

(१७३) प्रश्न– वेद के अन्तिम भाग को क्या कहा जाता है ?
उत्तर– वेदान्त।

(१७४) प्रश्न– उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
उत्तर– माया।

(१७५) प्रश्न– ह्यूम के द्वारा कितने उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद किया गया है ?
उत्तर– १३ उपनिषदों का।

(१७६) प्रश्न– वेदान्त के सिद्धान्तों पर आधारित उपनिषद् कितने हैं ?
उत्तर– २४।

(१७७) प्रश्न– योग के सिद्धान्तों पर आधारित उपनिषद् कितने हैं ?
उत्तर– २०।

(१७८) प्रश्न– ईशावास्योपनिषद् में मार्मिक विवेचन क्या है ?
उत्तर– कर्मोपासना।

(१७९) प्रश्न– 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' यह किस उपनिषद् का मन्त्र है ?
उत्तर– कठोपनिषद् का।

(१८०) प्रश्न– नचिकेता के पिता ने किस यज्ञ का आयोजन किया था ?
उत्तर– विश्वजीत यज्ञ का।

(१८१) प्रश्न– 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह महावाक्य किस उपनिषद् से सम्बद्ध है ?
उत्तर– छान्दोग्योपनिषद् से।

(१८२) प्रश्न– 'तत्त्वमसि' महावाक्य किस उपनिषद् से सम्बन्धित है ?

उत्तर– छान्दोग्योपनिषद् से।

(१८३) प्रश्न– 'सत्यमेव जयते' किस उपनिषद् से उद्धृत है ?
उत्तर– मुण्डकोपनिषद् से।

(१८४) प्रश्न– 'रसौ वै सः' किस उपनिषद् का मन्त्र है ?
उत्तर– तैत्तिरीय उपनिषद् का।

(१८५) प्रश्न– 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' किस उपनिषद् का मन्त्र है ?
उत्तर– वृहदारण्यक का।

(१८६) प्रश्न– वेदों के स्वरूप को जानने में सहायक वस्तु का नाम क्या है ?
उत्तर– वेदाङ्ग।

(१८७) प्रश्न– वेदाङ्गों की शैली क्या है ?
उत्तर– सूत्रशैली।

(१८८) प्रश्न– उपलब्ध शिक्षाग्रन्थों की संख्या कितनी है ?
उत्तर– ३४।

(१८९) प्रश्न– षोडश संस्कार किसके विषय हैं ?
उत्तर– गृह्यसूत्र के।

(१९०) प्रश्न– यास्ककृत निरुक्त कितने अध्याय में विभक्त है ?
उत्तर– १४।

(१९१) प्रश्न– निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
उत्तर– वर्णागम।

(१९२) प्रश्न– 'वेद' पुरुष के पाद के रूप में किसे स्वीकार किया गया है ?
उत्तर– छन्द को।

(१९३) प्रश्न– आचार्य पिङ्गल का छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ कौन है ?
उत्तर– छन्दःसूत्र।

(१९४) प्रश्न– त्रिष्टुप् छन्द में अक्षरों की संख्या कितनी है ?
उत्तर– ४४ अक्षर।

(१९५) प्रश्न– छन्दःसूत्र कितने अध्यायों में विभक्त है ?
उत्तर– आठ अध्यायों में।

●

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(१) प्रश्न– प्राचीनतम वेद कौन है ?

(क) यजुर्वेद (ग) ऋग्वेद
(ख) सामवेद (घ) अथर्ववेद

(२) प्रश्न– वैदिक साहित्य का विभाजन कितने भागों में किया गया है ?

(क) चार भागों में (ग) पाँच भागों में
(ख) दो भागों में (घ) तीन भागों में.

(३) प्रश्न– वेदों में केवल छन्दों का प्रयोग हुआ है ?

(क) वर्णिक (ग) दोनों प्रकार के
(ख) मात्रिक (घ) इनमें से कोई नहीं

(४) प्रश्न– वेदों में प्रयुक्त सबसे प्रमुख छन्द हैं ?

(क) अनुष्टुप् (ग) जगती
(ख) गायत्री (घ) त्रिष्टुप्

(५) प्रश्न– यास्क ने कितने प्रकार के देवता माने हैं ?

(क) तीन (ग) चार
(ख) दो (घ) तैंतीस

(६) प्रश्न– यास्क द्वारा निर्धारित देवताओं में कौन नहीं है ?

(क) अग्नि (ग) वरुण
(ख) इन्द्र (घ) सूर्य

(७) प्रश्न– 'घृतमुखं' किस देवता को कहा गया है ?

(क) इन्द्र (ग) वरुण
(ख) अग्नि (घ) सूर्य

(८) प्रश्न– 'जातवेद' किसका निर्वचन है ?

(क) अग्नि (ग) उषस्
(ख) सूर्य (घ) इन्द्र

(९) प्रश्न– अन्तरिक्ष स्थान के प्रमुख देवता कौन हैं ?

(क) अग्नि (ग) इन्द्र
(ख) सूर्य (घ) वायु

(१०) प्रश्न– सोम से पूर्ण होने पर किसके पेट की तुलना क्षील से की गयी है ?

(क) अग्नि के (ग) सूर्य के
(ख) इन्द्र के (घ) पुरुष के

(११) प्रश्न– केवल वज्र किसका आयुध है ?
(क) इन्द्र का (ग) वरुण का
(ख) सोम का (घ) अग्नि का

(१२) प्रश्न– 'सोमपावन' किस देवता की उपाधि है ?
(क) इन्द्र की (ग) वायु की
(ख) पुरुष की (घ) उषस् की

(१३) प्रश्न– वृत्र-वध के समय इन्द्र ने सोम के कितेन झीलों का पानी पिया था ?
(क) तीन झीलों का (ग) चार झीलों का
(ख) दो झीलों का (घ) पाँच झीलों का

(१४) प्रश्न– 'शतक्रतु' उपाधि किसके लिए प्रसिद्ध है ?
(क) वायु (ग) इन्द्रं
(ख) अग्नि (घ) वरुण

(१५) प्रश्न– पर्वतों के पंखों को किसने काटा था ?
(क) अग्नि ने (ग) वायु ने
(ख) इन्द्र ने (घ) वरुण ने

(१६) प्रश्न– 'मघवन्' किस देवता की उपाधि है ?
(क) इन्द्र की (ग) उषस् की
(ख) सविता की (घ) रुद्र की

(१७) प्रश्न– 'वसुपति' किसे कहा गया है ?
(क) इन्द्र को (ग) पृथ्वी को
(ख) वरुण को (घ) उषस् को

(१८) प्रश्न– मरुतों का पिता कौन है ?
(क) रुद्र (ग) अग्नि
(ख) विष्णु (घ) इन्द्र

(१९) प्रश्न– 'सविता' किसे कहते हैं ?
(क) सूर्योदय से पूर्व को (ग) दोपहर को
(ख) सूर्योदय के बाद को (घ) सूर्यास्त के बाद को

(२०) प्रश्न– उषस् का ऋग्वेद में कितनी बार उल्लेख है ?
(क) ४०० बार (ग) १७० बार
(ख) ३०० बार (घ) २०० बार

(२१) प्रश्न– पूषन् के रथ को कौन खींचता है ?
(क) अश्व (ग) अजाश्व
(ख) गज (घ) बैल

(२२) प्रश्न– खोई हुई वस्तु प्राप्त करने के लिए किसकी स्तुति की जाती है ?
(क) इन्द्र की (ग) अग्नि की

(ख) वरुण की (घ) पूषन् की

(२३) प्रश्न– ऋतुओं का नियामक किसे कहा जाता है ?
(क) वरुण को (ग) वायु को
(ख) इन्द्र को (घ) पूषन् को

(२४) प्रश्न– सोमरस से स्फूर्तिमय बनती है ?
(क) वाक्शक्ति (ग) पादशक्ति
(ख) प्राणशक्ति (घ) हस्तशक्ति

(२५) प्रश्न– अग्नि देवता का सम्बन्ध किससे है ?
(क) द्युलोक से (ग) अन्तरिक्ष से
(ख) पृथ्वीलोक से (घ) चन्द्रलोक से

(२६) प्रश्न– अग्नि का किस ऋतु से सम्बन्ध है ?
(क) वसन्त से (ग) ग्रीष्म से
(ख) हेमन्त से (घ) वर्षा से

(२७) प्रश्न– इन्द्र का लोक किसे कहा गया है ?
(क) पृथ्वी को (ग) द्युलोक को
(ख) अन्तरिक्ष को (घ) भूलोक को

(२८) प्रश्न– सूर्य का लोक किसे कहा गया है ?
(क) द्युलोक को (ग) अन्तरिक्ष को
(ख) पृथ्वी को (घ) पाताल को

(२९) प्रश्न– अग्नि का यज्ञ-काल क्या है ?
(क) प्रातः (ग) सायं
(ख) मध्याह्न (घ) रात्रि

(३०) प्रश्न– सूर्य का किस ऋतु से सम्बन्ध है ?
(क) वसन्त से (ग) ग्रीष्म से
(ख) वर्षा से (घ) हेमन्त से

(३१) प्रश्न– सूर्य से सम्बद्ध देवता कौन है ?
(क) चन्द्रमा (ग) सोम
(ख) अग्नि (घ) इन्द्र

(३२) प्रश्न– ऋग्वेद में देवताओं की संख्या कितनी है ?
(क) ११ (ग) ३३
(ख) ३ (घ) ३०

(३३) प्रश्न– ऋग्वेद में भयंकर रुद्र के रूप में किसे माना गया है ?
(क) शिव को (ग) कुमार को
(ख) पार्वती को (घ) किसी को नहीं

(३४) प्रश्न– किस देवता को कठोर न्यायाधीश माना गया है ?

(क) इन्द्र को (ग) अग्नि को
(ख) वरुण को (घ) वायु को

(३५) प्रश्न– ऋग्वेद कितने मण्डलों में विभक्त है ?
(क) ८ (ग) ७
(ख) १० (घ) ११

(३६) प्रश्न– ऋग्वेद में कितनी ऋचायें हैं ?
(क) १०५३२ (ग) १०५५०
(ख) १०५५२ (घ) १००००

(३७) प्रश्न– ऋग्वेद में कितने सूक्त हैं ?
(क) १०२८ (ग) १०३०
(ख) १०१५ (घ) १०५०

(३८) प्रश्न– ऋग्वेद में 'असुर' शब्द किसके लिए प्रयुक्त हुआ है ?
(क) देवता (ग) याज्ञिक
(ख) ऋषि (घ) ईश्वर

(३९) प्रश्न– 'उरुक्रम' किसे कहा जाता है ?
(क) विष्णु (ग) सविता
(ख) रुद्र (घ) उषस्

(४०) प्रश्न– विष्णु का निवास-स्थान कहाँ है ?
(क) अन्तरिक्ष (ग) पाताल लोक
(ख) द्युलोक (घ) पृथ्वीलोक

(४१) प्रश्न– 'घृत' किस देव का प्रिय भोजन है ?
(क) वरुण (ग) अग्नि
(ख) इन्द्र (घ) वाक्

(४२) प्रश्न– 'उरुगाय' किसे कहा गया है ?
(क) इन्द्र (ग) वरुण
(ख) विष्णु (घ) अग्नि

(४३) प्रश्न– रोगों का नियामक देव किसे माना गया है ?
(क) इन्द्र (ग) रुद्र
(ख) वरुण (घ) विष्णु

(४४) प्रश्न– मरुत् किसका पुत्र है ?
(क) इन्द्र (ग) अग्नि
(ख) रुद्र (घ) वरुण

(४५) प्रश्न– 'आघृणि' किस देवता का विशेषण है ?
(क) पूषन् (ग) उषस्
(ख) इन्द्र (घ) अग्नि

(४६) प्रश्न– 'जातवेदा' किसे कहा जाता है ?
(क) वरुण (ग) अग्नि
(ख) इन्द्र (घ) वायु

(४७) प्रश्न– इन्द्रसूक्त किस छन्द में है ?
(क) त्रिष्टुप् (ग) जगती
(ख) अनुष्टुप् (घ) अन्य

(४८) प्रश्न– विष्णुसूक्त का ऋषि कौन है ?
(क) दीर्घतमा (ग) नारायण
(ख) हिरण्यस्तूप (घ) हिरण्यगर्भ

(४९) प्रश्न– पुरुषसूक्त में कौन छन्द है ?
(क) जगती (ग) त्रिष्टुप्
(ख) अनुष्टुप् (घ) गायत्री

(५०) प्रश्न– यजुर्वेद कितने भागों में विभक्त है ?
(क) दो भागों में (ग) पाँच भागों में
(ख) तीन भागों में (घ) चार भागों में

(५१) प्रश्न– वाजसनेयी संहिता में मन्त्रों की संख्या कितनी है ?
(क) १९७५ (ग) २०००
(ख) २०८६ (घ) २००५

(५२) प्रश्न– काण्व संहिता में मन्त्रों की संख्या कितनी है ?
(क) २०८६ (ग) १९००
(ख) १९७५ (घ) १९०५

(५३) प्रश्न– मैत्रायणी संहिता में कुल मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) २१४४ (ग) २०००
(ख) २२४४ (घ) २१००

(५४) प्रश्न– सामवेद के पूर्वार्चिक में मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) ६५० (ग) ८२५
(ख) १२२५ (घ) ९००

(५५) प्रश्न– सामवेद के उत्तरार्चिक में मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) १२२५ (ग) ६५०
(ख) ८२५ (घ) ९२५

(५६) प्रश्न– गायत्री मन्त्र का उपास्य देवता कौन है ?
(क) रुद्र (ग) अग्नि
(ख) सविता (घ) विष्णु

(५७) प्रश्न– 'मधु' से किनका घनिष्ठ सम्बन्ध है ?
(क) वरुण (ग) इन्द्र

(ख) अश्विनीकुमार (घ) सोम

(५८) प्रश्न– सूर्य की पत्नी, माता अथवा बहन किसे कहा गया है ?

(क) सोम (ग) उषस्

(ख) चन्द्रमा (घ) वरुण

(५९) प्रश्न– स्वर्ग का दूध किसे कहा गया है ?

(क) इन्द्र (ग) रुद्र

(ख) सोम (घ) उषस्

(६०) प्रश्न– श्येन द्वारा पृथ्वी पर किसे लाया गया था ?

(क) रुद्र (ग) सोम

(ख) इन्द्र (घ) उषस्

(६१) प्रश्न– वेदपुरुष का मुख किसे कहा गया है ?

(क) कल्प (ग) व्याकरण

(ख) छन्द (घ) शिक्षा

(६२) प्रश्न– वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय क्या था ?

(क) व्यापार (ग) पशुपालन

(ख) कृषि (घ) अध्यापन

(६३) प्रश्न– इन्द्र किसका रक्षक है ?

(क) ब्राह्मण का (ग) सोमरस निकालने वाले का

(ख) वैश्य का (घ) योद्धा का

(६४) प्रश्न– पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की शाखायें कितनी हैं ?

(क) २२ (ग) २१

(ख) ११ (घ) २५

(६५) प्रश्न– वेदों में स्वर कितने प्रकार के हैं ?

(क) तीन (ग) छः

(ख) चार (घ) पाँच

(६६) प्रश्न– 'संहिता' शब्द किसका बोधक है ?

(क) योग (ग) संकलन

(ख) विनियोग (घ) साहित्य

(६७) प्रश्न– ऋग्वेद का अधिकतम प्रचलित विभाजन किया गया है ?

(क) अष्टक, अध्याय वर्ग और मन्त्र (ग) अध्याय, वर्ग और मन्त्र

(ख) मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र (घ) इनमें से कोई नहीं

(६८) प्रश्न– ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मन्त्रों की संख्या कितनी है ?

(क) १०५५२ (ग) २००६

(ख) १०५३२ (घ) १०२८

(६९) प्रश्न– वशिष्ठ ऋषि का किस मण्डल से सम्बन्ध है ?

(क) सप्तम (ग) प्रथम
(ख) अष्टम (घ) चतुर्थ

(७०) प्रश्न– ऋग्वेद के दशम मण्डल में मन्त्रों की संख्या कितनी है ?
(क) ११०८ (ग) २००६
(ख) १७५४ (घ) १७१६

(७१) प्रश्न– ऋग्वेद के किन मण्डलों की संख्या समान हैं ?
(क) प्रथम एवं दशम (ग) नवम एवं तृतीय की
(ख) चतुर्थ एवं अष्टम की (घ) पञ्चम एवं षष्ठ की

(७२) प्रश्न– ऋग्वेदीय पशुओं में सर्वोत्तम स्थान किसका है ?
(क) बैल (ग) भेड़
(ख) गाय (घ) बकरी

(७३) प्रश्न– सामवेद का ऋत्विक कौन है ?
(क) होता (ग) अध्वर्यु
(ख) ब्रह्मा (घ) उद्गाता

(७४) प्रश्न– यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करने वाला क्या कहलाता था ?
(क) ब्रह्मा (ग) होता
(ख) अध्वर्यु (घ) उद्गाता

(७५) प्रश्न– ज्योतिष के आधार पर वैदिक तिथि निर्धारित करने वाला विद्वान् कौन है ?
(क) मैक्समूलर (ग) लोकमान्य तिलक
(ख) मैक्डोनल (घ) विण्टर नित्स

(७६) प्रश्न– यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
(क) ज्ञान (ग) गान
(ख) स्तुति (घ) कर्मकाण्ड

(७७) प्रश्न– 'समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः' किस वेद का अन्तिम मन्त्र है ?
(क) यजुर्वेद (ग) अथर्ववेद
(ख) सामवेद (घ) ऋग्वेद

(७८) प्रश्न– ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल का मन्त्रद्रष्टा ऋषि कौन है ?
(क) अत्रि (ग) विश्वामित्र
(ख) वामदेव (घ) भरद्वाज

(७९) प्रश्न– ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का ऋषि कौन है ?
(क) भरद्वाज (ग) वशिष्ठ
(ख) अत्रि (घ) वामदेव

(८०) प्रश्न– 'सामन्' का क्या अर्थ है ?

(क) पठन (ग) गान
(ख) नृत्य (घ) शिक्षा

(८१) प्रश्न– सामवेद की प्रतिष्ठा है ?
(क) पठन में (ग) विद्या में
(ख) गान में (घ) कवित्व में

(८२) प्रश्न– पतञ्जलि के अनुसार सामवेद की कितनी शाखायें हैं ?
(क) १००० (ग) ९५०
(ख) ८०० (घ) ९९०

(८३) प्रश्न– सामवेद की मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) २००६ (ग) १८७५
(ख) १९७५ (घ) १८८६

(८४) प्रश्न– ब्रह्मप्राप्ति का साधन क्या है ?
(क) भक्ति (ग) उपासना
(ख) ज्ञान (घ) योग

(८५) प्रश्न– सामवेदीय मन्त्रों के ऊपर दिये गये १ का अर्थ क्या है ?
(क) स्वरित स्वर (ग) अनुदात्त स्वर
(ख) उदात्त स्वर (घ) ह्रस्व स्वर

(८६) प्रश्न– नारदीय शिक्षा के अनुसार सामगानसम्बन्धी स्वरों का संख्या कितनी है ?
(क) ३ (ग) २१
(ख) ७ (घ) ४९

(८७) प्रश्न– शिवसंकल्पसूक्त किस वेद से सम्बद्ध है ?
(क) कृष्णयजुर्वेद (ग) सामवेद
(ख) शुक्लयजुर्वेद (घ) ऋग्वेद

(८८) प्रश्न– अथर्ववेद संहिता का नाम किस ऋषि के नाम पर पड़ा है ?
(क) कण्व ऋषि (ग) अथर्वा ऋषि
(ख) कश्यप ऋषि (घ) अगस्त्य ऋषि

(८९) प्रश्न– अथर्ववेद को और किस नाम से जाना जाता है ?
(क) धनुर्वेद (ग) शिल्प
(ख) ब्रह्मवेद (घ) आयुर्वेद

(९०) प्रश्न– अथर्ववेद का ऋत्विक कौन है ?
(क) ब्रह्मा (ग) अग्नि
(ख) इन्द्र (घ) वरुण

(९१) प्रश्न– अथर्ववेद का देवता कौन है ?
(क) सोम (ग) विष्णु
(ख) चन्द्रमा (घ) उषा

(९२) प्रश्न– बलदेव उपाध्याय के अनुसार अथर्ववेद में कुल मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) ५८४९ (ग) ५९८७
(ख) ५९०० (घ) ५९५०

(९३) प्रश्न– सम्पूर्ण अथर्ववेद में कुल कितने काण्ड हैं ?
(क) २५ (ग) ३०
(ख) २० (घ) १२०

(९४) प्रश्न– 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' किस सूक्त से सम्बद्ध है ?
(क) नासदीय सूक्त (ग) उषस् सूक्त
(ख) पुरुषसूक्त (घ) पृथ्वीसूक्त

(९५) प्रश्न– 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इस मन्त्रांश का ऋषि कौन है ?
(क) नारायण (ग) कण्वपुत्र प्रगाथ
(ख) वशिष्ठ (घ) हिरण्यगर्भ

(९६) प्रश्न– त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में कितने वर्ण होते हैं ?
(क) ८ (ग) ११
(ख) १२ (घ) १०

(९७) प्रश्न– इन्द्र को प्राण का प्रतीक कौन मानते हैं ?
(क) दयानन्द (ग) मैकडोनल
(ख) पीटर्सन (घ) सायण

(९८) प्रश्न– 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' किस वेद से सम्बन्धित है ?
(क) कृष्ण यजुर्वेद (ग) ऋग्वेद
(ख) शुक्ल यजुर्वेद (घ) सामवेद

(९९) प्रश्न– अरविन्द के अनुसार इन्द्र प्रबुद्ध मन के हैं ?
(क) राक्षस (ग) देवता
(ख) मक्र (घ) ऋषि

(१००) प्रश्न– अरविन्द के अनुसार वृत्र किसका प्रतीक है ?
(क) ज्ञान का (ग) धर्म का
(ख) अज्ञान का (घ) अधर्म का

(१०१) प्रश्न– पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने मैत्रायणी संहिता को किस सन् में प्रकाशित कराया ?
(क) सन् १९४७ में (ग) सन् १८७१ में
(ख) सन् १८४७ में (घ) सन् १९१० में

(१०२) प्रश्न– काण्वशाखा का प्रकाशन वेबर ने कब कराया ?
(क) सन् १८५२ में (ग) सन् १८५५ में
(ख) सन् १८४७ में (घ) सन् १९०५ में

(१०३) प्रश्न– ह्विटनी ने अथर्ववेदीय शौनकीय शाखा का प्रकाशन कब कराया ?

(क) सन् १८५६ में (ग) सन् १९०१ में
(ख) सन् १९५६ में (घ) सन् १८६० में

(१०४) प्रश्न– बाल गंगाधर तिलक ने वेद का रचनाकाल कब माना है ?
(क) ६००० से ४००० ई.पू. (ग) ५००० से ३००० ई.पू.
(ख) ५००० से ४००० ई.पू. (घ) ६००० से ५००० ई.पू.

(१०५) प्रश्न– मैक्समूलर ने वेद का रचनाकाल कब माना है ?
(क) ई.पू. १२०० (ग) ई.पू. ११००
(ख) ई.पू. १००० (घ) ई.पू. ९००

(१०६) प्रश्न– याकोबी के अनुसार ऋग्वेद की रचना कब हुई ?
(क) ४५०० ई.पू. (ग) ४००० ई.पू.
(ख) ५००० ई.पू. (घ) ३००० ई.पू.

(१०७) प्रश्न– ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा किस गुण से युक्त है ?
(क) माधुर्य (ग) ओज
(ख) प्रसाद (घ) मन्त्र

(१०८) प्रश्न– ऋग्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या कितनी है ?
(क) दो (ग) पाँच
(ख) चार (घ) तीन

(१०९) प्रश्न– यजुर्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या कितनी है ?
(क) एक (ग) चार
(ख) दो (घ) पाँच

(११०) प्रश्न– सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या कितनी है ?
(क) दो (ग) नौ
(ख) चार (घ) तीन

(१११) प्रश्न– अथर्ववेदीय ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या कितनी है ?
(क) एक (ग) चार
(ख) तीन (घ) पाँच

(११२) प्रश्न– ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध किससे है ?
(क) सामवेद (ग) यजुर्वेद
(ख) ऋग्वेद (घ) कृष्णयजुर्वेद

(११३) प्रश्न– तैत्तिरीय ब्राह्मण का सम्बन्ध किससे है ?
(क) यजुर्वेद (ग) सामवेद
(ख) कृष्णयजुर्वेद (घ) ऋग्वेद

(११४) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण का किससे सम्बन्ध है ?
(क) शुक्लयजुर्वेद (ग) सामवेद
(ख) कृष्णयजुर्वेद (घ) अथर्ववेद

(११५) प्रश्न– जैमिनीय ब्राह्मण का सम्बन्ध किससे है ?
(क) ऋग्वेद (ग) अथर्ववेद
(ख) सामवेद (घ) यजुर्वेद

(११६) प्रश्न– गोपथ ब्राह्मण की गणना किससे होती है ?
(क) सामवेद से (ग) यजुर्वेद से
(ख) अथर्ववेद से (घ) ऋग्वेद से

(११७) प्रश्न– ऋग्वेद का प्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थ कौन है ?
(क) ऐतरेय (ग) शतपथ
(ख) शांखायन (घ) गोपथ

(११८) प्रश्न– ऐतरेय ब्राह्मण कितने अध्यायों में विभक्त है ?
(क) ४० (ग) ३५
(ख) ५० (घ) ३०

(११९) प्रश्न– शांखायन ब्राह्मण में कितने अध्याय हैं ?
(क) ४० (ग) २५
(ख) ३० (घ) ३५

(१२०) प्रश्न– सबसे अर्वाचीन ब्राह्मणग्रन्थ कौन है ?
(क) ऐतरेय (ग) शतपथ
(ख) गोपथ (घ) ताण्ड्य

(१२१) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण का रचयिता कौन है ?
(क) कण्व ऋषि (ग) याज्ञवल्क्य ऋषि
(ख) दुर्वासा ऋषि (घ) इनमें से कोई नहीं

(१२२) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण नाम प्रचलित है ?
(क) १०१ अध्यायों के कारण (ग) १०५ अध्यायों के कारण
(ख) १०० अध्यायों के कारण (घ) ९८ अध्यायों के कारण

(१२३) प्रश्न– तैत्तिरीय ब्राह्मण का सम्बन्ध किससे है ?
(क) सामवेद (ग) कृष्णयजुर्वेद
(ख) अथर्ववेद (घ) शुक्लयजुर्वेद

(१२४) प्रश्न– ताण्ड्य शाखा के किस ब्राह्मण को महाब्राह्मण कहते हैं ?
(क) पञ्चविंश ब्राह्मण (ग) वंश ब्राह्मण
(ख) दैवत (घ) जैमिनीय

(१२५) प्रश्न– कौषीतकि ब्राह्मण में कितने अध्याय हैं ?
(क) ४० (ग) २५
(ख) ३० (घ) ४५

(१२६) प्रश्न– माध्यन्दिन शाखा शतपथ ब्राह्मण में कुल कितने काण्ड हैं ?
(क) ४० (ग) २०

(ख) १४ (घ) २५

(१२७) प्रश्न– शतपथ ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ से सम्बन्ध किस काण्ड का है ?
(क) प्रथम (ग) द्वितीय
(ख) चतुर्थ (घ) पञ्चम

(१२८) प्रश्न– आर्षेय ब्राह्मण में कितने प्रपाठक हैं ?
(क) ४ (ग) ३
(ख) ५ (घ) १०

(१२९) प्रश्न– पूर्व और उत्तर द्विविध विभाग वाला ब्राह्मणग्रन्थ कौन है ?
(क) शतपथ (ग) ऐतरेय
(ख) गोपथ (घ) ताण्ड्य

(१३०) प्रश्न– सायण के अनुसार जंगल में जो पढ़े-पढ़ाये जायँ वे क्या हैं ?
(क) वेद (ग) उपनिषद्
(ख) आरण्यक (घ) ब्राह्मणग्रन्थ

(१३१) प्रश्न– आरण्यक ग्रन्थों का सम्बन्ध किससे है ?
(क) ब्रह्मचारियों से (ग) वानप्रस्थियों से
(ख) गृहस्थों से (घ) संन्यासियों से

(१३२) प्रश्न– ऐतरेय आरण्यक किस ब्राह्मणग्रन्थ का अवशिष्ट भाग है ?
(क) तैत्तिरीय (ग) ऐतरेय ब्राह्मण
(ख) ताण्ड्य (घ) कौषीतकि ब्राह्मण

(१३३) प्रश्न– ऋग्वेदीय आरण्यक ग्रन्थ कितने हैं ?
(क) २ (ग) १
(ख) ४ (घ) ५

(१३४) प्रश्न– ऐतरेय आरण्यक में कितने अध्याय हैं ?
(क) ४ (ग) १८
(ख) ५ (घ) १०

(१३५) प्रश्न– शांखायन आरण्यक की अध्यायसंख्या कितनी है ?
(क) १० (ग) २०
(ख) १५ (घ) १८

(१३६) प्रश्न– कृष्णयजुर्वेदीय आरण्यकों की संख्या कितनी है ?
(क) २ (ग) ५
(ख) ४ (घ) ८

(१३७) प्रश्न– तैत्तिरीय आरण्यक में कितने परिच्छेद हैं ?
(क) १० (ग) १२
(ख) १५ (घ) ५

(१३८) प्रश्न– सर्वप्रथम यज्ञोपवीत का निर्देश किस आरण्यक में है ?

(क) तैत्तिरीय (ग) वृहदारण्यक
(ख) शांखायन (घ) नारायणीय

(१३९) प्रश्न– मैत्रायणीय आरण्यक में कितने प्रपाठक हैं ?
(क) ५ (ग) १०
(ख) ७ (घ) ८

(१४०) प्रश्न– सामवेदीय आरण्यकों की संख्या कितनी है ?
(क) २ (ग) ५
(ख) ४ (घ) ८

(१४१) प्रश्न– अथर्ववेदीय आरण्यकों की संख्या कितनी है ?
(क) २ (ग) १
(ख) ४ (घ) कोई नहीं

(१४२) प्रश्न– आरण्यकरूपी पुष्प का सुगन्ध किसको कहा गया है ?
(क) ब्राह्मणग्रन्थ (ग) उपनिषद्
(ख) आरण्यक ग्रन्थ (घ) संहिता

(१४३) प्रश्न– उपनिषद् को किसका अन्तिम भाग कहा गया है ?
(क) वेद का (ग) वेदान्त का
(ख) वेदाङ्ग का (घ) दर्शन का

(१४४) प्रश्न– उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
(क) उपासना (ग) माया
(ख) तप (घ) विद्या

(१४५) प्रश्न– ह्यूम के द्वारा कितने उपनिषदों का अंग्रेजी-अनुवाद किया गया है ?
(क) १२ (ग) १५
(ख) १३ (घ) २०

(१४६) प्रश्न– प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १० (ग) १०८
(ख) ११ (घ) २००

(१४७) प्रश्न– वेदों के अनुसार उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १० (ग) ११
(ख) १०८ (घ) २५०

(१४८) प्रश्न– ऋग्वेदीय उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १०८ (ग) ३२
(ख) १० (घ) १६

(१४९) प्रश्न– शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १० (ग) १९
(ख) ३२ (घ) ३१

(१५०) प्रश्न– कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १९ (ग) ३१
(ख) १० (घ) ३२

(१५१) प्रश्न– सामवेदीय उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १९ (ग) ३१
(ख) १६ (घ) ३२

(१५२) प्रश्न– अर्थववेदीय उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) २० (ग) १६
(ख) ३१ (घ) १७

(१५३) प्रश्न– वैष्णव सिद्धान्तों पर आधारित उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १४ (ग) १८
(ख) २० (घ) २४

(१५४) प्रश्न– वेदान्त के सिद्धान्त पर आधारित उपनिषद् कितने हैं ?
(क) २४ (ग) १४
(ख) २० (घ) १८

(१५५) प्रश्न– योग के सिद्धान्तों पर आधारित उपनिषद कितने हैं ?
(क) २० (ग) १४
(ख) २४ (घ) १८

(१५६) प्रश्न– सांख्य सिद्धान्तों पर निर्भर उपनिषदों की संख्या कितनी है ?
(क) १७ (ग) २४
(ख) २० (घ) १४

(१५७) प्रश्न– ईशावास्योपनिषद् माध्यन्दिन शाखा का कौन-सा अध्याय है ?
(क) ३५वाँ (ग) ४२वाँ
(ख) ४०वाँ (घ) ४४वाँ

(१५८) प्रश्न– ईशावास्योपनिषद् में कुल मन्त्रसंख्या कितनी है ?
(क) १५ (ग) १८
(ख) १० (घ) २०

(१५९) प्रश्न– ईशावास्योपनिषद् में मार्मिक विवेचन किसका है ?
(क) कर्मसंन्यास का (ग) कर्मपद्धति का
(ख) कर्मोपासना का (घ) उपासना का

(१६०) प्रश्न– कठोपनिषद् कितने अध्यायों में विभक्त है ?
(क) दो (ग) चार
(ख) तीन (घ) एक

(१६१) प्रश्न– कठोपनिष्द् के प्रथम अध्याय में कितनी वल्लियाँ हैं ?
(क) तीन (ग) पाँच

(ख) चार (घ) दो

(१६२) प्रश्न– केनोपनिषद् का दूसरा नाम क्या है ?

(क) तवल्कारोपनिषद् (ग) प्रश्नोपनिषद्

(ख) मुण्डकोपनिषद् (घ) इनमें से कोई नहीं

(१६३) प्रश्न– केनोपनिषद् कितने खण्डों में विभक्त है ?

(क) ४ (ग) २

(ख) ३ (घ) ५

(१६४) प्रश्न– 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्' किस उपनिषद् का मन्त्र है ?

(क) मुण्डक (ग) कठ

(ख) प्रश्न (घ) छान्दोग्य

(१६५) प्रश्न– नचिकेता के पिता ने किस यज्ञ का आयोजन किया था ?

(क) दर्श (ग) राजसूय

(ख) विश्वजित् (घ) सौत्रामणि

(१६६) प्रश्न– 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इस महाकाव्य का किससे सम्बन्ध है ?

(क) छान्दोग्य से (ग) केनोपनिषद् से

(ख) मुण्डकोपनिषद् से (घ) प्रश्नोपनिषद् से

(१६७) प्रश्न– 'तत्त्वमसि' महावाक्य किससे सम्बन्धित है ?

(क) कठ (ग) छान्दोग्य

(ख) वृहदारण्यक (घ) माण्डूक्य

(१६८) प्रश्न– 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस उपनिषद् में हुआ है ?

(क) छान्दोग्य (ग) मुण्डक

(ख) वृहदारण्यक (घ) केन

(१६९) प्रश्न– कौषीतकि उपनिषद् में कुल कितने अध्याय हैं ?

(क) ४ (ग) ७

(ख) ६ (घ) ८

(१७०) प्रश्न– 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।' यह किस उपनिषद् से सम्बन्धित है ?

(क) मुण्डक (ग) तैत्तिरीय

(ख) माण्डूक्य (घ) श्वेताश्वतर

(१७१) प्रश्न– 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' किस उपनिषद् का है ?

(क) वृहदारण्यकोपनिषद् (ग) प्रश्नोपनिषद्

(ख) छान्दोग्योपनिषद् (घ) तैत्तिरीयोपनिषद्

(१७२) प्रश्न– 'असतो मा सद्गमय' किस उपनिषद् का वचन है ?

(क) वृहदारण्यक (ग) मुण्डक

(ख) छान्दोग्य (घ) माण्डूक्य

(१७३) प्रश्न– 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह महावाक्य किस उपनिषद् में पाया जाता है ?
(क) छान्दोग्य (ग) तैत्तिरीय
(ख) वृहदारण्यक (घ) केनोपनिषद्

(१७४) प्रश्न– मुण्डकोपनिषद् कुल कितने मुण्डकों में विभक्त है ?
(क) ३ (ग) ६
(ख) ४ (घ) ८

(१७५) प्रश्न– 'द्वा सुपर्णा सयुजा' मन्त्र किस उपनिषद् से सम्बन्धित है ?
(क) मुण्डकोपनिषद् (ग) प्रश्नोपनिषद्
(ख) केनोपनिषद् (घ) छान्दोग्योपनिषद्

(१७६) प्रश्न– मुण्डकोपनिषद् किन व्यक्तियों से सम्बद्ध है ?
(क) जटाधारी व्यक्तियों से (ग) ब्रह्मचारियों से
(ख) मुण्डनसम्पन्न व्यक्तियों से (घ) गृहस्थियों से

(१७७) प्रश्न– 'ओंकार' की मार्मिक व्याख्या किसमें की गई है ?
(क) माण्डूक्योपनिषद् (ग) कठोपनिषद्
(ख) मुण्डकोपनिषद् (घ) केनोपनिषद्

(१७८) प्रश्न– माण्डूक्योपनिषद् के कुल कितने खण्ड हैं ?
(क) १२ (ग) १५
(ख) १४ (घ) १०

(१७९) प्रश्न– छान्दोग्योपनिषद् में कुल कितने अध्याय हैं ?
(क) ४ (ग) ८
(ख) ५ (घ) १०

(१८०) प्रश्न– वृहदारण्यकोपनिषद् कुल अध्यायों में विभक्त है ?
(क) ५ (ग) ४
(ख) ६ (घ) २

(१८१) प्रश्न– शैव धर्म का प्रतिपादक कौन उपनिषद् है ?
(क) श्वेताश्वतरोपनिषद् (ग) ईशोपनिषद्
(ख) मुण्डकोपनिषद् (घ) केनोपनिषद्

(१८२) प्रश्न– मैत्रायणी उपनिषद् कुल कितने प्रपाठकों में विभक्त है ?
(क) ५ (ग) ८
(ख) ७ (घ) १०

(१८३) प्रश्न– 'सत्यमेव जयते' किस उपनिषद् से उद्धृत है ?
(क) माण्डूक्योपनिषद् (ग) छान्दोग्योपनिषद्
(ख) मुण्डकोपनिषद् (घ) वृहदारण्यकोपनिषद्

(१८४) प्रश्न– 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' किस उपनिषद् का मन्त्र है ?

(क) वृहदारण्यक (ग) श्वेताश्वतर
(ख) छान्दोग्य (घ) माण्डूक्य

(१८५) प्रश्न– 'रसो वै सः' किस उपनिषद् से सम्बद्ध है ?
(क) मुण्डक (ग) केन
(ख) कठ (घ) तैत्तिरीय

(१८६) प्रश्न– उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर फारसी भाषा में कब हुआ ?
(क) १५वीं सदी में (ग) १७वीं सदी में
(ख) १६वीं सदी में (घ) १८वीं सदी में

(१८७) प्रश्न– वेदाङ्गों की संख्या कितनी है ?
(क) ४ (ग) ८
(ख) ६ (घ) १०८

(१८८) प्रश्न– 'परिषद्' उपाधि वाला शिक्षाग्रन्थ कौन है ?
(क) ऋक्प्रातिशाख्य (ग) सामप्रातिशाख्य
(ख) तैत्तिरीयप्रातिशाख्य (घ) अथर्व प्रातिशाख्य

(१८९) प्रश्न– 'नारदशिक्षा' किस वेद का ग्रन्थ है ?
(क) अथर्ववेद (ग) ऋग्वेद
(ख) सामवेद (घ) यजुर्वेद

(१९०) प्रश्न– उपलब्ध शिक्षाग्रन्थों की संख्या कितनी हैं ?
(क) ३५ (ग) ३४
(ख) ४० (घ) ३६

(१९१) प्रश्न– श्रौतसूत्रों का वर्ण्य विषय क्या है ?
(क) संस्कार (ग) वैदिक यज्ञ
(ख) आश्रमकर्त्तव्य (घ) यज्ञवेदी-निर्माण

(१९२) प्रश्न– षोडश संस्कार किसके विषय है ?
(क) धर्मसूत्र के (ग) श्रौतसूत्र के
(ख) गृह्यसूत्र के (घ) शुल्बसूत्र के

(१९३) प्रश्न– व्याकरण-वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ कौन है ?
(क) अष्टाध्यायी (ग) सिद्धान्तकौमुदी
(ख) काशिका (घ) इनमें से कोई नहीं

(१९४) प्रश्न– अष्टाध्यायी कुल कितने अध्यायों में विभक्त है ?
(क) आठ (ग) दस
(ख) सात (घ) पाँच

(१९५) प्रश्न– यास्ककृत निरुक्त में कितने अध्याय हैं ?
(क) १४ (ग) १०
(ख) १६ (घ) ८

(१९६) प्रश्न– निघण्टु में कितने अध्याय हैं ?
(क) ५ (ग) ८
(ख) ४ (घ) ६

(१९७) प्रश्न– निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
(क) वर्णागम (ग) प्रत्ययज्ञान
(ख) उच्चारण (घ) छन्दज्ञान

(१९८) प्रश्न– धर्मसूत्रों में कौन प्राचीनतम माना जाता है ?
(क) आपस्तम्ब (ग) हारीत
(ख) बोधायन (घ) गौतम

(१९९) प्रश्न– वेदपुरुष के पादरूप में किसे स्वीकार किया गया है ?
(क) कल्प (ग) छन्द
(ख) व्याकरण (घ) शिक्षा

(२००) प्रश्न– छन्दःसूत्र में कितने अध्याय हैं ?
(क) ८ (ग) ५
(ख) ७ (घ) ४

(२०१) प्रश्न– त्रिष्टुप् छन्द में अक्षरों की संख्या कितनी है ?
(क) ३२ (ग) ४०
(ख) ३६ (घ) ४४

(२०२) प्रश्न– रोगनाशक विधियों का वर्णन किसमें है ?
(क) गृह्यसूत्र में (ग) धर्मसूत्र में
(ख) श्रौतसूत्र में (घ) पाणिनीय सूत्र में

(२०३) प्रश्न– शुल्बसूत्र का वर्ण्य विषय क्या है ?
(क) वर्ण (ग) धर्म
(ख) आश्रम (घ) यज्ञवेदी-निर्माणविधि

(२०४) प्रश्न– मैकडानल ने किन सूत्रों को गणितशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ माना है ?
(क) श्रौतसूत्र (ग) धर्मसूत्र
(ख) शुल्बसूत्र (घ) गृह्यसूत्र

उत्तरमाला

१. ग
२. क
३. क
४. ख
५. क
६. ग
७. ख
८. क
९. ग
१०. ख
११. क
१२. क
१३. क
१४. ग
१५. ख
१६. क
१७. क
१८. क
१९. क
२०. ख
२१. ग
२२. ग
२३. क
२४. क
२५. ख
२६. क
२७. ख
२८. क
२९. क
३०. ख
३१. क
३२. ग
३३. क
३४. ख
३५. ख
३६. ख
३७. क
३८. क
३९. क
४०. क
४१. ग
४२. ख
४३. ग
४४. ख
४५. क
४६. ग
४७. क
४८. क
४९. ख
५०. क
५१. क
५२. क
५३. क
५४. क
५५. क
५६. ख
५७. ख
५८. ग
५९. ख
६०. ग
६१. ग
६२. ख
६३. ग
६४. ग
६५. क
६६. ग
६७. ख
६८. ग
६९. क
७०. ख
७१. क
७२. ख
७३. घ
७४. ख
७५. ग
७६. घ
७७. घ
७८. ख
७९. ग
८०. ग
८१. ख
८२. क
८३. ग
८४. ग
८५. ख
८६. ख
८७. ख
८८. ग
८९. ख
९०. क
९१. क
९२. ग
९३. ख
९४. ख
९५. क
९६. ग
९७. क
९८. ग
९९. ग
१००. ख
१०१. ख
१०२. क
१०३. ख
१०४. क
१०५. क
१०६. क
११७. ख
१०८. क
१०९. ख
११०. ग
१११. क
११२. ख
११३. ख
११४. क
११५. ख
११६. ख
११७. क
११८. क
११९. ख
१२०. ख
१२१. ग
१२२. ख
१२३. ग
१२४. क

१२५. ख
१२६. ख
१२७. ग
१२८. ग
१२९. ख
१३०. ख
१३१. ग
१३२. ग
१३३. क
१३४. घ
१३५. ख
१३६. क
१३७. क
१३८. क
१३९. ख
१४०. क
१४१. घ
१४२. ग
१४३. ग
१४४. ग
१४५. ख
१४६. ख
१४७. ख
१४८. ख
१४९. ग
१५०. ग
१५१. ख
१५२. ख
१५३. क
१५४. क
१५५. क
१५६. क
१५७. ख
१५८. ग
१५९. ख
१६०. क
१६१. क
१६२. क
१६३. क
१६४. ग
१६५. ख
१६६. क
१६७. ग
१६८. ग
१६९. क
१७०. ग
१७१. क
१७२. क
१७३. ग
१७४. क
१७५. क
१७६. ख
१७७. क
१७८. क
१७९. ग
१८०. ख
१८१. क
१८२. ख
१८३. ख
१८४. ग
१८५. घ
१८६. ग
१८७. ख
१८८. क
१८९. ख
१९०. ग
१९१. ग
१९२. ख
१९३. क
१९४. क
१९५. ग
१९६. क
१९७. क
१९८. घ
१९९. ग
२००. क
२०१. घ
२०२. क
२०३. घ
२०४. ख

भारतीय दर्शन

Indian Philosophy

प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय दर्शन का प्रामा[illegible]क नवीन [illegible]

डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र

प्रस्तुत पुस्तक के विषय-प्रतिपादन की शैली भारतीय [illegible] के [illegible]लिक ग्रन्थों के अनेक वर्षों के गहन अध्ययन पर आधारित है । इसे विविध [illegible] सम्प्र[illegible] के आलोचन-प्रत्यालोचन, अवलोकन-विवेचन और मूल्यांकन में सर्वत्र पक्षपातशून्य तटस्थता [illegible] की चेष्टा की गयी है । साथ ही इनके साम्प्रदायिक, रहस्यात्मक, गूढ़, दुरूह और जटिल विषयों को यथामति सर्वत्र सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है ।

(1-2 भाग सम्पूर्ण)

भारतीय संस्कृति

लेखक-डॉ. दीपक कुमार

प्राक्कथन लेखक-डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

भारतीय संस्कृति हम भारतीयों को हमारी सांस्कृतिक सम्पदा को समझने हेतु पाठकों तथा समीक्षकों के समक्ष प्रस्तुत है । प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय सामाजिक संस्थाओं की अविच्छिन्न परम्परा को दर्शाने का प्रयास किया गया है, जो सत्य, त्याग, तप, दया, दान एवं धर्ममूलक अर्थ काम एवं मोक्ष पर आधृत है। हमारा विपुल संस्कृत वाङ्मय संतुलित समन्वयकारी, सत्य, सनातन एवं अमर जीवन प्रदान करने वाली भारतीय संस्कृति का संरक्षक रहा है। जिन संस्कृत वाङ्मयों के माध्यम से हम भारत के गौरवपूर्ण अतीत और हमारे देश के प्राण-तत्त्व रूप भारतीय संस्कृति को समझते हैं उन संस्कृत वाङ्मय से प्रसङ्गानुकूल यथा संभव उद्धरण लिए गए हैं तथा उनके अवलोकन के आधार पर भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है । साथ ही, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इन सामाजिक संस्थाओं की उपादेयता या प्रासङ्गिकता को दर्शाने का प्रयास किया गया है ।

भारतीय संस्कृति के व्यापक आयाम में जो कुछ भी विवेच्य, प्रमेय तथा अनुसन्धेय है उसके मुख्य उपादान इस ग्रन्थ में पर्याप्त मौलिक प्रमाणों के साथ आ गये हैं। वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, नारियों की स्थिति, विवाह तथा शिक्षा जैसे सामान्य सांस्कृतिक उपादानों पर तो स्वतन्त्र अध्याय इस पुस्तक में हैं ही, कुछ अभिनव पक्षों पर भी प्रस्तुत पुस्तक में गम्भीर विवेचन किया है जैसे आर्ष महाकाव्यों में विवेचित तात्कालिक संस्कृति, पुराण-कालीन संस्कृति, प्राचीन भारत में अध्यात्म और धर्म की चेतना । अन्त में भारतीय संस्कृति में यज्ञ की महत्ता पर स्वतन्त्र अध्याय देकर इसका गम्भीर एवं व्यापक विवेचन किया गया है ।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-वाराणसी